अथ चतुर्थं मण्डलम्

प्रथमोऽनुवाकः

१. [प्रथमं सूक्तम्]

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—स्वराडतिशक्वरी ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

'समन्यु देवों का प्रभु दर्शन'

त्वां ह्यग्ने सदमित्समन्यवो देवासो देवमरतिं न्येरिर इति क्रत्वा न्येरिरे।
अमर्त्यं यजत मर्त्येष्वा देवमादेवं जनत प्रचेतसं विश्वमादेवं जनत प्रचेतसम्॥ १ ॥

(१) हे **अग्ने**=परमात्मन्! **त्वां हि**=आप को निश्चय से **सदम् इत्**=सदा ही **समन्यवः**=ज्ञान से युक्त **देवासः**=देववृत्ति के पुरुष **नि एरिरे**=अपने अन्दर प्रेरित करते हैं। **देवम्**=प्रकाशमय **अ-रतिम्**=संसार में अनासक्त आपको देव अपने अन्दर प्रेरित करते हैं **इति**=इसलिए हम यज्ञशील पुरुष **क्रत्वा**=यज्ञों के द्वारा **न्येरिरे**=आपको अपने अन्दर प्रेरित करने का प्रयत्न करते हैं। (२) हे मनुष्यो! **मर्त्येषु**=मनुष्यों में **आ-देवम्**=समन्तात् प्रकाश को करनेवाले **अमर्त्यम्**=उस अमरणधर्मा प्रभु को **यजत**=तुम पूजनेवाले बनो। **आदेवम्**=उस समन्तात् दीप्तिवाले **प्रचेतसम्**=प्रकृष्ट ज्ञानवाले प्रभु को **जनत**=ध्यान आदि के द्वारा अपने अन्दर आभिर्भूत करो। **विश्वम्**=उस सर्वत्र प्रविष्ट-सर्वव्यापक **आदेवम्**=सर्वतो दीप्तिमान् **प्रचेतसम्**=प्रकर्षेण चेतानेवाले प्रभु को **जनत**=अपने हृदयों में आविर्भूत करो।

भावार्थ—हम प्रभु के प्रकाश को अपने हृदयों में अनुभव करने का प्रयत्न करें। इसके लिये 'स्वाध्याय की प्रवृत्तिवाले देव' बनने का प्रयत्न करें।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—अग्निर्वा वरुणश्च ॥ छन्दः—अतिजगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

प्रभुप्राप्ति के पात्र

स भ्रातरं वरुणमग्न आ ववृत्स्व देवाँ अच्छा सुमती यज्ञवनसं ज्येष्ठं यज्ञवनसम्।
ऋतावानमादित्यं चर्षणीधृतं राजानं चर्षणीधृतम् ॥ २ ॥

(१) हे **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! **सः**=वे आप **आववृत्स्व**=आभिमुख्येन प्राप्त हों। उस व्यक्ति को प्राप्त हों जो कि **भ्रातरम्**=अपने कर्त्तव्यभार को सम्यक् उठाता है (विभर्ति)। **वरुणम्**=जो यथाशक्ति अपने को पाप से बचाता है (पापात् निवारयति)। **सुमती**=कल्याणीमति के द्वारा **देवान् अच्छा**=दिव्यगुणों की ओर चलता है। **यज्ञवनसम्**=जो यज्ञों का सेवन करता है। **ज्येष्ठम्**=जो सर्वोत्तम (the most generous) दाता है, ऊर्ध्वादिक् का अधिमति बृहस्पति बनता है और **यज्ञवनसम्**=यज्ञ का सेवन करनेवाला होता है, देवों का पूजन करनेवाला होता है। (२) हे प्रभो! आप उस व्यक्ति को प्राप्त होते हो जो कि **ऋतावानम्**=जीवन में ऋत का पालन करता है, सब कार्यों को ठीक समय पर करता है। **आदित्यम्**=आदान की वृत्तिवाला होता है, सब स्थानों से अच्छाइयों का ग्रहण करता है। **चर्षणीधृतम्**=मनुष्यों का धारण करता है, अर्थात् सदा धारणात्मक कर्मों में प्रवृत्त होता है। **राजानम्**=ज्ञान से दीप्त होता है (राजृ दीप्तौ) अथवा अपना शासक बनता

है, इन्द्रियों, मन व बुद्धि को अपने अधीन करता है और **चर्षणीधृतम्**=सब का धारण करनेवाला होता है 'सर्वभूतहिते रतः'।

भावार्थ—प्रभु उस व्यक्ति को प्राप्त होते हैं जो कि (क) कर्तव्यभार का वहन करता है, (ख) पाप से अपने को बचाता है, (ग) कल्याणीमति के द्वारा दिव्यगुणों की ओर चलता है, (घ) यज्ञों का सेवन करनेवाला होता है, (ङ) सर्वोत्तम बनने का प्रयत्न करता है, (च) व्यवस्थित जीवनवाला होता है, (छ) अच्छाइयों का ग्रहण करता है, (ज) मनुष्यों का धारण करनेवाला होता है, (झ) ज्ञानदीप्त व अपना शासक बनता है।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—अग्निर्वा वरुणश्च॥ छन्दः—अष्टि॥ स्वरः—मध्यमः॥

'वरुण-मरुत् व विश्वभानु' का आनन्द

सखे सखायमभ्या ववृत्स्वाशुं न चक्रं रथ्येव रंह्यास्मभ्यं दस्म रंह्या।
अग्ने मृळीकं वरुणे सचा विदो मरुत्सु विश्वभानुषु।
तोकाय तुजे शुशुचान शं कृध्यस्मभ्यं दस्म शं कृधि॥ ३॥

(१) हे **सखे**=सबके मित्र प्रभो! **न**=जैसे **आशुं चक्रम्**=शीघ्रगामी रथ को **रंह्या**=तीव्र गति में उत्तम अश्व लक्ष्य देश की ओर प्राप्त कराते हैं, उसी प्रकार **सखायं अभि**=मुझ मित्र की ओर **आववृत्स्व**=आवृत्त होइये। हे **दस्म**=सब दुःखों का उपक्षय करनेवाले प्रभो! **अस्मभ्यम्**=हमारे लिये **रंह्या**=गति में उत्तम इन्द्रियाश्वों को (आववृत्स्व) प्राप्त कराइये। (२) हे **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! **वरुणे**=पाप से निवारण करनेवाले में **सचा**=समवेत होकर रहनेवाले **मृडीकम्**=सुख को **विदः**=प्राप्त कराइये। मुझे वह सुख प्राप्त कराइये, जो कि निष्पाप व्यक्ति के जीवन में (वरुण में) होता है। जो सुख **मरुत्सु**=प्राणसाधकों में होता है तथा **विश्वभानुषु**=व्यापक ज्ञान दीप्तिवालों में होता है, उस सुख को हमें प्राप्त कराइये। (२) हे **शुशुचान**=अत्यन्त दीप्त व पवित्र प्रभो! **तोकाय**=हमारे सन्तानों के लिये **तुजे**=पौत्रों के लिये **शंकृधि**=शान्ति को करिये। उनके जीवन नीरोगता आदि के कारण सुखी हों, हे **दस्म**=दुःखों का उपक्षय करनेवाले प्रभो! **अस्यभ्यम्**=हमारे लिये **शं कृधि**=शान्ति को करिये।

भावार्थ—हमें प्रभु की प्राप्ति हो। प्रभु हमें उत्तम इन्द्रियाश्वों को प्राप्त करायें। हमें वह सुख प्राप्त हो जो कि निष्पाप जीवनवाले को, प्राणसाधक को तथा व्यापक ज्ञानदीप्तिवाले को प्राप्त होता है। हमारे सन्तानों व हमारे लिये शान्ति को प्राप्त कराइये।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—अग्निर्वा वरुणश्च॥ छन्दः—भुरिक्पङ्क्तिः॥ स्वरः—पञ्चमः॥

वरुण देव के निरादर का अपगमन

त्वं नो अग्ने वरुणस्य विद्वान्देवस्य हेळोऽव यासिसीष्ठाः।
यजिष्ठो वह्नितमः शोशुचानो विश्वा द्वेषांसि प्र मुमुग्ध्यस्मत्॥ ४॥

(१) हे **अग्ने**=परमात्मन्! **विद्वान्**=सर्वज्ञ आप **वरुणस्य देवस्य**=पाप निवारक देव सम्बन्धी **नः**=हमारे **हेडः**=अनादर के भाव को **अवयासिसीष्ठाः**=पृथक् करिये। हम पापनिवारक देव के पूजन को करते हुए निष्पाप बनने का प्रयत्न करें (२) **यजिष्ठः**=हे प्रभो! आप पूज्यतम हो, **वह्नितमः**=हमारे सब कार्यों का वहन करनेवाले आप ही हैं 'अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च'। **शोशुचानः**=आप ज्ञानदीप्त हैं, पवित्र हैं। आप **अस्मत्**=हमारे से भी **विश्वा**=सब **द्वेषांसि**=द्वेष की भावनाओं को **प्रभुमुग्धि**=प्रकर्षेण पृथक् करिये। ईर्ष्या-द्वेष-क्रोध से ऊपर उठकर हम निष्पाप

जीवनवाले बनें। निष्पाप जीवनवाला बनना ही 'वरुण देव का पूजन' है।

भावार्थ—प्रभु कृपा से हम पाप निवारक देव का अनादर न करें। ईर्ष्या-द्वेष से दूर रहें।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—स्वराट्पङ्क्तिः॥ स्वरः—पञ्चमः॥

प्रभु की समीपता

स त्वं नो अग्नेऽवमो भवोती नेदिष्ठो अस्या उषसो व्युष्टौ।
अव यक्ष्व नो वरुणं रराणो वीहि मृळीकं सुहवो न एधि॥ ५॥

(१) हे **अग्ने**=परमात्मन्! **स त्वम्**=वह आप **नः**=हमारे **अवमः**=अन्तिकतम **भव**=हों, हमारे अत्यन्त समीप होइये। **ऊती**=रक्षण के द्वारा, **अस्याः उषसः व्युष्टौ**=इस उषा के उदित होने पर **नेदिष्ठः**=अत्यन्त समीप होइये। (२) **नः**=हमारे लिये **वरुणम्**=पापनिवारण को **रराणः**=देते हुए आप **अवयक्ष्व**=सब पापों को हमारे से पृथक् करिये। **मृडीकम्**=सुख को **वीहि**=प्राप्त कराइये। **नः**=हमारे लिये **सुहवः**=सुगमता से पुकारने योग्य **एधि**=होइये। हम सुगमता से आपका आराधन कर सकें, आपके समीप उपस्थित होकर जहाँ सुखों का याचन कर सकें वहाँ आपकी उपासना में निष्पाप भी बने रहें।

भावार्थ—प्रभु के हम समीप हों ताकि सदा निष्पाप व सुखी जीवनवाले बने रहें।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—भुरिक्पङ्क्तिः॥ स्वरः—पञ्चमः॥

'सुभग देव' की चित्रतमा संदृग्

अस्य श्रेष्ठा सुभगस्य सन्दृग्देवस्य चित्रतमा मर्त्येषु।
शुचि घृतं न तप्तमघ्न्यायाः स्पार्हा देवस्य मंहनेव धेनोः॥ ६॥

(१) **अस्य**=इस **सुभगस्य**=उत्तम ऐश्वर्यवाले **देवस्य**=प्रकाशमय प्रभु की **संदृक्**=दृष्टि **श्रेष्ठा**=सर्वोत्तम है यह **मर्त्येषु**=मनुष्यों में **चित्रतमा**=अद्भुत ज्ञान को देनेवाली है (चित्+र)। प्रभु की कृपादृष्टि होने पर हमारा जीवन श्रेष्ठ व प्रकाशमय बनता है। (२) इसलिए **देवस्य**=उस प्रकाशमय प्रभु की दृष्टि इस प्रकार **स्पार्हा**=स्पृहणीय (चाहने योग्य) है, **न**=जैसे कि **अध्यायाः**=अहन्तव्या गौ का **तप्तम्**=तपाया हुआ **शुचि**=पवित्र **घृतम्**=घृत स्पृहणीय होता है। अथवा **इव**=जैसे **धेनोः**=गौ के **मंहना**=दुग्ध के दान स्पृहणीय होते हैं वस्तुतः गोघृत व गोदुग्ध अमृत के समान है। उसी प्रकार प्रभु की दृष्टि हमें अमर बनानेवाली है। इस दृष्टि के होने पर हमारा जीवन भी 'सुभग व देवत्ववाला' होता है।

भावार्थ—प्रभु की दृष्टि हमें अद्भुत ज्ञान प्राप्त कराती है। वह तपे हुए परिशुद्ध गोघृत के समान है, धेनु के दुग्ध दान के समान है।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

त्रिविध ज्ञान

त्रिरस्य ता परमा सन्ति सत्या स्पार्हा देवस्य जनिमान्यग्नेः।
अनन्ते अन्तः परिवीत आगाच्छुचिः शुक्रो अर्यो रोरुचानः॥ ७॥

(१) **अस्य देवस्य**=इस प्रकाशमय **अग्नेः**=अग्रणी प्रभु के **ता**=वे **परमा**=सर्वोत्कृष्ट या 'परः मीयते यैः' प्रभु का ज्ञान देनेवाले **त्रिः**=तीन 'ऋग्-यजु-साम' रूप **सत्या**=सत्य **स्पार्हा**=स्पृहणीय **जनिमानि**=प्रादुर्भाव हैं। हृदय में स्थित हुए-हुए वे प्रकाशमय प्रभु 'ऋग्-यजु-साम' रूप वाणियों

का प्रकाश करते हैं। ये ज्ञान सत्य हैं, उत्कृष्ट हैं। अन्ततः प्रभु का ज्ञान देनेवाले हैं, प्रभु के साक्षात्कार में सहायक हैं। इन ज्ञानों के देनेवाले प्रभु देव हैं, प्रकाशमय हैं, अग्नि हैं, अग्रणी हैं। हमें भी इन ज्ञानों के द्वारा वे 'देव व अग्नि' बनाते हैं। (२) **अनन्ते अन्तः परिवीतः**=इस अनन्त ज्ञान में संवृत हुआ-हुआ, अर्थात् जिसने इस अनन्त ज्ञान को अपना वस्त्र बनाया है, वह व्यक्ति **आगत्**=समन्तात् क्रियाशील होता है **शुचिः**=पवित्र जीवनवाला होता है, **शुक्रः**=ज्ञान से दीप्त होता है, **अर्यः**=अपना स्वामी बनता है, **रोरुचानः**=तेजस्विता के कारण खूब दीप्त होता है। प्रभु का दिया हुआ ज्ञान जब हमारा आच्छादन बनता है, तब हम शरीर में तेजस्वी, मन में पवित्र तथा बुद्धि में ज्ञानदीप्त होते हैं।

भावार्थ—प्रभु का तीन प्रकार का ज्ञान हमें त्रिविध उन्नति को प्राप्त कराके प्रभु के समीप प्राप्त कराता है।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

रमणीय जीवन

स दूतो विश्वेदभि वष्टि सद्मा होता हिरण्यरथो रंसुजिह्वः।
रोहिदश्वो वपुष्यो विभावा सदा रण्वः पितुमतीव संसत्॥ ८॥

(१) **सः**=वह **दूतः**=ज्ञान-सन्देश को देनेवाला प्रभु **विश्वा इत्**=सब ही **सद्मा**=गृहों को **अभिवष्टि**=चाहता है, अर्थात् 'प्रभु किसी घर को प्यार करें, किसी को नहीं' ऐसी बात नहीं है। यह ठीक है कि उस प्रभु से दिये जानेवाले ज्ञान को कोई सुनता है और कोई नहीं। (२) जो सुनता है, वह **होता**=दानपूर्वक अदन की वृत्तिवाला बनता है। **हिरण्यरथः**=ज्योतिर्मय रथवाला होता है। **रंसुजिह्वः**=रमणीय जिह्वावाला होता है, सदा मधुर शब्द बोलता है। यह व्यक्ति **रोहिदश्वः**=प्रवृद्ध शक्तिवाले इन्द्रियाश्वोंवाला होता है। **वपुष्यः**=उत्तम शरीरवाला, **विभावा**=विशिष्ट ज्ञान दीप्तिवाला सदा **एवः**=यह सदा रमणीय होता है। इस प्रकार रमणीय जीवनवाला होता है **इव**=जैसे कि **पितृमती**=अन्नवाला **संसत्**=घर। अन्न से परिपूर्ण गृह सदा सुन्दर लगता है। इसी प्रकार इसका जीवन भी सदा सुन्दर होता है।

भावार्थ—प्रभु हमें प्यार करते हुए वेदज्ञान देते हैं। यदि इस ज्ञान को हम सुनते हैं तो हमारा जीवन अत्यन्त रमणीय बनता है।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

स-धनित्व

स चेतयन्मनुषो यज्ञबन्धुः प्र तं मह्या रशनया नयन्ति।
स क्षेत्यस्य दुर्यासु साधन्देवो मर्तस्य सधनित्वमाप॥ ९॥

(१) **सः**=वह **मनुषः**=मनुष्यों को **चेतयत्**=चेतना प्राप्त कराता है, ज्ञान देता है। **यज्ञबन्धुः**=वे प्रभु यज्ञों के द्वारा हृदय देश में बद्ध होते हैं, अर्थात् यज्ञशील पुरुष प्रभु को हृदय में देखनेवाले बनते हैं। **तम्**=उस प्रभु को **मह्या**=अत्यन्त महत्त्वपूर्ण **रशनया**=मेखला से, कटिबद्धता से, दृढ़-निश्चय से **प्र नयन्ति**=प्राप्त कराते हैं। प्रभुप्राप्ति के लिये तीव्रतम कामनावाला पुरुष ही प्रभु को प्राप्त करता है। (२) **सः देवः**=वे प्रकाशमय प्रभु **साधन्**=इसके प्रयत्नों को सफल करते हुए **अस्य दुर्यासु**=इसके शरीर रूप गृहों में **क्षेति**=निवास करते हैं। वस्तुतः उस अन्तःस्थित प्रभु की कृपा से ही सब पुरुषार्थ सिद्ध होते हैं। ये प्रभु इस **मर्तस्य**=उपासक प्रभु के **सधनित्वम्**=साथ धनित्व

को **आप**=प्राप्त करते हैं, अर्थात् इस उपासक को भी वे ऐश्वर्यशाली बना देते हैं।

भावार्थ—दृढ़ कामना के होने पर प्रभु अवश्य प्राप्त होते हैं। यज्ञों के द्वारा वे उपासित होते हैं और ऐश्वर्य को प्राप्त कराते हैं। उपासक प्रभु के सधनित्य को प्राप्त करता है।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

देवों से सेवनीय रत्न

स तू नो अग्निर्नयतु प्रजानन्नच्छा रत्नं देवभक्तं यदस्य।
धिया यद्विश्वे अमृता अकृण्वन्द्यौष्पिता जनिता सत्यमुक्षन्॥ १०॥

(१) **सः**=वह **अग्निः**=अग्रणी प्रभु **तु**=निश्चय से **नः**=हमें **प्रजानन्**=प्रकर्षेण जानता हुआ **रत्नं अच्छा**=उस रत्न की ओर **नयतु**=ले चले **यद्**=जो **अस्य**=इसका **देवभक्तम्**=देवों से सम्भजनीय रत्न है। शरीर में सप्त धातुएँ ही 'सप्त रत्न' कहलाती हैं। विशेषकर अन्तिम धातु 'वीर्य' तो मणि नाम से ही प्रसिद्ध है। देव लोग इसे अपने अन्दर सुरक्षित रखते हैं। प्रभु कृपा से हम भी इसे अपने अन्दर सुरक्षित करनेवाले हों। (२) **यद्**=जिस रत्न को **विश्वे**=सब **अमृताः**=विषयों के पीछे न मरनेवाले लोग **धिया**=ज्ञानपूर्वक कर्मों के द्वारा **अकृण्वन्**=अपने अन्दर सम्पादित करते हैं। ज्ञानपूर्वक कर्मों में लगे रहना ही उस रत्न के सम्पादन का साधन बनता है। इन कर्मों में प्रवृत्ति मनुष्य को वासनाओं के आक्रमण से बचाती है और उसे इस रत्न (वीर्य) की रक्षा के योग्य करती है। (३) **द्यौः**=ज्ञान के प्रकाश से युक्त **पिता**=पिता व **जनिता**=माता (जनित्री) **सत्यम्**=इस सत्ता के कारणभूत सोमरूप रत्न को (वीर्य को) **उक्षन्**=शरीर में ही सिक्त करते हैं। माता-पिता जितना इस रत्न का रक्षण करते हैं, उतना ही उनके सन्तानों में भी इस रत्न के रक्षण का सम्भव होता है।

भावार्थ—प्रभु कृपा से हम देवों से सेवनीय वीर्यरूप रत्न को शरीर में ही सुरक्षित करें। ज्ञानी माता-पिता इस सत्य रत्न का अपने शरीरों में ही सेचन करते हुए सन्तानों को भी इसके रक्षण की प्रवृत्तिवाला बनायें।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

अनाद्यनन्त प्रभुरूप नीड

स जायत प्रथमः पस्त्यासु महो बुध्ने रजसो अस्य योनौ।
अपादशीर्षा गुहमानो अन्तायोयुवानो वृषभस्य नीळे॥ ११॥

(१) **सः**=वे प्रभु **प्रथमः**=अत्यन्त विस्तृत हैं, सर्वव्यापक हैं। **पस्त्यासु जायत**=सब प्रजाओं में उनका प्रादुर्भाव है। वे **महः रजसः**=इस महान् लोक समूह के **बुध्ने**=मूल में हैं, **अस्य**=इस लोक समूह का **योनौ**=योनि (उत्पत्ति-स्थान), प्रकृति में भी वे विद्यमान हैं। चराचर जगत् के अन्दर वे व्यापक हैं। (२) **अपात्**=वे पाँववाले नहीं। पाँव, अर्थात् अन्त, उस प्रभु का कोई अन्त नहीं। **अशीर्षा**=वे सिरवाले नहीं। सिर, अर्थात् आदि, उस प्रभु का कोई आदि नहीं। वे प्रभु अनन्त और अनादि हैं। **अन्ता गुहमानः**=इस संसार के आदि अन्त को अपने में संवृत कर रहे हैं। यह सारा ब्रह्माण्ड उस प्रभु के एक देश में ही तो है। वे प्रभु वृषभ हैं, सब पर सुखों का वर्षण करनेवाले व अनन्त शक्ति-सम्पन्न हैं उस **वृषभस्य**=शक्ति सम्पन्न अपने **नीडे**=घोंसले में **आयोयुवानः**=सब लोकों को परस्पर संबद्ध कर रहे हैं। सारे लोक उस प्रभुरूप नीड में ही निवास कर रहे हैं। वे प्रभु ब्रह्माण्ड के एक नीड हैं। हम सब का घर वे प्रभु ही हैं। एवं वे प्रभु हम सब के बन्धु हैं।

प्रभु भक्त इस बन्धुत्व का अनुभव करता है।

भावार्थ—प्रभु सब लोक-लोकान्तरों के मूल हैं। वे अनादि अनन्त प्रभु सब लोकों को अपने में समाये हुए हैं।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

'वपुष्यः विभावा'

प्र शर्ध॑ आर्त प्रथ॒मं वि॑प॒न्याँ ऋ॒तस्य॒ योना॑ वृ॒ष॒भस्य॑ नी॒ळे।
स्पा॒र्हो युवा॑ वपु॒ष्यो॑ वि॒भावा॑ स॒प्त प्रि॒यासो॑ऽजनयन्त॒ वृष्णे॑ ॥ १२ ॥

(१) **ऋतस्य योनाः**=ऋत के उत्पत्ति-स्थान प्रभु में, **वृषभस्य नीडे**=उस शक्तिशाली सुखवर्षक प्रभु के घोंसले में उपासक **विपन्या**=विशिष्ट स्तुति के द्वारा **प्रथमं शर्धः**=उत्कृष्ट बल को **प्र आर्त**=प्रकर्षेण प्राप्त करता है। वस्तुतः जब एक उपासक प्रभु को ऋत के उत्पत्ति-स्थान के रूप में स्मरण करता है, तो वह ऋत के अनुसार ही आचरण करनेवाला बनता है, सब क्रियाओं को बड़ी नियमितता के साथ करता है। प्रभु को 'वृषभ' के रूप में सोचता हुआ स्वयं भी शक्तिशाली व औरों पर सुख वर्षण करनेवाला बनने के लिये यत्नशील होता है। इस प्रकार जीवन की साधना करता हुआ यह प्रकृष्ट बल को प्राप्त करता है। (२) **स्पार्हः युवा**=यह स्पृहणीय युवक बनता है। सब बुराइयों को अपने से दूर करता हुआ और अच्छाइयों को अपने से मिलाता हुआ यह युवा सचमुच स्पृहणीय जीवनवाला होता है। **वपुष्यः**=उत्तम शरीरवाला व **विभावा**=विशिष्ट दीप्तिवाला बनता है। देखने योग्य सुन्दर सशक्त शरीरवाला होता है और मस्तिष्क को ज्ञान-ज्योति से द्योतित किये हुए होता है। (२) इसके **सप्त**='कर्णाविमौ नासिके चक्षणी मुखम्'=सातों कान आदि इन्द्रियरूप होता **वृष्णे**=उस शक्तिशाली सुख वर्षक प्रभु के लिये **अजनयन्त**=स्तोत्रों को प्रादुर्भूत करते हैं। इसके सातों कान आदि उस प्रभु का स्तवन करते हैं। यह सब इन्द्रियों से प्रभु की स्तुति करनेवाला बनता है।

भावार्थ—प्रभु का स्तवन करते हुए हम 'सुन्दर सशक्त शरीर' वाले तथा दीप्त मस्तिष्कवाले बनें।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

पितरो मनुष्याः

अ॒स्माक॑म॒त्र पि॒तरो॑ मनु॒ष्या॑ अ॒भि प्र से॑दुर्ऋ॒तमा॑शुषा॒णाः।
अश्म॑व्रजाः सु॒दुघा॑ व॒व्रे अ॒न्तरुदु॒स्रा आ॑जन्नु॒षसो॑ हुवा॒नाः ॥ १३ ॥

(१) **अत्र**=यहाँ संसार में **अस्माकम्**=हमारे में से **पितरः**=पालनात्मक कर्मों को करनेवाले **मनुष्याः**=विचारशील लोग **ऋतं आशुषाणाः**=यज्ञ को व ऋत को अपने में व्याप्त करते हुए **अभिप्रसेदुः**=उस प्रभु की ओर गतिवाले होते हैं (प्रसद्=moving towards)। प्रभुप्राप्ति का मार्ग यही है कि हम (क) यज्ञात्मक कर्मों को करें, तथा (ख) सब क्रियाओं को ठीक समय व स्थान पर, ऋत के अनुसार, करनेवाले हों। (२) ये 'पितर मनुष्य' **उस्राः**=ज्ञान की रश्मियों को **उद् आजन्**=बाहिर प्रेरित करते हैं, अर्थात् उन ज्ञान रश्मियों का प्रादुर्भाव करते हैं, जो कि **अश्मव्रजाः**=इस पाषाण तुल्य दृढ़ शरीर रूप बाड़ेवाली हैं, **सुदुघाः**=उत्तम ज्ञानदुग्ध का पूरण करनेवाली हैं, तथा **वव्रे अन्तः**=(वृणोति आच्छादयति) आत्मा को अपने में आच्छादित करनेवाले हृदय के अन्दर स्थित हैं। हृदय के अन्दर सब ज्ञानरश्मियाँ वर्तमान हैं। इन ज्ञान रश्मियों को 'गौ'

कहें तो यह पाषाण तुल्य शरीर ही इनका बाड़ा है। यह उत्तम ज्ञानदुग्ध का दोहन करती हैं। ये 'पितर मनुष्य' इन ज्ञान रश्मियों के प्रादुर्भाव के लिये ही **उषसः हुवानाः**=उषाकालों में प्रभु को पुकारनेवाले होते हैं, उषाकालों में प्रभु का स्मरण करते हैं।

भावार्थ—हम ऋत का सेवन करते हुए प्रभु की ओर चलें। प्रातः प्रभु का आह्वान करते हुए ज्ञान रश्मियों को अपने में प्रादुर्भूत करें।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

अद्रिं दद्रुवांसः

ते मर्मृजत दद्रुवांसो अद्रिं तदेषामन्ये अभितो वि वोचन्।
पश्वयन्त्रासो अभि कारमर्चन्विदन्त ज्योतिश्चकृपन्त धीभिः॥ १४॥

(१) **ते**=वे गतमन्त्र में वर्णित 'पितर मनुष्य' **अद्रिम्**=अविद्या पर्वत को **दद्रुवांसः**=विदीर्ण करते हुए **मर्मृजत**=अपने जीवन का शोधन करते हैं। **एषाम्**=इन विद्या के प्रकाश के द्वारा अविद्यान्धकार के पर्वत को छिन्न-भिन्न करनेवाले मनुष्यों के **तद्**=उस अविद्या-पर्वत भेदन व जीवन शोधन के कार्य को **अन्ये**=अन्य लोग **अभितः**=चारों ओर **विवोचन्**=प्रशंसित करते हैं। इनके इस कार्य की सब ओर प्रशंसात्मक शब्दों में चर्चा होती है। (२) 'कामः पशुः, क्रोधः पशुः' इन उपनिषद् शब्दों के अनुसार 'काम-क्रोध' पशु हैं। **पश्वयन्त्रासः**=इन काम-क्रोध से वशीभूत न किये जानेवाले 'पितर मनुष्य' **कारम्**=उस सृष्टिकर्ता प्रभु की **अभि अर्चन्**=दिन के दोनों ओर प्रातः-सायं अर्चना करते हैं। वस्तुतः यह प्रभु स्मरण ही इन्हें काम-क्रोध के वशीभूत नहीं होने देता। (३) इस प्रकार प्रभु स्मरण को करते हुए ये **ज्योतिः विदन्त**=ज्ञान की ज्योति को प्राप्त करते हैं। **च**=और **धीभिः**=ज्ञानपूर्वक कर्मों के द्वारा **चकृपन्त**=(कृपू सामर्थ्ये) अपने को सामर्थ्य सम्पन्न (शक्तिशाली) बनाते हैं।

भावार्थ—अज्ञान-पर्वत का विदारण करके जीवन का शोधन करनेवाले लोग प्रभु स्मरण करते हुए और काम-क्रोध के वशीभूत न होते हुए, ज्योति को प्राप्त करते हैं और ज्ञानपूर्वक कर्मों द्वारा शक्तिशाली बनते हैं।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

गोमान् व्रज का उद्घाटन

ते गव्यता मनसा दृध्रमुब्धं गा येमानं परि षन्तमद्रिम्।
दृळ्हं नरो वचसा दैव्येन व्रजं गोमन्तमुशिजो वि वव्रुः॥ १५॥

(१) **ते**=वे गतमन्त्र में वर्णित 'अद्रिं दद्रुवांसः' अविद्या-पर्वत का विदारण करनेवाले **नरः**=लोग **गव्यता मनसा**=ज्ञान की वाणियों को प्राप्त करने की कामनावाले मन से तथा **दैव्येन वचसा**=सृष्टि के प्रारम्भ में देव द्वारा दिये गये इन वेदवचनों से, **उशिजः**=ज्ञान प्राप्ति की कामना करते हुए **गोमन्तं व्रजम्**=प्रशस्त ज्ञानवाणी रूप गौवोंवाले बाड़े को **विवव्रुः**=खोल डालते हैं (उद्घाटितवन्तः)। इस बाड़े को खोलकर वे इन ज्ञानवाणी रूप गौवों को प्राप्त करते हैं, अर्थात् ज्ञान प्राप्ति के लिये आवश्यक है कि (क) ज्ञान प्राप्ति की कामना हो, (ख) वेदवाणी की ओर (प्रभु की वाणी की ओर) हमारा झुकाव हो। (२) ज्ञान-वाणीरूप गौओं को आवृत कर लेनेवाला यह बाड़ा **दृध्रम्**=गौवों के निर्गमन द्वार का निरोधक है, **उब्धं**=(सं हतं) बड़ा संहत है (large enclave), **गाः येमानम्**=ज्ञान वाणी रूप गौओं को अन्दर रोके हुए है, **परिषन्तम्**=यह चारों ओर है, सब मनुष्यों

में यह इन गौवों के निरोध के कार्य को कर रहा है, **अद्रिम्**=(अ दृ) इसका विदारण बड़ा कठिन है, **दृढम्**=ये बड़ा मजबूत है (उशिक् इसका विदारण करके उन गौवों को प्राप्त करते हैं। इन्हें ही ज्ञान रश्मियों की प्राप्ति होती है।

भावार्थ—ज्ञान प्राप्ति की प्रबल कामना के होने पर ज्ञान रश्मियों के आवरणभूत वासना पर्वत का विदारण करके मेधावी लोग ज्ञान को प्राप्त करते हैं।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

प्रथम नाम (ओ३म्) का मनन

ते म॑न्वत प्रथ॒मं नाम॑ धे॒नोस्त्रिः स॒प्त मा॒तुः प॑र॒माणि॑ विन्दन्।
तज्जा॑न॒तीर॒भ्य॑नूषत॒ व्रा आ॒विर्भु॑वदरु॒णीर्य॒शसा॒ गोः॥ १६॥

(१) **ते**=गतमन्त्र में वर्णित अविद्या पर्वत के विदारण करनेवाले लोग, ज्ञानरूपी गौओं के बाड़े को खोलनेवाले लोग, **धेनोः**=इस ज्ञानदुग्ध से प्रीणित करनेवाली वेदवाणी रूप गौ के **प्रथमं नाम**=सर्वमुख्य नाम (=शब्द) 'ओ३म्' का **मन्वत**=अपने हृदयों में मनन करते हैं। वे इस **मातुः**=वेदमाता के **त्रिः सप्त**=इक्कीस **परमाणि**=(परः मीयते यैः) प्रभु का ज्ञान देनेवाले गायत्र्यादि छन्दों को **विन्दन्**=प्राप्त करते हैं। (२) ऐसा होने पर **तत्**=उस प्रभु को **जानतीः**=जानती हुई **व्राः**=प्रभु का वरण व सम्भजन (वृ-वरणे, वृङ् संभक्तौ) करनेवाली प्रजाएँ **अभि अनूषत**=दिन के प्रारम्भ व अन्त में उसका स्तवन करती हैं। इस स्तवन के परिणामस्वरूप **गोः यशसा**=वेदवाणी रूप गौ की महिमा से **अरुणीः**=ज्ञान प्रकाश रूप उषा **आविर्भुवत्**=प्रादुर्भूत होती है। प्रभु का स्तवन करने से निर्मल हृदय में ज्ञान का प्रकाश चमक उठता है।

भावार्थ—वेदवाणी के सारभूत 'ओ३म्' शब्द का हम जप व अर्थभावन करें। वेद के छन्दों को समझें। प्रभु स्तवन करते हुए निर्मल हृदय में ज्ञान के प्रकाश को प्राप्त करें।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

सूर्योदय व पापपलायन

नेश॒त्तमो॒ दुधि॑तं॒ रोच॑त॒ द्यौरुद्दे॒व्या उ॒षसो॑ भा॒नुर॑र्त।
आ सूर्यो॑ बृह॒तस्ति॑ष्ठ॒दज्रा॑ँ ऋ॒जु मर्ते॑षु वृ॒जिना॑ च॒ पश्य॑न्॥ १७॥

(१) उषा से **दुधितम्**=प्रेरित हुआ-हुआ धकेला हुआ **तमः**=रात्रि का अन्धकार **नेशत्**=नष्ट हुआ है। **द्यौः**=द्युलोक **रोचत**=चमक उठा है। **देव्याः**=प्रकाशमयी **उषसः**=उषा का **भानुः**=प्रकाश **अर्त**=उद्गत हुआ है। (२) अब **सूर्यः**=सूर्य **बृहतः**=विशाल **अज्रान्**=(areas) क्षेत्रों में **आतिष्ठत्**=स्थित हुआ है, सूर्य का प्रकाश चारों ओर फैल गया है। यह सूर्य **मर्तेषु**=मनुष्यों में **ऋजु**=सरलता को **च**=और **वृजिना**=कुटिलताओं व पापों को **पश्यन्**=देख रहा है। रात्रि के अन्धकार में तो पाप छिप सकते हैं। परन्तु सूर्य के प्रकाश में इनके छिपने का सम्भव नहीं। हमारे जीवनों में भी ज्ञान सूर्य का उदय होने पर सब पाप वृत्तियाँ समाप्त हो जाती हैं।

भावार्थ—उषा आती है, अन्धकार दूर होता है। सूर्योदय के साथ सर्वत्र प्रकाश हो जाता है, कुटिलताएँ भी रात्रि के अन्धकार के साथ ही चली जाती हैं।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—स्वराट्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

प्रत्याहार

आदित्पश्चा बुबुधाना व्यख्यन्नादिद्रत्नं धारयन्त द्युभक्तम्।
विश्वे विश्वासु दुर्यासु देवा मित्र धिये वरुण सत्यमस्तु॥ १८॥

(१) गतमन्त्र के अनुसार जीवन में ज्ञान सूर्य का उदय होने पर **बुबुधानाः**=ये ज्ञानी लोग **आत् इत्**=शीघ्र ही **पश्चा व्यख्यन्**=पीछे की ओर देखते हैं, इन्द्रियों को प्रत्याहृत करके अन्तर्मुखी वृत्तिवाले होते हैं। वस्तुतः यह प्रत्याहार ही इनके जीवनों को उत्तम बनाता है। **आत् इत्**=इस प्रत्याहार के बाद ये ज्ञानी पुरुष **द्युभक्तम्**=दीप्ति से युक्त **रत्नम्**=रत्न को **धारयन्त**=धारण करते हैं। शरीर में सोम-वीर्य ही दीप्तियुक्त रत्न है। इस रत्न के धारण से जहाँ शरीर तेजस्वी बनता है वहाँ मस्तिष्क दीप्तिमय होता है। इसीलिए इस रत्न को 'द्युभक्त' कहा गया है। (२) इनके **विश्वासु**=(सर्वासु in totality स्वस्थ) सब अंग-प्रत्यंगों की शक्ति से युक्त स्वस्थ **दुर्यासु**=शरीर रूप गृहों में **विश्वे देवाः**=सब देव अपने-अपने स्थान में स्थित होते हैं 'सर्वा ह्यस्मिन्देवता गावो गोष्ठ इवासते'। हे **मित्र**=रोगों व पापों से बचानेवाले (प्रमीतेः त्रायते) **वरुण**=द्वेषों के निवारक प्रभो! इस **धिये**=ज्ञानपूर्वक कर्म करनेवाले पुरुष के लिये **सत्यं अस्तु**=सत्य हो। इसका जीवन सत्यमय बने और यह सत्य प्रभु को प्राप्त करनेवाला हो।

भावार्थ—हम प्रत्याहार की वृत्तिवाले बनकर शरीर में सोम का रक्षण करें। हमारा शरीर सब देवों का अधिष्ठान हो। ज्ञान पूर्वक कर्मों को करते हुए हम 'सत्य' प्रभु को प्राप्त करें।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

अंशोः परिषिक्तम्

अच्छा वोचेय शुशुचानमग्निं होतारं विश्वभरसं यजिष्ठम्।
शुच्यूधो अतृणन्न गवामन्धो न पूतं परिषिक्तमंशोः॥ १९॥

(१) मैं **अच्छा वोचेय**=उस प्रभु का लक्ष्य करके स्तुति-वचनों का उच्चारण करूँ। जो प्रभु **शुशुचनम्**=मेरे जीवन को पवित्र करनेवाले हैं, **अग्निम्**=मुझे आगे ले चलनेवाले हैं, **होतारम्**=सब कुछ देनेवाले हैं, **विश्वभरसम्**=सारे ब्रह्माण्ड का भरण करनेवाले हैं। **यजिष्ठम्**=पूज्यतम हैं। (२) वे प्रभु **गवाम्**=गौवों के **शुचिः ऊधः**=पवित्र ऊधस् के समान हैं। जैसे यह ऊधस् दूध को देकर हमारा पोषण करता है, उसी प्रकार प्रभु ज्ञानदुग्ध के द्वारा हमारा पोषण करते हैं। **न अतृणत्**=हमारा संहार नहीं करते। **पूतं अन्धः न**=वे प्रभु पवित्र सोम के समान हैं। जिस प्रकार वासना के उबाल से शून्य-पवित्र-सोम शरीर का रक्षण करता है, उसी प्रकार ये प्रभु हमारे शरीरों का रक्षण करनेवाले हैं। वे प्रभु **अंशोः**=ज्ञान किरणों का **परिषिक्तम्**=परितः सेचन ही हैं, अर्थात् जब हम हृदयों में प्रभु का स्मरण करते हैं, तब हमारा अन्तस्तल ज्ञान रश्मियों से प्रकाशित हो उठता है।

भावार्थ—प्रभु का हम स्मरण करें। हमारा अन्तस्तल ज्ञानरश्मियों से प्रकाशित हो उठता है, और सोमरक्षण द्वारा शरीर नीरोग व सुरक्षित बना रहता है।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—स्वराट्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

अदितिः-अतिथिः

विश्वेषामदितिर्यज्ञियानां विश्वेषामतिथिर्मानुषाणाम्।
अग्निर्देवानामव आवृणानः सुमृळीको भवतु जातवेदाः ॥ २० ॥

(१) वे प्रभु **विश्वेषाम्**=सब **यज्ञियानाम्**=यज्ञशील पुरुषों के **अदितिः**=न खण्डन होने देनेवाले हैं। **विश्वेषाम्**=सब **मानुषाणाम्**=विचारशील पुरुषों के **अतिथिः**=(अत सातत्यगमने) निरन्तर प्राप्त होनेवाले हैं। (२) ये **अग्निः**=अग्रणी प्रभु **देवानां अवः**=सब देवों के रक्षण को **आवृणानः**=(वृ संभक्तौ) सम्भक्त करनेवाले, प्राप्त करानेवाले हैं। **जातवेदाः**=ये सर्वज्ञ प्रभु **सुमृडीकः**=उत्तम सुख को देनेवाले **भवतु**=हों।

भावार्थ—यज्ञशील बनकर हम स्वस्थ हों। विचारशील बनकर प्रभु को प्राप्त हों। देव बनकर प्रभु से रक्षणीय हों तथा उस प्रभु से सुख को प्राप्त हों।

यह सम्पूर्ण सूक्त प्रभुप्राप्ति के साधनों व फलों का उल्लेख करता हुआ हमें प्रभु प्रवण बनाता है। प्रभु प्रवण होते हुए हम 'वामदेव'=सुन्दर दिव्य गुणोंवाले बनते हैं। यही भाव अगले सूक्त का भी है—

[२] द्वितीयं सूक्तम्

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

मर्त्येषु अमृतः

यो मर्त्येष्वमृत ऋतावा देवो देवेष्वरतिर्निधायि।
होता यजिष्ठो मह्ना शुचध्यै हव्यैरग्निर्मनुष ईरयध्यै ॥ १ ॥

(१) **यः**=जो **मर्त्येषु अमृतः**=मरणधर्मा प्राणियों में व वस्तुओं में अमर हैं, **ऋतावा**=ऋत का रक्षण करनेवाले हैं, **देवः**=प्रकाशमय हैं, **अरतिः**=(ऋ गतौ) निरन्तर गतिशील हैं व (अ रतिः) कहीं भी सक्त नहीं हैं 'असक्तं सर्वभृच्चैव', वह प्रभु **देवेषु**=देव वृत्ति के पुरुषों में **निधायि**=निहित होते हैं। (२) **होता**=वे प्रभु सब कुछ देनेवाले हैं, **यजिष्ठः**=पूज्यतम हैं, **मह्ना**=अपनी महिमा से **शुचध्यै**=हमारे जीवनों का शोधन करने के लिये होते हैं। ये **अग्निः**=अग्रणी प्रभु **हव्यैः**=हव्यों के द्वारा, त्यागपूर्वक अदन के द्वारा **मनुषः**=विचारशील पुरुषों को **ईरयध्यै**=स्वर्ग की ओर प्रेरित करने के लिये होते हैं। जब एक मनुष्य प्रभु की महिमा का चिन्तन करता है तो उसका हृदय पवित्र होता चलता है। हृदय के पवित्र होने पर यह यज्ञादि उत्तम कर्मों में प्रवृत्त होता है, यह यज्ञ प्रवृत्ति उसके घर को स्वर्ग बनानेवाली होती है।

भावार्थ—हम देववृत्ति के बनकर हृदय में प्रभु के प्रकाश को देखते हैं। जितना-जितना प्रभु का स्मरण करते हैं, उतना-उतना पवित्र होते चलते हैं। पवित्र होकर यज्ञों को करते हुए घरों को स्वर्ग बना पाते हैं।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

'वृषा व शुक्र' इन्द्रियाश्व

इह त्वं सूनो सहसो नो अद्य जातो जाताँ उभयाँ अन्तरग्ने।
दूत ईयसे युयुजान ऋष्व ऋजुमुष्कान्वृषणः शुक्रांश्च ॥ २ ॥

(१) हे **सहसः सूनो**=बल के पुत्र, बल के पुतले शक्ति के पुञ्ज **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! **त्वम्** आप **इह**=इस जीवन में **नः**=हमें **अद्य**=आज **जातान्**=विकसित शक्तिवाले **उभयान् अन्तः**=शरीर व मस्तिष्क दोनों के अन्दर, दोनों के मध्य हृदयान्तरिक्ष में **जातः**=प्रादुर्भूत हुए-हुए, **दूतः**=ज्ञान का सन्देश देनेवाले होकर **ईयसे**=गति करते हैं। हम शरीर को तेजस्वी व मस्तिष्क को ज्ञानदीप्त बनायें। तब हमारे हृदयों में प्रभु का प्रादुर्भाव होगा। ये प्रभु हमें ज्ञान का सन्देश दे रहे होंगे। (२) हे **ऋष्व**=दर्शनीय प्रभो! आप हमारे शरीर-रथों में उन इन्द्रियाश्वों को **युयुजानः**=जोतनेवाले होते हैं जो कि **ऋजुमुष्कान्**=ऋजु, अर्थात् प्रसाधक-सरलता से अपने मार्ग पर बढ़नेवाले तथा **मांसल**=(बलवान्) हैं, **वृषणः**=हमारे लिये सुखों का सेचन करनेवाले व शक्तिशाली हैं, **च**=तथा **शुक्रान्**=(शुक् गतौ, शुच् दीप्तौ) तीव्र गतिवाले व दीप्त हैं। कर्मेन्द्रियों के दृष्टिकोण से 'वृषणः' और ज्ञानेन्द्रियों के दृष्टिकोण से 'शुक्रान्' शब्द का प्रयोग हुआ है, ये इन्द्रियरूप घोड़े शक्तिशाली व ज्ञानदीप्त हैं।

भावार्थ—हम शरीर व मस्तिष्क को ठीक बनाकर हृदय में प्रभु के प्रकाश को देखते हैं। ये प्रभु हमारे शरीर-रथों में कर्मेन्द्रिय रूप सशक्त अश्वों को तथा ज्ञानेन्द्रियरूप ज्ञानदीप्त अश्वों को जोतते हैं।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

इन्द्रियों द्वारा देवों व मर्तों का सम्बन्ध

अत्या वृधस्नू रोहिता घृतस्नू ऋतस्य मन्ये मनसा जविष्ठा।
अन्तरीयसे अरुषा युजानो युष्मांश्च देवान्विश आ च मर्तान्॥ ३॥

(१) **ऋतस्य**=ऋत के, सब कार्यों को बड़ी नियमितता से करनेवाले के **अत्या**=निरन्तर गतिशील इन्द्रियाश्व **वृधस्नू**=वृद्धि के शिखर पर पहुँचनेवाले हैं (स्नु-सानु=शिखर)। ये इन्द्रियाश्व **रोहिता**=प्रादुर्भूत शक्तियोंवाले व तेजस्वी तथा **घृतस्नू**=ज्ञानदीप्ति के शिखर पर पहुँचनेवाले हैं। **मन्ये**=मैं तो ऐसा समझता हूँ कि ये इन्द्रियाश्व **मनसा जविष्ठा**=मन से भी अधिक वेगवान् होते हैं। (२) हे **अग्ने**=परमात्मन्! आप **अरुषा**=इन आरोचमान इन्द्रियाश्वों के द्वारा **युष्मान्** (युष्माकं) आपके **देवान्**=इन सूर्य आदि देवों को **च**=तथा **विशः**=संसार में प्रवेश करनेवाले, विविध योनियों में आनेवाले, इन **मर्तान्**=मरणधर्मा प्राणियों को **आ युजानः**=सर्वथा जोड़नेवाले होते हैं। 'सूर्य' चक्षु का रूप धारण करके आँख में रहता है, 'वायु' प्राण बनकर नासिका में 'अग्नि' वाक् बनकर मुख में, 'चन्द्रमा' मन बनकर हृदय में रहने लगता है। इसी प्रकार सब देव इन शरीरों में रहते हैं। इस प्रकार देवों व मर्तों का सम्बन्ध स्थापित हो जाता है।

भावार्थ—'देव' ही विविध इन्द्रियों के रूप में शरीर में निवास करते हैं। इस प्रकार प्रभु ने देवों व इन्द्रियों को परस्पर जोड़ दिया है।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

सर्वदेवमयता

अर्यमणं वरुणं मित्रमेषामिन्द्राविष्णू मरुतो अश्विनोत।
स्वश्वो अग्ने सुरथः सुराधा एदु वह सुहविषे जनाय॥ ४॥

(१) हे **अग्ने**=परमात्मन्! आप **स्वश्वः**=उत्तम इन्द्रियाश्वों को प्राप्त करानेवाले हैं, **सुरथः**=उत्तम शरीर रथ को देनेवाले हैं, **सुराधाः**=उत्तम कार्य-साधक (राध् सिद्धौ) धनों के प्रदाता हैं। आप

सु हविषे जनाय उत्तम हविवाले मनुष्य के लिये, त्यागपूर्वक अदन करनेवाले मनुष्य के लिये इन देवों को **इत्**=निश्चय से **आवह**=प्राप्त कराइये। (२) **अर्यमणम्**-अर्यमा को प्राप्त कराइये। 'अर्यमेति तमाहुर्यो ददाति' देने के वृत्ति को प्राप्त कराइये। इस दानवृत्ति द्वारा 'वरुण'-'पापान्निवारयति' पापवृत्ति को दूर करिये। दानवृत्ति लोभ को समाप्त करके निष्पापता को पैदा करती है। **मित्रम्** (प्रमीतेः त्रायते) निष्पाप बनाकर इन रोगों से बचाइये। (३) दान, निष्पापता व नीरोगता को प्राप्त करके **एषाम्**-इनके जीवन में **इन्द्राविष्णू**-जितेन्द्रियता व व्यापकता (विष् व्याप्तौ) को स्थापित करिये। इन बातों की सिद्धि के लिये ये **मरुतः**=प्राणसाधना करनेवाले हों, **उत**-और **अश्विना**-'इममेह वै द्यावापृथिवी प्रत्यक्षमश्विनौ इमे हीदं सर्वमश्नुवाताम्' श० ४।१।५।१६ इनको द्यावापृथिवी की प्राप्ति हो, इसका मस्तिष्क ज्ञानसूर्य से चमके और इनका शरीर पृथिवी की तरह दृढ़ हो।

भावार्थ—प्रभु कृपा से हमारा जीवन सर्वदेवमय हो।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

सुन्दर जीवन-यज्ञ

गोमाँ अग्नेऽविमाँ अश्वी यज्ञो नृवत्सखा सदमिदप्रमृष्यः।
इळावाँ एषो असुर प्रजावान्दीर्घो रयिः पृथुबुध्नः सभावान्॥ ५॥

(१) हे **अग्ने**-परमात्मन्! **एषः यज्ञः**-हमारा यह जीवन-यज्ञ **गोमान्**-उत्तम ज्ञानेन्द्रियोंवाला हो, **अविमान्**-उत्तम रक्षणतत्त्वोंवाला हो। **अश्वी**-उत्तम कर्मेन्द्रियोंवाला हो। **नृवत् सखा** उत्तम नेतृत्व को देनेवाले मनुष्यों के साथ मैत्रीवाला हो। यह जीवन-यज्ञ **सदं इत्**-सदा ही **अप्रमृष्यः** अप्रधृष्य हो, धर्षण के योग्य न हो। काम क्रोध आदि शत्रुओं का इस पर आक्रमण न हो सके। (२) हे **असुर**-प्राणशक्ति का संचार करनेवाले प्रभो! यह **इडावान्**-प्रशस्त अन्नोंवाला हो, **प्रजावान्** उत्तम प्रजाओं (सन्तानों) वाला हो। यह यज्ञ **दीर्घः रयिः** अविच्छिन्न अनुष्ठान से युक्त दीर्घकाल तक चलनेवाला व ऐश्वर्य सम्पन्न हो (रयिः रयिमान्)। **पृथुबुध्नः**-यह विशाल आधारवाला हो **सभावान्**-सभावाला हो। विशाल आधार का भाव यह है कि इसमें 'शरीर स्वस्थ हो, मन निर्मल हो तथा बुद्धि बड़ी परिमार्जित' हो। सभावाले होने का भाव यह है कि हम वैयक्तिक स्वार्थमय जीवन बिताने के स्थान में औरों के साथ मिलकर सर्वहितकर जीवन को बितानेवाले बनें। ऐसा ही जीवन 'यज्ञमय जीवन' कहला सकता है।

भावार्थ—हम अपने जीवन को यज्ञमय बनाते हुए उत्तम ज्ञानेन्द्रियोंवाला, उत्तम कर्मेन्द्रियाँवाला, उत्तम साथियोंवाला व काम क्रोध से अनाक्रान्त बनायें। घरों में हम उत्तम अन्नों का सेवन करते हुए उत्तम सन्तानोंवाले हों। धन सम्पन्न व परार्थसाधन की भावना से सम्पन्न हों।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्॥ स्वरः धैवतः॥

देव-यज्ञ-ब्रह्म-यज्ञ

यस्त इध्मं जभरत्सिष्विदानो मूर्धानं वा ततपते त्वाया।
भुवस्तस्य स्वतवाँ पायुरग्ने विश्वस्मात्सीमघायत उरुष्य॥ ६॥

(१) हे **अग्ने**-परमात्मन्! **यः** जो **ते** आपके लिये **सिष्विदानः** 'स्विद्यद् गात्र' होता हुआ, पसीने को बहाकर कमाता हुआ **इध्मम्** ईंधन को **जभरत्**-प्राप्त कराता है, अर्थात् प्रभु की प्राप्ति के लिये धनार्जन करके यज्ञादि उत्तम कार्यों में उस धन का विनियोग करता है। **वा** अथवा **त्वाया**-हे प्रभो! आपकी प्राप्ति की कामना से **मूर्धानम्**=अपने मस्तिष्क को **ततपते**-ज्ञान से दीप्त

करता है, अर्थात् देवयज्ञ को करता है (इध्मं जभरत्) तथा ब्रह्मयज्ञ को करता है (मूर्धानं ततपते), **तस्य**=उस देव-यज्ञ व ब्रह्म-यज्ञ करनेवाले पुरुष के आप **स्वतवान्**=ऐश्वर्य का वर्धन करनेवाले व **पायुः**=रक्षक **भुवः**=होते हैं। आपकी कृपा से इसको यज्ञादि उत्तम कर्मों के लिये धन भी प्राप्त होता है और यह काम-क्रोध आदि शत्रुओं के आक्रमण से भी बचा रहता है। (२) हे प्रभो! आप इस देवयज्ञ व ब्रह्मयज्ञ के करनेवाले को **सीम्**-निश्चयपूर्वक **विश्वस्मात्**=सब **अघायतः**-अघ (-बुरे) की कामनावाले से **उरुष्य**=रक्षित करते हैं। यज्ञशील पुरुष का आप रक्षण करते ही हैं। वस्तुतः आपके रक्षण से ही वे यज्ञ पूर्ण होते हैं। 'विश्वामित्र यज्ञ करता है, राम रक्षण करते हैं'।

भावार्थ—जो धनार्जन करके देवयज्ञ में उस धन का विनियोग करता है तथा मस्तिष्क को ज्ञानदीप्त करता हुआ ब्रह्मयज्ञ करता है प्रभु उसका रक्षण करते हैं, उसे ऐश्वर्य प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

अतिथि-यज्ञ

यस्ते भरादन्नियते चिदन्नं निशिषन्मन्द्रमतिथिमुदीरत्।
आ देवयुरिनधते दुरोणे तस्मिन्रयिर्ध्रुवो अस्तु दास्वान्॥७॥

(१) **यः**=जो **अन्नियते**=अन्न की कामनावाले के लिये **चित्**=निश्चय से **ते अन्नम्**=आपके इस अन्न को **भरात्**=प्राप्त कराता है। **मन्द्रम्**=सुखकर वचनों को **निशिषत्**=(शासु अनुशिष्टौ) कहता है, 'आइये, बैठिये' आदि मधुर शब्दों को ही अतिथि के लिये बोलता है तथा **अतिथिं उदीरत्**=उस अतिथि के स्वागत के लिये (उत्=उठकर) घर से बाहर तक आता है। यह **देवयुः**-देवों के सम्पर्क की कामनावाला **दुरोणे**=अपने (दुर्-ओण्-अपनयने) बुराइयों के अपनयनवाले घर में **आ इनधते**=सर्वथा आपको दीप्त करता है, अर्थात् उन विद्वान् अतिथियों का सत्कार करता हुआ, उनसे ज्ञान चर्चा को करता हुआ, प्रभु के प्रकाशवाला बनता है। (२) **तस्मिन्**=उस अतिथियज्ञ करनेवाले पुरुष में **दास्वान्**=देने की वृत्तिवाला **ध्रुवः**=स्थिर **रयिः**=ऐश्वर्य **अस्तु**-हो। इसे धन प्राप्त हो, यह धन दान की वृत्ति से युक्त हो तथा न नष्ट होनेवाला हो।

भावार्थ—हम अतिथियों को अन्न प्राप्त करायें, उनके लिये सुखकर शब्दों को कहें, उनका उठकर स्वागत करें। इन अतिथियों से ज्ञानचर्चा करते हुए हम प्रभु के प्रकाश को प्राप्त करें और ऐश्वर्य-सम्पन्न बनें।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

प्रभु-प्रार्थना व दानवृत्ति (बलि वैश्वदेव-यज्ञ)

यस्त्वा दोषा य उषसि प्रशंसात्प्रियं वा त्वा कृणवते हविष्मान्।
अश्वो न स्वे दम आ हेम्यावान्तमंहसः पीपरो दाश्वांसम्॥८॥

(१) हे अग्ने! **यः**-जो **त्वा**=आपको **दोषा**=रात्रि के प्रारम्भ में और **यः**=जो **उषसि**=दिन के प्रारम्भ में **प्रशंसात्**=(adoration) प्रशंसित करता है, अर्थात् जो प्रातः-सायं प्रभु का स्मरण करता है। **वा**=तथा **हविष्मान्**=दानपूर्वक अदनवाला होता हुआ, यज्ञशेष का सेवन करता हुआ **त्वा**-आपको अपना **प्रियम्**-प्रिय **कृणवते**=करता है, वह **स्वे दमे**-अपने गृह में **आ हेम्यावान्**-सब प्रकार से सुवर्ण निर्मित कक्ष्यावाले **अश्वः न**-अश्व के समान होता है, अर्थात् यह व्यक्ति खूब धन सम्पत्ति से लद जाता है। इसे खूब ही ऐश्वर्य प्राप्त होता है। (२) **तम्**=उस आपका स्तवन करनेवाले **दाश्वांसम्**-दान की वृत्तिवाले पुरुष को आप **अंहसः**=सब पापों से **पीपरः**=पार करते

हो। सम्पत्ति से लद जाने पर, दान की वृत्तिवाला प्रभु का उपासक ही पाप में फँसने से बच पाता है। अन्यथा यह सम्पत्ति ही उसकी विपत्ति का कारण हो जाती है।

भावार्थ—प्रभु का स्तवन व दानवृत्ति हमारी सम्पत्ति को बढ़ाते हैं उस सम्पत्ति को लोकहित में विनियुक्त करते हुए हम पापों में फँसने से बचे रहते हैं।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

प्रभु के प्रति अर्पण

यस्तुभ्यमग्ने अमृताय दाशद्दुवस्त्वे कृणवते यतस्त्रुक्।
न स राया शशमानो वि योषन्नैनमंहः परि वरदघायोः ॥ ९ ॥

(१) हे **अग्ने** परमात्मन्! **यः**-जो **तुभ्यं अमृताय** आप अमृत के लिये **दाशत्** अपने को दे डालता है, अर्थात् आपके प्रति अपना अर्पण करके जीवन में चलता है और **यतस्त्रुक्** (वाग्वै स्त्रुचः श० ६।३।१।८) संयत वाणीवाला होकर **त्वे** आपके लिये **दुवः कृणवते** परिचर्या को करता है। **सः** वह **शशमानः**-प्लुत गतिवाला होता हुआ **राया न वियोषत्**-धन से कभी पृथक् नहीं होता। (क) प्रभु के प्रति अपना अर्पण करना, (ख) संयतवाणीवाला होकर प्रभु की परिचर्या करना, उसके नाम का अर्थभावनपूर्वक जप करना, (ग) श्रमशील होना, आलस्यशून्य। यह मार्ग है ऐश्वर्य-सम्पन्न होने का। (२) **एनम्**=इस व्यक्ति को **अघायोः**-पाप की कामनावाले का **अंहः** कष्ट **न परिवरत्**-परिवृत नहीं करता, नहीं प्राप्त होता।

भावार्थ—प्रभु के प्रति अर्पण, प्रभु का पूजन तथा श्रम हमें ऐश्वर्य सम्पन्न बनाता है। इसे पाप नहीं छूता।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

यज्ञों द्वारा प्रभु प्रियता

यस्य त्वमग्ने अध्वरं जुजोषो देवो मर्तस्य सुधितं रराणः।
प्रीतेदसद्धोत्रा सा यविष्ठासाम यस्य विधतो वृधासः ॥ १० ॥

(१) हे **अग्ने** अग्रणी प्रभो! **देवः**=प्रकाशमय **रराणः**-सब आवश्यक वस्तुओं के देनेवाले **त्वम्** आप **यस्य**-जिस **मर्तस्य**-मनुष्य के **सुधितम्**=उत्तमता से स्थापित किये गये **अध्वरम्** हिंसा रहित यज्ञात्मक कर्म को **जुजोषः**-प्रीतिपूर्वक सेवन करते हैं। उसकी **सा होत्रा**-यज्ञों में उच्चारण की गई वह वाणी **इत्** निश्चय से **प्रीते असत्**=प्रीति को देनेवाली हो। उस मनुष्य को यज्ञों में उच्चारण की जानेवाली यह वेदवाणी रुचिकर हो। (२) उस मनुष्य को यह वाणी प्रिय हो, **यविष्ठ**-हे सब बुराइयों को दूर करनेवाले प्रभो! हम सब देव **विधतः यस्य**=पूजा करनेवाले जिसके **वृधासः**-वृद्धि को करनेवाले **असाम**=हों। चतुर्थ मन्त्र में अर्यमा आदि देवों का उल्लेख था। ये देव जिसकी वृद्धि का कारण बनते हैं, उसे सदा ज्ञान की वाणी प्रिय होती है।

भावार्थ—हम यज्ञ करें। ये यज्ञ प्रभु के लिये प्रिय हों। यज्ञों में उच्चरित वाणी प्रिय हो, इस प्रिय वाणीवाले व्यक्ति को सब देव बढ़ानेवाले हों।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

चित्ति-अचित्ति

चित्तिमचित्तिं चिनवद्वि विद्वान्पृष्ठेव वीता वृजिना च मर्तान्।
राये च नः स्वपत्याय देव दितिं च रास्वादितिमुरुष्य ॥ ११ ॥

(१) **विद्वान्**=वे ज्ञानी प्रभु हमारे लिये **चित्तिम्**=विद्या तथा **अचित्तिम्**=अविद्या को, पराविद्या तथा अपराविद्या को, **चिनवत्**=संचित करें। हमें प्रभु कृपा से प्रकृति का विज्ञान भी प्राप्त हो और आत्मा का ज्ञान भी। **इव**=जैसे **मर्तान्**=रणांगण में योद्धा मनुष्यों को **वीता**=कान्त **च**-और **वृजिना**-(leaning) झुकी हुई **पृष्ठा**-घोड़ों की पीठें (वि चिनवत्) अलग-अलग करके प्राप्त करायी जाती हैं। झुकी हुई पीठवाले घोड़े बोझ आदि के उठाने के लिये प्रयुक्त होते हैं और कान्त पृष्ठवाले योद्धा के लिये। (२) हे **देव**=सर्वप्रद प्रभो! आप **नः**=हमें **राये**=धन के लिये **च**=और **स्वपत्याय**-उत्तम सन्तान के लिये **दितिम्**=दान की वृत्ति को **रास**=दीजिये। दान देते हुए हम अपने धनों का वर्धन भी करें (दक्षिणां दुहते सप्त मातरम्) और उत्तम सन्तान को भी प्राप्त करें (आशीर्दा दम्पती वाममश्नुतः)। हे प्रभो! आप हमारे **अदितिम्**=स्वास्थ्य (अ+दिति-खण्डन) **उरुष्य**=रक्षित करिये।

भावार्थ—हमें अपरा व परा दोनों विद्याओं की प्राप्ति हो। हमें दानवृत्ति के द्वारा धन तथा उत्तम सन्तान प्राप्त हो। हमारा स्वास्थ्य सुरक्षित रहे।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—निचृत्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

उपासक का क्रियाशील जीवन

कविं शशासुः कवयोऽदब्धा निधारयन्तो दुर्यास्वायोः।
अतस्त्वं दृश्याँ अग्न एतान्पड्भिः पश्येरद्भुताँ अर्य एवैः॥ १२॥

(१) **कवयः**-ज्ञानी पुरुष **अदब्धाः**-वासनाओं से हिंसित न होते हुए, **दुर्यासु**=गृहों में **आयोः**-आनेवाली सन्तान का **निधारयन्तः**=धारण करते हुए पुरुष **कविम्**=सर्वज्ञ प्रभु को **शशासुः**=प्रशंसित करते हैं। प्रभु का ये प्रातः-सायं ध्यान करते हैं। ये प्रभु का उपासन करनेवाले पुरुष स्वाध्याय के द्वारा ज्ञानवृद्धि को करके 'कवि' बनते हैं। ध्यान के द्वारा वासनाओं से हिंसित नहीं होते। कर्त्तव्य भावना के प्रबल होने से सन्तानों का उत्तम पालन करते हैं। (२) **अतः** चूँकि ये स्वाध्याय, ध्यान व कर्त्तव्यपालन करनेवाले बनते हैं, इसलिए **एतान्**-इन **दृश्यान्** दर्शनीय जीवनवाले **अद्भुतान्**-आश्चर्य रूपोपेत उपासकों को **अर्यः**=ब्रह्माण्ड के स्वामी आप, हे **अग्ने**-अग्रणी प्रभो! **एवैः पड्भिः**-गतिशील पाओं से **पश्येः**=देखते हैं, अर्थात् इन्हें आप गतिशील पाँओं से प्राप्त कराते हैं। प्रभु इन उपासकों को क्रियाशील जीवनवाला बनाते हैं। 'क्रियावानेव ब्रह्मविदां वरिष्ठः'। इस क्रियामयता के कारण ही उनका जीवन दृश्य व अद्भुत बनता है।

भावार्थ—प्रभु का सच्चा उपासन ज्ञान प्राप्ति-वासनाओं से हिंसित न होने व सन्तान को उत्तम बनाने से होता है। प्रभु इन्हें क्रियाशील जीवन प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

वाघते सुप्रणीतिः

त्वमग्ने वाघते सुप्रणीतिः सुतसोमाय विधते यविष्ठ।
रत्नं भर शशमानाय घृष्वे पृथु श्चन्द्रमवसे चर्षणिप्राः॥ १३॥

(१) हे **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! **त्वम्**-आप **वाघते**-अपने कर्त्तव्यभार का वहन करनेवाले के लिये **सुप्रणीतिः**=उत्तम प्रणयन करनेवाले हैं। इन कर्त्तव्यपरायण लोगों को आप सदा मार्गदर्शन करते हैं। (२) हे **यविष्ठ**=बुराइयों से हमें पृथक् करनेवाले, अच्छाईयों से हमें मिलानेवाले प्रभो! आप **सुत सोमाय**-जो अपने अन्दर सोम का सम्पादन करता है, उस **विधते**=उपासक के लिये

रत्नं भर-रमणीय वसुओं को प्राप्त कराइये। जीवन के लिये आवश्यक रमणीय तत्त्वों को प्राप्त कराइये। (३) हे **घृष्वे** शत्रुओं का घर्षण व विनाश करनेवाले प्रभो! आप **शशमानाय** प्लुत गति से कार्य करनेवाले के लिये **पृथु**-विशाल, खूब अधिक **चन्द्रम्**-आह्लाद आदि धन को **अवसे**-रक्षण के लिये (भर) प्राप्त कराइये। आप ही तो **चर्षणिप्राः**-सब मनुष्यों का पूरण करनेवाले हैं। सब अपेक्षित धनों को प्राप्त कराके आप उनका पूरण करते हैं।

भावार्थ—कर्त्तव्यपालन करनेवाले के लिये प्रभु मार्गदर्शन करते हैं। सोम के सम्पादक उपासक के लिये रमणीय वसुओं को देते हैं। शीघ्र गतिवाले पुरुष के लिये आप विशाल आह्लादकारी धन को देते हैं।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—स्वराट्पङ्क्तिः॥ स्वरः—पञ्चमः॥

पड्भिः हस्तेभिः तनूभिः

अधा ह यद्वयमग्ने त्वाया पड्भिर्हस्तेभिश्चकृमा तनूभिः।
रथं न क्रन्तो अपसा भुरिजोर्ऋतं येमुः सुध्य आशुषाणाः॥ १४॥

(१) हे **अग्ने**-परमात्मन्! **अधा**=अब **ह**=निश्चय से **वयम्**=हम **त्वाया**-आप की प्राप्ति की कामना से **पड्भिः**-पाँवों से **हस्तेभिः**=हाथों से तथा **तनूभिः**-शरीरों से **चकृमा**-कर्मों को करते हैं। (२) **न**-जैसे **क्रन्तः**=शिल्पी लोग **रथम्** रथ को **भुरिजोर् अपसा**-भुजाओं के कर्म से **येमुः** उद्यत करते हैं, तैयार करते हैं, इसी प्रकार **सुध्यः**-उत्तम बुद्धियोंवाले **आशुषाणाः**-कर्मों में व्याप्त होनेवाले लोग अपनी भुजाओं की क्रियाओं से **ऋतम्**-ऋत को, यज्ञ को **येमुः** अपने जीवन में उद्यत करनेवाले होते हैं। सदा यज्ञशील जीवन बिताते हुए ये लोग प्रभु के सच्चे उपासक बनते हैं।

भावार्थ—क्रियामय जीवनवाला ही प्रभु को प्राप्त करता है।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

दिवस्पुत्रा अंगिरसः

अधा मातुरुषसः सप्त विप्रा जायेमहि प्रथमा वेधसो नॄन्।
दिवस्पुत्रा अङ्गिरसो भवेमाद्रिं रुजेम धनिनं शुचन्तः॥ १५॥

(१) **अधा** अब **उषसः**-(उष दाहे) सब दोषों का दहन करनेवाली **मातुः** वेदमाता से, **विप्राः**-अपना विशेषरूप से पूरण करनेवाले, **प्रथमाः**-शक्तियों का विस्तार करनेवाले, **वेधसः**-बुद्धिमान् लोग **सप्त**-सात **नॄन्** उन्नतिपथ पर ले चलनेवाले 'कर्णाविमौ नासिके चक्षणी मुखम्' कान आदि को **जायेमहि**-(जनयामः) उत्पन्न करते हैं। वेद के अध्ययन में प्रवृत्त होने से सब कान आदि इन्द्रियाँ विषयासक्ति से बचकर हमें उन्नति की ओर ले चलनेवाली बनती हैं। (२) **दिवस्पुत्राः** हम ज्ञान के पुत्र, ज्ञान के पुतले, ज्ञान के पुञ्ज बनें। **अंगिरसः**=अंग-प्रत्यंग में रसवाले **भवेम**-हों। **शुचन्तः** अपने जीवन को पवित्र करते हुए हम **धनिनम्**-धन में आसक्तिवाले **अद्रिम्**-अविद्या पर्वत को **रुजेम**-भग्न करनेवाले हों। अविद्या में फँसा हुआ व्यक्ति धन का ही उपासक बन जाता है। इस धनासक्ति से जीवन अपवित्र बन जाता है। हम इस अविद्या पर्वत का विदारण करके पवित्र बनते हैं।

भावार्थ—वेदाध्ययन से हम सातों कान आदि इन्द्रियों को उन्नतिपथ पर चलनेवाला बनाते हैं। ज्ञान के पुञ्ज शक्तिशाली बनते हुए हम धनासक्ति को विनष्ट करते हैं।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

पवित्र ज्ञानदीप्ति की ओर

अधा यथा नः पितरः परासः प्रत्नासो अग्न ऋतमाशुषाणाः ।
शुचीदयन्दीधितिमुक्थशासः क्षामा भिन्दन्तो अरुणीरप व्रन् ॥ १६ ॥

(१) **अधा** अब हे **अग्ने**-परमात्मन्! **यथा** जैसे **नः** हमारे **पितरः**-पालक लोग **परासः** उत्कृष्ट जीवनवाले व **प्रत्नासः**-बड़ी उमरवाले **ऋतम्** यज्ञों का **आशुषाणाः**-अपने में व्यापन करते हुए, अर्थात् यज्ञात्मक कर्मों को करते हुए **इत्** निश्चय से **शुचि**=पवित्र **दीधितिम्** ज्ञान की दीप्ति को **अयन्**-प्राप्त होते हैं। हम भी उसी प्रकार इस पवित्र ज्ञानदीप्ति को प्राप्त करें। (२) **उक्थशासः** प्रभु के स्तोत्रों का शंसन करनेवाले, **क्षामा**-क्षय के कारणभूत तम (अन्धकार) को **भिन्दन्तः** विदीर्ण करते हुए, **अरुणीः**=अरुण प्रकाशवाली ज्ञान किरणों को **अपव्रन्**-वासना के आवरण से रहित करते हैं। प्रभु के उपासन से अज्ञानान्धकार का ध्वंस होकर ज्ञान का प्रकाश प्राप्त होता है।

भावार्थ—हम यज्ञात्मक कर्मों का सेवन करते हुए पवित्र ज्ञानदीप्ति को प्राप्त करें। प्रभु का उपासन हमारे अज्ञानान्धकार को समाप्त करे और हमारे जीवन में ज्ञान की किरणों को प्रकाशित करें।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

सुकर्माण सुरुचः देवयन्तः (देवों का लक्षण)

सुकर्माणः सुरुचो देवयन्तोऽ यो न देवा जनिमा धमन्तः ।
शुचन्तो अग्निं ववृधन्त इन्द्रमूर्वं गव्यं परिषदन्तो अग्मन् ॥ १७ ॥

(१) **देवाः**=देववृत्ति के पुरुष **सुकर्माणः**-सदा उत्तम कर्मोंवाले होते हैं, ये यज्ञादि उत्तम कर्मों में प्रवृत्त रहते हैं। **सुरुचः**-ये उत्तम ज्ञान की दीप्तिवाले होते हैं। **देवयन्तः** शुद्ध अन्तःकरण में देववृत्तियों को प्राप्त करने की कामनावाले होते हैं। ये लोग **जनिमा**-अपने जीवनों को **धमन्तः** तपस्या की अग्नि के संयोग से इस प्रकार निर्मल करते हैं **न**=जैसे कि **अयः**=अग्नि संयोग से धातु को शुद्ध करते हैं। (२) **शुचन्तः**=ज्ञान से दीप्त होते हुए ये व्यक्ति **अग्निम्**=यज्ञाग्नि को **ववृधन्तः**-हवि के द्वारा बढ़ाते हुए, **इन्द्रं परिषदन्तः**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु के समीप, सब विषयों के वर्जनपूर्वक (परेर्वर्जने), बैठते हुए, उस प्रभु की उपासना करते हुए **ऊर्वम्**=(sublime) महान् **गव्यम्**-गोसंघ को, वेदवाणियों के समूह को **अग्मन्**-प्राप्त होते हैं। अग्निहोत्र करते हैं, प्रभु की उपासना करते हैं, ज्ञान की वाणियों का स्वाध्याय करते हैं।

भावार्थ—देववृत्ति के पुरुष हाथों से उत्तम कर्म करते हैं, मस्तिष्क में ज्ञानदीप्तिवाले होते हैं, हृदय में दिव्य वृत्तियों का धारण करते हैं, तपस्या की अग्नि में अपने जीवन का शोधन करते हुए अग्निहोत्र करते हैं, प्रभु का उपासन व ज्ञानवाणियों का अध्ययन करते हैं।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

उपासना के लाभ

आ यूथेव क्षुमति पश्वो अख्यद्देवानां यज्जनिमान्त्युग्र ।
मर्तानां चिदुर्वशीरकृप्रन्वृधे चिदर्य उपरस्यायोः ॥ १८ ॥

(१) हे **उग्र** तेजस्विन् प्रभो! **इव**-जैसे **क्षुमति** अन्नवाले स्थान में (चारागाह में) एक व्यक्ति **पश्वः यूथा** पशुओं के झुण्ड को **आ अख्यत्**-देखता है, इसी प्रकार एक उपासक **अन्ति** उस प्रभु के समीप **देवानां यत् जनिम** देवों का जो विकास है उसे देखता है। चारागाह में पशुसंघ उपस्थित होता है, इसी प्रकार प्रभु की उपासना में दिव्यगुण उपस्थित होते हैं। (२) उपासना के द्वारा **मर्तानां चित्** सामान्य मनुष्यों की भी **उर्वशीः**-(उरु वशो यस्याः) अपने पर शासन करनेवाली प्रजाओं को **अकृप्रन्**-शक्तिशाली बनाते हैं। सामान्य मनुष्य, उपासना के द्वारा, अपने पर शासन करनेवाला व शक्तिशाली बन जाता है। **अर्यः** (स्वामी) यह जितेन्द्रिय पुरुष **उपरस्य** (उप्तस्य) बीजवपन द्वारा उत्पन्न हुई हुई अपनी **आयोः** सन्तान को **वृधे चित्** निश्चय से वृद्धि के लिये होता है।

भावार्थ—उपासना से (क) दिव्य गुणों का वर्धन होता है, (ख) मनुष्य जितेन्द्रिय बनता है, (ग) सन्तानों को उत्तम बना पाता है।

ऋषिः —वामदेवः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—पङ्क्तिः॥ स्वरः—पञ्चमः॥

यज्ञ और प्रभु स्मरण

अकर्म ते स्वपसो अभूम ऋतमवस्त्रन्नुषसो विभातीः।
अनूनमग्निं पुरुधा सुश्चन्द्रं देवस्य मर्मृजतश्चारु चक्षुः॥ १९॥

(१) 'वेद ज्ञान' उस देव (प्रभु) की दी हुई सुन्दर चक्षु है, इससे सब कर्त्तव्यों का ज्ञान होता है। यह सब के लिये मार्गदर्शन कराती है। उस **देवस्य** प्रकाशमय प्रभु की **चारु चक्षुः** इस सुन्दर वेदज्ञान रूप आँख को **मर्मृजतः**-खूब ही शुद्ध करते हुए, अर्थात् वेदज्ञान को प्राप्त करते हुए **ते अकर्म** हे प्रभो! आपका पूजन करते हैं। **स्वपसः अभूम** उत्तम कर्मोंवाले होते हैं। वस्तुतः उत्तम कर्त्तव्य कर्मों को करना ही प्रभु का सच्चा पूजन है। (२) हमारे लिये **विभातीः** विशिष्ट प्रकाशवाली **उषसः** उषाएँ **ऋतम्** यज्ञ को **अवस्त्रन्** आच्छादित करती हैं धारण करती हैं, अर्थात् उषाकालों में ही यज्ञादि उत्तम कर्मों को धारण करनेवाले बनते हैं। ये उषाएँ **अनूनं अग्निम्** न्यूनता से रहित, पूर्ण अग्नि को, परमात्मा को हमारे लिये धारण करती हैं जो कि **पुरुधा** अनेक प्रकार से **सुश्चन्द्रम्**-उत्तम आह्लाद को प्राप्त करानेवाले हैं। उषाकाल में हम प्रभु का स्मरण करते हैं और यज्ञों में प्रवृत्त होते हैं।

भावार्थ—प्रभु के दिये हुए वेदज्ञान का अभ्यास करते हुए हम उत्तम कर्मों द्वारा प्रभु का अर्चन करें। उषाकाल में प्रभु स्मरण व यज्ञ ही हमारे समय को व्याप्त करनेवाले हों।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

'प्रभु प्रकाश प्रदीप्त' अन्तःकरण

एता ते अग्न उचथानि वेधोऽवोचाम कवये ता जुषस्व।
उच्छोचस्व कृणुहि वस्यसो नो महो रायः पुरुवार प्र यन्धि॥ २०॥

(१) हे **वेधः** विधातः, सृष्टि के रचनेवाले **अग्ने** प्रभो! **कवये** सर्वज्ञ **ते** आपके लिये **एताः उचथानि** इन स्तोत्रों को **अवोचाम**-बोलें। **ता जुषस्व** उन स्तोत्रों को आप प्रीतिपूर्वक सेवन करनेवाले होइये, आपके लिये वे स्तोत्र प्रिय हों। (२) **उत् शोचस्व** आप मेरे हृदयाकाश में दीप्त होइये। **नः** हमें **वस्यसः**-उत्कृष्ट जीवनवाला **कृणुहि** करिये। हे **पुरुवार** पालक व पूरक वरणीय वस्तुओंवाले प्रभो! हमें **महो रायः** महत्त्वपूर्ण धनों को **प्रयन्धि** दीजिये।

भावार्थ—हम प्रभु का स्तवन करें। हमारा हृदय प्रभु के प्रकाश से दीप्त हो। हमारा जीवन उत्तम बने और प्रभु हमें महत्त्वपूर्ण धनों को प्राप्त करायें।

सम्पूर्ण सूक्त प्रभु स्मरण से जीवन को सुन्दर बनाने का उल्लेख कर रहा है। यही भाव अगले सूक्त में भी द्रष्टव्य है—

[३] तृतीयं सूक्तम्

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

मृत्यु से पूर्व ही

आ वो राजानमध्वरस्य रुद्रं होतारं सत्ययजं रोदस्योः।
अग्निं पुरा तनयित्नोरचित्ताद्धिरण्यरूपमवसे कृणुध्वम् ॥ १ ॥

(१) **वः**-तुम्हारे **अध्वरस्य**-इस जीवन-यज्ञ के **राजानम्** दीप्त करनेवाले **रुद्रम्** (रुत् द्रावयति) सब कष्टों का निवारण करनेवाले प्रभु को **अवसे**-रक्षा के लिये **आकृणुध्वम्** अपने हृदयों में उपासित करो। उस प्रभु को, जो कि **होतारम्**=सब आवश्यक पदार्थों के देनेवाले हैं। जो **रोदस्योः**-द्यावापृथिवी के साथ **सत्य यजम्**-सत्य का मेल करनेवाले हैं, अर्थात् जो प्रभु मस्तिष्करूप द्युलोक में ज्ञान को तथा शरीररूप पृथिवी में दृढ़ता को स्थापित करनेवाले हैं। **अग्निम्**-जो निरन्तर उन्नति-पथ पर ले चलनेवाले हैं तथा **हिरण्यरूपम्**-ज्योतिर्मय रूपवाले हैं। (२) इस प्रभु का स्मरण **तनयित्नोः**=आकस्मिक पतनवाली अशनि (विद्युत्) के समान न जाने कब आ जानेवाली **अचित्तात्** अचेतना, अर्थात् मृत्यु से **पुरा**-पहले ही उस प्रभु को अपने हृदयों में प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न करो। 'इह चेदवेदथ सत्यमस्ति न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः'। 'न जाने कब मृत्यु आ जाये', सो हमें सदा उस प्रभु की भावना से हृदय को भावित करने का प्रयत्न करना चाहिये। 'नहि प्रतीक्षते मृत्युः' मृत्यु हमारे प्रभु स्मरण के लिये प्रतीक्षा न करेगी। सदा प्रभु का स्मरण करेंगे तो प्रभु जैसे ही बन पायेंगे।

भावार्थ—हम मृत्यु से पूर्व ही प्रभु स्मरण का प्रयत्न करें। हमारा जीवन संसार की आसक्ति में ही न समाप्त हो जाए। प्रभु स्मरण का अभाव हमें विषयों के आक्रमण से न बचायेगा।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

शरीर को प्रभु का निवास स्थान बनाना

अयं योनिश्चकृमा यं वयं ते जायेव पत्य उशती सुवासाः।
अर्वाचीनः परिवीतो नि षीदेमा उ ते स्वपाक प्रतीचीः॥ २॥

(१) हे प्रभो! **अयम्**-यह मेरा शरीर (हृदय) **योनिः**-आपका गृह है, **यम्**-जिसको **वयम्**-हम **ते** आपके लिये **चकृमा**=करते हैं। शरीर को बड़ा परिशुद्ध करके, इस नीरोग शरीर में हृदय को बड़ा निर्मल बनाकर, उसमें प्रभु को बिठाना चाहिये। हम इस गृह को इस प्रकार आपके लिये संस्कृत करते हैं **इव**-जिस प्रकार **उशती**-कामयमाना, पति प्राप्ति के लिये कामना करती हुई **सुवासाः** शोभन वस्त्रोंवाली **जाया** पत्नी **पत्ये**=पति के लिये स्थान को बनाती है। जीवात्मा पत्नी स्थानापन्न है। उसने प्रभुरूप पति को प्राप्त करने की कामनावाला होना। पति के स्वागत के लिये गृह को स्वच्छ करना। इसी प्रकार जीव प्रभु के स्वागत के लिये हृदय-मन्दिर को बड़ा पवित्र बनाता है। (२) हे प्रभो! **अर्वाचीनः**-हमारे अभिमुख होते हुए **परिवीतः**=(वी परिदेवने) तेजस्विता से चमकते हुए आप **निषीद**-हमारे हृदय में स्थित होइये। हे **स्वपाक**=(सु अपाक) शोभन

कर्मोंवाले प्रभो! **उ** निश्चय से **ते** आपकी **इमाः** ये ज्ञानरश्मियाँ **प्रतीचीः** हमारे प्रति प्राप्त होनेवाली होती हैं।

भावार्थ—हम अपने हृदय को शुद्ध करके उसे प्रभु का गृह बनायें। उस सर्वतः तेजोमय प्रभु की कान्तियाँ हमें प्राप्त हों।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

प्रभु का उपासक 'ग्रावा-स्तोता-मधुषुत्'

आशृण्वते अदृपिताय मन्म नृचक्षसे सुमृळीकाय वेधः।
देवाय शस्तिमृताय शंस ग्रावेव सोता मधुषुद्यमीळे॥ ३॥

(१) हे **वेधः** स्तोत्रों को करनेवाले धीमन्! तू **देवाय** उस प्रकाशमय प्रभु के लिये **मन्म** स्तोत्र का **शंस**-शंसन कर। उस देव के लिये जो कि **आशृण्वते** हमारी पुकार को सदा सुनते हैं, **अदृपिताय** जो कभी हमारे हित में प्रमाद नहीं करते, **नृचक्षसे** सब मनुष्यों का ध्यान करनेवाले हैं और **सुमृडीकाय** उत्तम सुख प्राप्त करानेवाले हैं। (२) **ग्रावा इव** ज्ञान के स्तुति वचनों का उच्चारण करनेवाले के समान तू **अमृताय** उस अमृत प्रभु के लिये **शस्तिम्** प्रशंसा के वचनों को **शंस** उच्चरित कर। उस प्रभु के लिये स्तुति कर **यम्**-जिस प्रभु को **सोता** सोम का सम्पादन करनेवाला, शरीर में सोम को सुरक्षित रखनेवाला **मधुषुत्** सदा मधुर शब्दों को उत्पन्न करनेवाला, जीवन को मधुर बनानेवाला, **ईडे**-उपासित करता है।

भावार्थ—प्रभु का उपासन 'ज्ञान की वाणियों का उच्चारण करनेवाला, सोम का सम्पादक, जीवन को मधुर बनानेवाला' करता है। प्रभु की उपासना से हम दिव्य गुणोंवाले व नीरोग (अमृत) बन पाते हैं।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—स्वराड्बृहती ॥ स्वरः—मध्यमः ॥

शरीर-गृह में 'मित्र प्रभु' के साथ निवास

त्वं चिन्नः शम्या अग्ने अस्या ऋतस्य बोध्यृतचित्स्वाधीः।
कदा त उक्था सधमाद्यानि कदा भवन्ति सख्या गृहे ते॥ ४॥

(१) हे **अग्ने** यथार्थ ज्ञान को **बोधि**=जनाइये। मुझे मेरे कर्त्तव्य का यथार्थ ज्ञान दीजिये। आप ही **ऋतचित्**=ऋत को जाननेवाले हैं, आपका ज्ञान यथार्थ है। **स्वाधीः**-आप उत्तम कर्मोंवाले (सुकर्मा सुध्यानोष सा०) हैं, सब प्रजाओं का उत्तमता से ध्यान करनेवाले हैं। (२) हे प्रभो! **कदा**-वह दिन कब होगा जब कि हम **ते**-आपके **उक्था**=स्तोत्रों को करनेवाले होंगे और **सधमाद्यानि**-आपके सहनिवास के आनन्दों का अनुभव करेंगे। **कदा** कब **गृहे** इस शरीर रूप गृह में **ते**-आपकी **सख्या** मित्रताएँ **भवन्ति**-होती हैं। वह दिन सचमुच सौभाग्य का होगा जब कि इस शरीरगृह में मैं आपकी मित्रता के साथ निवासवाला हूँगा।

भावार्थ—प्रभु हमें कर्त्तव्य का यथार्थ ज्ञान देते हैं। हम प्रभु का स्तवन करते हुए प्रभु के सहवास के आनन्द का अनुभव करें। इस शरीरगृह में हमें प्रभु की मित्रता का अनुभव हो।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

प्रभु की प्रेरणा से

कथा ह तद्वरुणाय त्वमग्ने कथा दिवे गर्हसे कन्न आगः।
कथा मित्राय मीळ्हुषे पृथिव्यै ब्रवः कदर्यम्णे कद्भगाय॥ ५॥

(१) हे **अग्ने** अग्रणी प्रभो! **कथा**-कैसे **ह**-निश्चयपूर्वक **तत्**-वह बात होगी कि **त्वम्** आप **वरुणाय** वरुण के लिये **ब्रवः** हमें उपदेश देंगे, अर्थात् कब आपकी प्रेरणा से मैं 'वरुण' बनूँगा, पापों से अपना निवारण करनेवाला (पाप निवारयति)। **कथा दिवे** कैसे आप द्युलोक के लिये, प्रकाशमय लोक के लिये कहेंगे, अर्थात् कब आपकी प्रेरणा से मैं अपने मस्तिष्क रूप द्युलोक को प्रकाशमय बनाऊँगा। आप **नः गर्हसे**-हमारे से गर्हा करते हैं, **कत् नः आगः**-क्या हमारा अपराध है? हमारी तो यही कामना है कि हम आपके प्रिय बनें। आपके प्रिय बनकर आपसे प्रेरणा को प्राप्त करके 'वरुण व दिव्' बनें, 'निष्पाप-प्रकाशमय'। (२) **कथा**=कैसे आप हमें **मीढुषे**=सुखों का वर्षण करनेवाले **मित्राय** मित्र के लिये कहते हैं, अर्थात् कब मैं आपकी प्रेरणा से सब पर सुखों का वर्षण करनेवाला मित्र बनता हूँ? कब आप हमें **पृथिव्यै**-पृथिवी के लिये कहते हैं? कब हम आपकी प्रेरणा से इस शरीर को पृथिवी की तरह दृढ़ बनानेवाले बनते हैं। **कद्**-कब आप हमें **अर्यम्णे** अर्यमा के लिये कहते हैं? अर्थात् कब हम आपसे प्रेरित होकर दान की वृत्तिवाले बनते हैं? 'अर्यमेति तमाहुर्यो ददाति'। **कद्**=कब आप मुझे **भगाय**-ऐश्वर्य के लिये कहते हैं, कब मैं आपके निर्देश में चलता हुआ ऐश्वर्य को प्राप्त करता हूँ?

भावार्थ—हम प्रभु के प्रिय बनें। प्रभु से प्रेरित होकर हम निष्पाप, प्रकाशमय, सबके मित्र, दृढ़ शरीर, दान की वृत्तिवाले व ऐश्वर्यशाली बनें।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—पङ्क्तिः॥ स्वरः—पञ्चमः॥

प्राणसाधक-रुद्र का उपासक

कद्धिष्ण्यासु वृधसानो अग्ने कद्वाताय प्रतवसे शुभंये।
परिज्मने नासत्याय क्षे ब्रवः कदग्ने रुद्राय नृघ्ने ॥ ६॥

(१) हे **अग्ने** परमात्मन्! **कद्**-कब आप **धिष्ण्यासु**=(strength) शक्तियों में **वृधसानः** मेरा वर्धन करनेवाले होंगे। कब आपकी कृपा से मैं निरन्तर बढ़ती हुई शक्तिवाला हूँगा? **कद्** कब आप मुझे **प्रतवसे** प्रकृष्ट बलवाले, **शुभंये**=शुभ को प्राप्त करानेवाले **वाताय**-वायु के लिये **ब्रवः** कहेंगे? अर्थात् कब आपसे प्रेरणा को प्राप्त करके मैं 'वा गतौ' निरन्तर गतिशील हूँगा? और इस प्रकार क्रियाशीलता के द्वारा अपने बल को बढ़ानेवाला व शुभ को प्राप्त करनेवाला बनूँगा? (२) कब आप मुझे **परिज्मने**-शरीर में चारों ओर गति करनेवाले **नासत्याय**=प्राणापान के लिये तथा **क्षे** इस निवास स्थानभूत शरीर रूप पृथिवी के लिये कहेंगे? अर्थात् कब आपकी प्रेरणा से मैं प्राणापान की साधना करनेवाला बनकर शरीर में उत्तम निवासवाला बनूँगा? हे **अग्ने**=परमात्मन्! कब आप मुझे **नृघ्ने**-शत्रु नायकों को विनष्ट करनेवाले **रुद्राय**-(रोदयति) उस रुलानेवाले प्रभु के लिये कहेंगे? अर्थात् कब मैं आपके रुद्र रूप का स्मरण करता हुआ काम क्रोध आदि शत्रु सेनानियों को समाप्त कर पाऊँगा?

भावार्थ—प्रभु मेरी शक्ति का वर्धन करें। मैं 'गतिशील, प्राणसाधक व रुद्र का उपासक' बनूँ।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

रेतःकणों के रक्षण के द्वारा

कथा महे पुष्टिंभराय पूष्णे कद्रुद्राय सुमखाय हविर्दे।
कद्विष्णव उरुगायाय रेतो ब्रवः कदग्ने शर्वे बृहत्यै॥ ७॥

(१) **कथा** किस प्रकार **महे**=अत्यन्त महत्त्वपूर्ण **पुष्टिम्भराय** पोषण का धारण करनेवाले

पूष्णे पूषा के लिये **रेतः** शक्ति को हे **अग्ने** परमात्मन्! **ब्रवः** साधनरूप से आप प्रतिपादित करते हैं, अर्थात् 'रेत:कणों के रक्षण के होने पर ही सूर्य के द्वारा हमें पोषण प्राप्त होता है' यह बात आप हमें उपदेश के रूप में कहते हैं (२) **कद्** कब **रुद्राय** सब रोगों को भगानेवाले **हविर्दे** वायु आदि देवों में हविर्द्रव्य को अग्निरूप मुख से प्राप्त करानेवाले **सुमखाय**- उत्तम यज्ञ के लिये **रेतः** शक्ति को साधनरूप से आप प्रतिपादित करते हैं। रेतः रक्षण करनेवाला व्यक्ति ही यज्ञात्मक कर्मों में प्रवृत्त होता है। (३) **कद्** कब **विष्णवे**-(विष्लृ व्याप्तौ) व्यापक व उदारवृत्तिवाले **उरुगायाय** व्यापक गतिवाले के लिये **रेतः**-शक्ति को **ब्रवः**-साधनरूप से प्रतिपादित करते हैं, अर्थात् रेत:रक्षण के द्वारा हम उदारवृत्तिवाले व खूब गतिशील बनते हैं। (४) कद्-कब **बृहत्ये** महान व वृद्धि की कारणभूत **शरवे** काम क्रोध आदि की हिंसा के लिये **रेतः ब्रवः** शक्ति को साधनरूप से प्रतिपादित करते हैं। सोमरक्षण के द्वारा ही काम क्रोध आदि पर हम विजय पाते हैं।

भावार्थ—सोमरक्षण के द्वारा (रेत:कणों की ऊर्ध्वगति के द्वारा) हम (क) सूर्यादि के सम्पर्क में अपना पोषण करते हैं, (ख) यज्ञशील बनकर रोगों को दूर भगाते हैं, (ग) व्यापक मनोवृत्तिवाले बनते हैं, (घ) काम-क्रोध आदि का हिंसन कर पाते हैं।

ऋषिः—**वामदेवः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

प्राणशक्ति-ज्ञान व स्वास्थ्य

कथा शर्धाय मरुतामृताय कथा सूरे बृहते पृच्छ्यमानः।
प्रति ब्रवोऽदितये तुराय साधा दिवो जातवेदश्चिकित्वान्॥ ८॥

(१) हे **जातवेदः**-सर्वज्ञ प्रभो! **चिकित्वान्** हमारी स्थिति को पूरा पूरा जानते हुए आप **कथा** कैसे मुझे **ऋताय** ऋतभूत जीवन से असत्य को दूर करनेवाले, **मरुतां शर्धाय** प्राणों के बल के लिये **प्रतिब्रवः** मुझे कहेंगे? आप से उपदेश को प्राप्त करके मैं प्राणों के बल को प्राप्त करनेवाला बनूँ। यह प्राणशक्ति ही मेरे जीवन को अनृत से शून्य करके ऋतवाला बनाती है। (२) **पृच्छ्यमानः** हे प्रभो! प्रार्थना किये जाते हुए आप **बृहते** वृद्धि के कारणभूत **सूरे** ज्ञानगर्भ के लिये मुझे **कथा** कैसे **प्रतिब्रवः** उपदेश करेंगे। आपसे उपदिष्ट हुआ हुआ मैं ऊँचे से ऊँचे ज्ञान को प्राप्त करनेवाला बनूँ। हे प्रभो! आप **तुराय** सब शत्रुओं का संहार करनेवाले **अदितये** स्वास्थ्य के लिये **दिवः साध** ज्ञान को सिद्ध करिये। आप से ज्ञान को प्राप्त करके हम युक्ताहार विहारवाले बनकर स्वस्थ बनें। शरीर में उत्पन्न होनेवाली सब कमियों को हम दूर करनेवाले हों।

भावार्थ—प्रभु से प्रेरित होकर हम 'प्राणशक्ति' का वर्धन करें, ज्ञान को तथा स्वास्थ्य को प्राप्त करके सब कमियों को विनष्ट करें।

ऋषिः—**वामदेवः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः **धैवतः** ॥

वेदवाणी रूप गौ का ज्ञानदुग्ध

ऋतेन ऋतं नियतमीळ आ गोरामा सचा मधुमत्पक्वमग्ने।
कृष्णा सती रुशता धासिनैषा जामर्येण पयसा पीपाय॥ ९॥

(१) **ऋतेन** यज्ञ के द्वारा अथवा बड़े नियमित आचरण के द्वारा **गोः**-वेदवाणीरूपी गौ से **ऋतम्** सत्यज्ञान की **नियतम्**-निश्चय से **आ ईडे** समन्तात् याचना करता हूँ। नियमित जीवन बिताता हुआ सत्य ज्ञान को प्राप्त करता हूँ। हे **अग्ने**-अग्रणी प्रभो! **आमा**-यह अग्नि पक्व न होती हुई भी वेदवाणी रूप गौ **सचा**-हमारे जीवन में समवेत होती हुई **मधुमत्** माधुर्यवाले **पक्वम्** पूर्ण

परिपक्व ज्ञानदुग्ध को **पीपाय**-हमारे लिये बढ़ाती है (प्यायी वृद्धौ) (२) **कृष्णा सती** (कृष् प्राप्तौ) प्राप्त हुई हुई **एषा**-यह **रुशता** देदीप्यमान, **धासिना**-धारण करनेवाले, **जामर्येण**=(जायन्त इति जाः प्रजाः, अमर्येण) प्रजाओं के अमरण हेतुभूत **पयसा**-ज्ञानदुग्ध से **पीपाय**-वेदवाणीरूप गौ हमारा आप्यायन करती है।

भावार्थ—ऋत के पालन से, नियमित जीवन से वेदज्ञान प्राप्त होता है। वेदवाणी रूप गौ का ज्ञानदुग्ध मधुर व पक्व होता है। यह ज्ञानदुग्ध देदीप्यमान-धारक व अमरण हेतुभूत है।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

अचर होते हुए चर होना (अस्पन्दमानः अचरत्)

ऋतेन हि ष्मा वृषभश्चिदक्तः पुमाँ अग्निः पयसा पृष्ठ्येन।
अस्पन्दमानो अचरद्वयोधा वृषा शुक्रं दुदुहे पृश्निरूधः॥ १०॥

(१) **वृषभः** अपने को शक्तिशाली बनानेवाला, **पुमान्**-जीवन को पवित्र बनानेवाला (पुनाति), **अग्निः** अग्रगतिवाला व्यक्ति **हि ष्मा चित्**-निश्चय से **ऋतेन**-सत्य **पृष्ठ्येन**-धारक **पयसा** ज्ञानदुग्ध से **अक्तः**-संपृक्त होता है (अञ्ज गतौ)। यह इस सत्य धारक वेदज्ञान को प्राप्त करता है। (२) इस ज्ञान को प्राप्त करने से **अस्पन्दमानः**-विचलित व चंचल न होता हुआ यह **अचरत्** गति करता है, कर्त्तव्य मार्ग पर दृढ़ता से चलता है इसीलिए **वयोधाः**-उत्कृष्ट जीवन को धारण करता है। **वृषा**-शक्तिशाली होता हुआ **पृश्निः**=(संस्पष्टाभासां) ज्ञानदीप्तियों के स्पर्श करनेवाले **ऊधः**-वेदवाणीरूप गौ के ऊधस् से **शुक्रम्**-देदीप्यमान पवित्र ज्ञानदुग्ध का **दुदुहे**-दोहन करता है।

भावार्थ—सत्य ज्ञान को प्राप्त करके हम अविचल भाव से कर्त्तव्य मार्ग पर आगे बढ़नेवाले हों।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—पङ्क्तिः॥ स्वरः—पञ्चमः॥

ऋत से अविद्यापर्वत का विदारण

ऋतेनाद्रिं व्यसन्भिदन्तः समङ्गिरसो नवन्त गोभिः।
शुनं नरः परि षदन्नुषासमाविः स्वरभवज्जाते अग्नौ॥ ११॥

(१) **अंगिरसः**-अंग-प्रत्यंग को रसमय बनानेवाले उपासक **ऋतेन**-व्यवस्थित जीवन के द्वारा **अद्रिम्** अविद्या पर्वत को **सं भिदन्तः**-सम्यक् विदीर्ण करते हुए **व्यसन्** अपने से दूर फेंकते हैं और **गोभिः** ज्ञान की वाणियों से **सं नवन्त** संगत होते हैं। (२) **नरः** उन्नतिपथ पर आगे बढ़नेवाले लोग **उषासम्**-उषाकाल में **शुनम्**-उस सुखस्वरूप परमात्मा की **परिषदन्** उपासना करते हैं। **अग्नौ जाते** उस प्रकाशमय प्रभु के आविर्भूत होने पर **स्वः** प्रकाश **आविः अभवत्** प्रकट होता है। प्रभु का आभास होने पर सारा अन्तःकरण प्रकाश से दीप्त हो उठता है।

भावार्थ—व्यवस्थित जीवन के द्वारा हमारा अज्ञान दूर हो और हमें ज्ञान प्राप्त हो। प्रातः प्रभु के उपासन से हृदय प्रकाशित हो उठे।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

अमृत-अमृक्त

ऋतेन देवीरमृता अमृक्ता अर्णोभिरापो मधुमद्भिरग्ने।
वाजी न सर्गेषु प्रस्तुभानः प्र सदमित्स्रवितवे दधन्युः॥ १२॥

(१) **ऋतेन** नियमित जीवन के द्वारा, हे **अग्ने** परमात्मन्! **मधुमद्भिः अर्णोभिः** माधुर्यवाले ज्ञानजलों के समुद्रों से (अर्णस् ocean राय: समुद्रांश्चतुरः) **देवीः** प्रकाशमय **अमृताः** मृत्यु से बचानेवाले (न मृतं याभिः) **अमृक्ताः** काम क्रोध आदि शत्रुओं से बाधित न होनेवाले **आपः** ज्ञानजल **सदं इत्** सदा ही **सवितवे** गतिशीलता के लिये **प्रदधन्युः** (प्रगच्छन्ति) प्राप्त होते हैं। इसी प्रकार प्राप्त होते हैं **इव** जैसे **वाजी** शक्तिशाली घोड़ा **सर्गेषु** (attacks) आक्रमणों में **प्रस्तुभानः** प्रोत्साहित किया जाता हुआ आगे बढ़ता है। (२) यहाँ 'मधुमान अर्णस्' वेद हैं। इन वेदों से हमें नियमित जीवन के होने पर, यह ज्ञान प्राप्त होता है जो कि प्रकाशमय है, मृत्यु से हमें बचाता है, काम क्रोध आदि शत्रुओं से बाधित नहीं होने देता। इस ज्ञान को प्राप्त करके हम सदा क्रियाशील होते हैं (सवितवे)।

भावार्थ –नियमित जीवन के द्वारा वेदज्ञान को प्राप्त करके हम प्रकाशमय जीवनवाले, रोगों मृत्यु से रहित, वासनाओं से अनाक्रान्त जीवनवाले बनते हैं।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

स्मरणीय बातें

मा कस्य यक्षं सदमिद्धुरो गा मा वेशस्य प्रमिनतो मापेः।
मा भ्रातुरग्ने अनृजोर्ऋणं वेर्मा सख्युर्दक्षं रिपोर्भुजेम॥ १३॥

(१) प्रभु कहते हैं कि **कस्य** किसी भी **हुरः** हिंसक के **यक्षम्** सम्पर्क को **सदं इत्** सदा ही **मा गाः** मत प्राप्त हो हिंसा की मनोवृत्तिवाले पुरुष के सम्पर्क में मत रह। **प्रमिनतः** तेरे ह्रास को करनेवाले, तेरी कमी को चाहनेवाले, **वेशस्य**–पड़ोसी के सम्पर्क को **मा** मत प्राप्त हो। तेरे ह्रास की कामनावाले **आपेः**–मित्र का दम्भ करनेवाले पुरुष के सम्पर्क में भी **मा** मत हो। (२) हे **अग्ने** प्रगतिशील जीव! तू **अनृजोः**–कुटिल **भ्रातुः** भाई के **ऋणम्** ऋण को **मापेः** मत भोगनेवाला हो। कुटिल वृत्तिवाले से भी कभी ऋण नहीं लेना। **सख्युः** मित्र के व **रिपोः** शत्रु के **दक्षम्** बल को **मा भुजेम** भोगनेवाले न हों। इनके बल पर हम निर्भर न करें। सदा स्वाश्रित हों।

भावार्थ—हिंसक मनोवृत्तिवाले तथा हमारी कमी को चाहनेवाले पड़ोसी व मित्र के सम्पर्क से बचें। कुटिल भाई से भी कभी ऋण न लें। शत्रु व मित्र किसी भी अन्य के बल पर निर्भर न करके स्वाश्रित हों।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

पापों व राक्षसीभावों का विनाश

रक्षा णो अग्ने तव रक्षणेभी रारक्षाणः सुमख प्रीणानः।
प्रति ष्फुर वि रुज वीड्वंहो जहि रक्षो महि चिद्वावृधानम्॥ १४॥

(१) हे **अग्ने** परमात्मन्! आप **तव रक्षणेभिः** अपने रक्षणों से **नः रक्ष** हमारा रक्षण करिये। हे **सुमख** उत्तम यज्ञोंवाले प्रभो! आप **रारक्षाणः** हमारा खूब ही रक्षण करते हुए, **प्रीणानः**–हमारे उत्तम कर्मों से प्रीणित होते हुए **प्रतिष्फुर** दीप्त होइये। (२) हमारे हृदयों में दीप्त होकर आप **वीडु अंहः** प्रबल पापों को **विरुज** हमारे से दूर कर दीजिये, उन्हें भग्न कर दीजिये, हमारे से दूर भगा दीजिये। और **महि वावृधानम्** बहुत अधिक बढ़ते हुए, प्रबल होते हुए, **चित्**=भी **रक्षः**=राक्षसी भाव को **जहि**=नष्ट कर दीजिये।

भावार्थ—प्रभु से रक्षित होकर हम प्रबल पापों व राक्षसी भावों को विनष्ट कर सकें।

ऋषिः —वामदेवः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

देववाता शस्ति

एभिर्भव सुमना अग्ने अर्कैरिमान्त्स्पृश मन्मभिः शूर वाजान्।
उत ब्रह्माण्यङ्गिरो जुषस्व सं ते शस्तिर्देववाता जरेत॥ १५॥

(१) हे **अग्ने** प्रगतिशील जीव! **एभिः अर्कैः**-इन स्तुति साधनभूत मन्त्रों से **सुमनाः भव** उत्तम मनवाला हो। जिस समय हम मन्त्रों द्वारा प्रभु स्तवन करते हैं, उस समय मानसवृत्ति अच्छी बनती ही है। (२) हे **शूर**-काम आदि शत्रुओं को शीर्ण करनेवाले जीव! तू **इमान् वाजान्** इन बलों को **मन्मभिः** ज्ञानों के साथ **स्पृश**-छूनेवाला बन, ज्ञानों और बलों को प्राप्त करनेवाला बन। मस्तिष्क तेरा ज्ञान-सम्पन्न हो, शरीर बल सम्पन्न। (३) **उत** और हे **अंगिरः** प्रगतिशील जीव! तू **ब्रह्माणि**-इन ज्ञान की वाणियों को **जुषस्व**-प्रीतिपूर्वक सेवन करनेवाला हो। **ते** तेरी **देववाता** दिव्य गुणों की प्रेरणा को देनेवाली **शस्तिः**=प्रभु की प्रशस्ति **संजरेत**-सम्यक् स्तुत हो। (जरिता स्तोता) प्रभु का स्तवन जिन दिव्य गुणों के द्वारा किया जाता है, उस उस दिव्यगुण को प्राप्त करने की प्रेरणा प्राप्त होती ही है। एवं यह शस्ति 'देववाता' है। प्रभु को 'दयालु' नाम से स्मरण करता हुआ व्यक्ति दया के गुण को अपना पाता है।

भावार्थ—प्रभु स्तवन करते हुए हम उत्तम दिव्य गुणोंवाले, प्रशस्त मनवाले बनें। शक्ति व ज्ञान का सम्पादन करें।

ऋषिः —वामदेवः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

वैदिक जीवन

एता विश्वा विदुषे तुभ्यं वेधो नीथान्यग्ने निण्या वचांसि।
निवचना कवये काव्यान्यशंसिषं मतिभिर्विप्र उक्थैः॥ १६॥

(१) हे **वेध**=मेधाविन्! **अग्ने**=प्रगतिशील जीव! **विदुषे**-ज्ञानी **तुभ्यम्**-तेरे लिये **एता**-ये **विश्वा** सब **निण्या**-अन्तर्निहित गूढ अर्थवाले **वचांसि**-वेदवचन **नीथानि**-मार्ग पर ले चलनेवाले हैं, मार्गदर्शक हैं। इनके भाव को समझकर तदनुसार तूने जीवनयात्रा में मार्ग का आक्रमण करना है। (२) **कवये**-क्रान्तदर्शी पुरुष के लिये **काव्यानि**-प्रभु के ये वेद वचन रूप काव्य (देवस्य पश्य काव्यं न ममार न जीर्यति) **निवचना**-निश्चय से कर्त्तव्यों का प्रतिपादन करनेवाले हैं। हे **विप्र** अपना विशेषरूप से पूरण करनेवाले जीव! मैंने **मतिभिः**-बुद्धियों के साथ **उक्थैः**-स्तोत्रों के साथ **अशंसिषम्**-इन वचनों का तेरे लिये शंसन किया है। इन वचनों से अपने कर्त्तव्यों को जानकर तदनुसार से अपना जीवन बिताना है। बुद्धि को परिष्कृत रखते हुए, प्रातः सायं स्तवन करते हुए, कर्ममय जीवनवाला तूने बनना है।

भावार्थ—प्रभु ने बुद्धि दी है, स्तुति की भावना प्राप्त करायी है। हम बुद्धि व स्तुति को अपनाते हुए वेदानुकूल कर्मों में प्रवृत्त हों।

सूक्त का भाव यही है कि प्रभु को हृदय में प्रतिष्ठित करें और प्रभु प्रेरणा के अनुसार चलें। अगले सूक्त को भी इन्हीं शब्दों से प्रारम्भ करते हैं कि ये अग्नि प्रभु हमारे राक्षसी भावों को दूर करें। राजा राष्ट्र से राक्षसी वृत्ति के लोगों को दूर करे—

[४] चतुर्थं सूक्तम्

ऋषिः —वामदेवः ॥ देवता—रक्षोहाऽग्निः ॥ छन्दः—भुरिक्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

राजा के दो मूल कर्त्तव्य

कृणुष्व पाजः प्रसितिं न पृथ्वीं याहि राजेवामवाँ इभेन।
तृष्वीमनु प्रसितिं द्रूणानोऽस्तासि विध्य रक्षसस्तपिष्ठैः॥ १॥

(१) **पाजः** शक्ति को **कृणुष्व** करनेवाला हो। अपने शरीर में शक्ति का सम्पादन कर। **पृथ्वीम्** विशाल **प्रसितिं न** सेना की तरह 'प्रकृष्टा सितिः बन्धनं यस्याः' (जो क्रम में बद्ध होकर चलती है)। राजा शक्ति का सम्पादन करके अपने अनुभावविशेष से सेना परिवृत सा प्रतीत हो। **इभेन** (गतभयेन सा०) भयशून्य तेजस्विता से **अमवान्**-शक्तिशाली होता हुआ तू **राजा इव** राजा की तरह **याहि** गतिवाला हो। अपना शासक बनता हुआ कार्यों में व्यापृत हो। (२) **तृष्वीं प्रसितिं अनु** क्षिप्रगामिनी सेना के साथ **द्रूणानः**-गति करता हुआ **अस्ता असि** तू शत्रु सैन्य का नष्ट करनेवाला है। तू **रक्षसः**-अपने रमण के लिये औरों का क्षय करनेवाले राक्षसी वृत्ति के लोगों को **तपिष्ठैः** संतापक अस्त्रों से **विध्य**-बींधनेवाला हो। राजा के राष्ट्र रक्षण के लिये दो महत्त्वपूर्ण कर्त्तव्य होते हैं, (क) शत्रु सैन्य के आक्रमण को विफल करके शत्रु सैन्य का विनाश करना तथा (ख) अन्दर के अपराधियों को उचित दण्ड देना। ये दोनों कार्य वही कर सकता है जो कि अपना राजा हो, जितेन्द्रिय हो। ऐसा ही व्यक्ति तेजस्विता के साथ विचरता हुआ प्रजा के लिये प्रभाववाला होता है। निस्तेज विषयासक्त व्यक्ति ने क्या शासन करना?

भावार्थ—राजा तेजस्विता का सम्पादन करे। पहले अपना राजा बने। सेना के साथ गति करता हुआ शत्रु शैन्य को परास्त करे और राक्षसी वृत्ति के लोगों को दण्डित करे।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—रक्षोहाऽग्निः ॥ छन्दः—भुरिक्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

अभ्रः निरीक्षण तथा शत्रु संहार

तव भ्रमास आशुया पतन्त्यनु स्पृश धृषता शोशुचानः।
तपूंष्यग्ने जुह्वा पतङ्गानसंन्दितो वि सृज विष्वगुल्काः॥ २॥

(१) हे राजन्! **तव भ्रमासः**-तेरी गतियाँ (movements) (स ताननुपरिक्रामेत् सर्वानेव सदा स्वयम् राजा स्वयं भ्रमण करके अध्यक्षों के कार्यों को देखनेवाला हो) **आशुया** शीघ्रता से **पतन्ति** होती हैं, अर्थात् तू राष्ट्र में स्वयं चक्कर लगाता हुआ सब के कार्यों को देखनेवाला होता है। **शोशुचानः** खूब दीप्त होता हुआ तू **धृषता** धर्षण सामर्थ्य से **अनुस्पृश** सब का स्पर्श करनेवाला हो, अर्थात् जहाँ भी तू कमी देखे, उसे तू तत्काल दूर करनेवाला बन। (२) अवसर आने पर हे **अग्ने** राष्ट्र की प्रगति के कारणभूत राजन्! **जुह्वा** अपनी शक्ति की अग्नि की ज्वालाओं के कारण (हूयते शत्रवः अस्यां) **असन्दितः** न खण्डित हुआ हुआ तू **तपूंषि**-शत्रु संतापक अस्त्रों को (तलवार आदि) **पतंगान्** (पतन् गच्छति) आकाश में फेंके जाने पर गति करनेवाले बाण आदि को तथा **उल्काः** उल्काओं की तरह प्रतीत होनेवाले बम्ब आदि (bombs) को **विष्वग्** चारों ओर **विसृज** विसृष्ट करनेवाला हो। इन त्रिविध अस्त्र शस्त्रों से तू शत्रुओं को सन्तप्त कर।

भावार्थ—राजा राष्ट्र में भ्रमण करके निरीक्षण करता हुआ बुराइयों को दूर करे। शत्रुओं को त्रिविध शस्त्रास्त्र से विनष्ट करने के लिये यत्नशील हो।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—रक्षोहाऽग्निः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

गुप्तचरों का प्रेषण

प्रति स्पशो वि सृज तूर्णितमो भवा पायुर्विशो अस्या अदब्धः।
यो नो दूरे अघशंसो यो अन्त्यग्ने माकिष्टे व्यथिरा दधर्षीत्॥ ३॥

(१) हे **अग्ने** राष्ट्र की अग्रगति के साधक राजन्! तू **स्पशः**-गुप्तचरों को **प्रति विसृज** प्रत्येक दिशा में भेज। **तूर्णितमः भव** कार्यों को शीघ्रता से करनेवाला हो। **अदब्धः**-काम क्रोध आदि से न हिंसित होता हुआ तू **अस्याः विशः**-इस प्रजा का **पायुः** रक्षक हो। (२) **यः** जो **अघशंसः** बुराई का शंसन करनेवाला **नः दूरे**-हमारे से दूर है अथवा **यः अन्ति**-जो समीप है, वह **व्यथिः**-पीड़ित करनेवाला **ते**-तुझे **माकिः**-मत **आदधर्षीत्**-धर्षित करनेवाला हो। कोई भी अघशंस तुझे पराभूत न कर सके। वह तेरे लिये दण्डनीय हो। उसे दण्ड देकर तू प्रजा का रक्षण करनेवाला बन।

भावार्थ—राजा गुप्तचर रूप आँखों से राष्ट्र को सम्यक् देखता हुआ, उचित व्यवस्थाओं को शीघ्रता से करनेवाला हो। कोई भी अघशंस राजा को अपने वशीभूत न करले। इन अघशंसों को राजा उचित दण्ड दे।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—रक्षोहाऽग्निः ॥ छन्दः—भुरिक्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

सदा उठा हुआ (जागृवि)

उदग्ने तिष्ठ प्रत्या तनुष्व न्य१मित्राँ ओषतात्तिग्महेते।
यो नो अरातिं समिधान चक्रे नीचा तं धक्ष्यतसं न शुष्कम्॥ ४॥

(१) हे **अग्ने**-राजन्! **उत्तिष्ठ**-आलस्य रहित होकर 'जागृवि' होता हुआ उठ खड़ा हो। **प्रति आ तनुष्व**-समन्तात् अपनी शक्ति का विस्तार कर। हे **तिग्महेते** तीक्ष्ण शस्त्रोंवाले राजन्! **अमित्रान्** शत्रुओं को **नि ओषतात्** निश्चय से आप जलाने, भस्म करनेवाले हों। (२) हे **समिधान** शक्ति व ज्ञान से अपने को दीप्त करनेवाले राजन्! **यः** -जो **नः** -हमारी **अरातिम्** शत्रुता को **चक्रे** करता है, **तम्**-उस शत्रुभूत पुरुष को आप **नीचा**-न्यग्भूत करके (to put under) **धक्षि** ऐसे जला देते हैं, **न**-जैसे कि **शुष्कं अतसम्**=सूखे काठ को जला दिया करते हैं।

भावार्थ—राजा सदा सावधान (जागृवि) होता हुआ राष्ट्र पर आक्रमण करनेवाले शत्रुओं को भस्म कर डाले। राष्ट्र-रक्षा ही राजा का प्राथमिक कर्त्तव्य है।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—रक्षोहाऽग्निः ॥ छन्दः—भुरिक्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

शत्रु विनाश में लिहाज नहीं

ऊर्ध्वो भव प्रति विध्याध्यस्मदाविष्कृणुष्व दैव्यान्यग्ने।
अव स्थिरा तनुहि यातुजूनां जामिमजामिं प्र मृणीहि शत्रून्॥ ५॥

(१) **ऊर्ध्वः भव**=लेटा न रह, उठ खड़ा हो। **अस्मद् अधि**-हमारे पर गालिब होनेवाले इन राक्षसों को **प्रतिविध्य**=तू विद्ध करनेवाला हो। हे **अग्ने** राष्ट्रोन्नति साधक राजन्! तू **दैव्यानि आविष्कृणुष्व**-दिव्य शक्तियों को प्रकट करनेवाला हो, तू अलौकिक शक्तिवाला बन। (२) **यातुजूनाम्**-पीड़ा के लिये ही जिनका जव (वेग) है उन यातुधानों, राक्षसों के **स्थिरा** दृढ़ धनुषों को **अवतनुहि** अवपतित ज्यावाला, डोरी से रहित कर। **जामिम्**-चाहे रिश्तेदार हो **अजामिम्** चाहे

रिश्तेदार न हो जो भी **शत्रून्** शत्रु हैं उनको **प्रमृणीहि** कुचल दे। राष्ट्र के शत्रुओं को नष्ट करनेवाला हो, वहाँ रिश्तेदारी का भाव तुझे लिहाज के लिये प्रेरित न करे।

भावार्थ—राष्ट्र के अन्तः व बाह्य शत्रुओं को विनष्ट करने के लिये राजा सदा उद्यत हो।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—रक्षोहाऽग्निः॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

वेदज्ञान का लाभ

स ते जानाति सुमतिं यविष्ठ य ईवते ब्रह्मणे गातुमैरत्।
विश्वान्यस्मै सुदिनानि रायो द्युम्नान्यर्यो वि दुरो अभि द्यौत्॥ ६॥

(१) हे **यविष्ठ** हमारे से बुराइयों को दूर करके अच्छाइयों को मिलानेवाले प्रभो! **सः** वह **ते** आपकी **सुमतिम्** कल्याणीमति को **जानाति** जानता है, **यः** जो **ईवते** (गमनवते) उस ज्ञान का उपदेश देनेवाले **ब्रह्मणे** वेदज्ञान के लिये **गातुम्** मार्ग को **ऐरत्** आक्रान्त करता है (ऋ गतौ)। अर्थात् जो वेदज्ञान की प्राप्ति के मार्ग पर चलता है, वह शुभ बुद्धि को प्राप्त करता है। इस वेद में प्रभु ने सुमति दी है। इस सुमति को अपनाने में ही कल्याण है। (२) जो इस सुमति को अपनाता है **अस्मै** इस पुरुष के लिये **विश्वानि सुदिनानि** सब दिन उत्तम व्यतीत होते हैं। इसके लिये **रायः** ऐश्वर्य होते हैं, **द्युम्नानि** इसे ज्ञान ज्योतियाँ प्राप्त होती हैं। यह **अर्यः** अपनी इन्द्रियों का स्वामी होता हुआ **दुरः** सब इन्द्रिय द्वारों को **वि अभिद्यौत्** विशिष्टरूप से दीप्त करनेवाला होता है।

भावार्थ—वेदज्ञान को प्राप्त करनेवाला व्यक्ति सुमति को प्राप्त करके सब दिनों को सुदिन बनाता है, ऐश्वर्यों को प्राप्त करता है, ज्ञान ज्योतिवाला होता है, दीप्त इन्द्रिय द्वारोंवाला बनता है।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—रक्षोहाऽग्निः॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

कैसा बने?

सेदग्ने अस्तु सुभगः सुदानुर्यस्त्वा नित्येन हविषा य उक्थैः।
पिप्रीषति स्व आयुषि दुरोणे विश्वेदस्मै सुदिना सासदिष्टिः॥ ७॥

(१) हे **अग्ने** परमात्मन्! **सः इत्** गतमन्त्र के अनुसार वेदज्ञान को प्राप्त करनेवाला वह पुरुष निश्चय से **सुभगः** उत्तम सौभाग्यवाला **अस्तु** हो। **सुदानुः** यह खूब दानवाला हो अथवा वासनाओं का खण्डन करनेवाला हो। **यः** जो **त्वा** आपको **नित्येन हविषा** सदा हवि के द्वारा **पिप्रीषति** प्रीणित करना चाहता है, वह 'सुभग व सुदानु' हो। (२) **यः** जो **उक्थैः** स्तोत्रों के द्वारा आपको (पिप्रीषति) प्रीणित करता है, वह **स्वे आयुषि** अपने जीवन में **असत्** सदा बना रहे, पूर्ण आयुष्य को प्राप्त करे। वह **दुरोणे** घर में बना रहे, इसे इधर उधर भटकना न पड़े। **अस्मै** इसके लिये **विश्वा इत्** सब ही **सुदिना** दिन सुदिन हों। **सा** वह **इष्टिः** यज्ञ को **असत्** फल साधन से सम्पन्न हो।

भावार्थ—प्रभु भक्त सुभग व सुदानु बनता है। दीर्घ जीवन को प्राप्त करता है, इसे भटकना नहीं पड़ता। इसके दिन सुन्दर व्यतीत होते हैं, इसके यज्ञ सफल होते हैं।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—रक्षोहाऽग्निः॥ छन्दः—भुरिक्पङ्क्तिः॥ स्वरः—पञ्चमः॥

प्रभु की वाणी हमारे हृदयों में उच्चरित हो

अर्चामि ते सुमतिं घोष्यर्वाक्सं ते वावाता जरतामियं गीः।
स्वश्वास्त्वा सुरथा मर्जयेमास्मे क्षत्राणि धारयेरनु द्यून्॥ ८॥

(१) हे प्रभो! **ते** आपकी **सुमतिम्**-कल्याणीमति का **अर्चामि**-अर्चन करता हूँ। **ते** तेरे **प्रति वावाता** निरन्तर गति करती हुई **इयं गीः**-हमारी यह वाणी **संजरताम्** स्तवन करनेवाली हो। आपके स्तवन से ही तो हम इस कल्याणीमति को प्राप्त करनेवाले होंगे। यह वेदवाणी **अर्वाक** हमारे अन्दर **घोषि** उच्चारित हो, हम हृदयों में इस वाणी की प्रेरणा को प्राप्त करें। (२) और उस वाणी के अनुसार चलते हुए **स्वश्वाः** उत्तम इन्द्रियाश्वोंवाले, **सुरथाः** उत्तम शरीर रथवाले होते हुए **त्वा** आपका **मर्जयेम**=अपने हृदयों में शोधन व अलंकरण करें, आपकी ही परिचर्या करें। आप **अस्मे** हमारे लिये **अनुद्यून्** प्रतिदिन अधिकाधिक **क्षत्राणि** बलों को **धारये:** धारण करिये। आपकी उपासना से हमारा बल प्रतिदिन वृद्धि को प्राप्त होता चले।

भावार्थ—प्रभु पूजन करते हुए हम कल्याणीमति को प्राप्त करें। हृदयों में प्रभु का शोधन करते हुए हम प्रतिदिन प्रवृद्ध बलवाले हों।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—रक्षोहाऽग्निः॥ छन्दः—स्वराट्पङ्क्तिः॥ स्वरः—पञ्चमः॥

क्रीडन्तः सुमनसः

इह त्वा भूर्या चरेदुप त्मन्दोषावस्तर्दीदिवांसमनु द्यून्।
क्रीळन्तस्त्वा सुमनसः सपेमाभि द्युम्ना तस्थिवांसो जनानाम्॥ ९॥

(१) **इह** इस जीवन में **त्वा**-हे प्रभो! आपको यह जीव **त्मन्** अपने अन्दर (आत्मनि) **भूर्या**-खूब ही **अनु द्यून्**-प्रतिदिन **उपाचरेत्**-उपासित करे। जो आप **दोषावस्तः** दिन रात **दीदिवांसम्** ज्ञान ज्योति से दीप्त हो रहे हैं। यह प्रभु का उपासन ही हमें ज्ञानदीप्त बनाता है। और इस ज्ञानदीप्ति को प्राप्त करके हम संसार में फँसते नहीं। (२) उस समय **क्रीडन्तः** संसार में क्रीडा करते हुए, क्रीडक की मनोवृत्ति से चलते हुए, (moving joyfully) **सुमनसः** उत्तम मनोंवाले होकर **त्वा सपेम**=आपका पूजन करें। हम **जनानाम्**=अपनी शक्तियों का विकास करनेवाले लोगों के **द्युम्ना** ज्योतिर्मय धनों को **अभि**-लक्ष्य करके **तस्थिवांसः** स्थित होनेवाले हों। हमारी (faith) आस्था यह हो कि हमने द्युम्नों को प्राप्त करना है, ज्योतिर्मय धनों को, नकि उन धनों को जो कि हमें अन्धा बनाकर कर्त्तव्य विमुख कर देते हैं।

भावार्थ—हम प्रतिदिन प्रभु का उपासन करें। संसार में क्रीडक की मनोवृत्ति से अपने कर्त्तव्यों का पालन करते हुए ज्योतिर्मय धनों को प्राप्त करें।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—रक्षोहाऽग्निः॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

तस्य-त्राता, तस्य सखा (उसका रक्षक, उसका मित्र)

यस्त्वा स्वश्वः सुहिरण्यो अग्न उपयाति वसुमता रथेन।
तस्य त्राता भवसि तस्य सखा यस्त आतिथ्यमानुषग्जुजोषत्॥ १०॥

(१) हे **अग्ने**-अग्रणी प्रभो! **यः**-जो **त्वा**=आपको **स्वश्वः**=उत्तम इन्द्रियाश्वोंवाला बनकर तथा **सुहिरण्यः**-उत्तम ज्योतिवाले होकर (हिरण्यं वै ज्योतिः) **वसुमता रथेन**-निवास के लिये सब आवश्यक वस्तुओं से युक्त शरीर-रथ से **उपयाति**=प्राप्त होता है, **तस्य**=उसके आप **त्राता भवसि**-रक्षक होते हैं। **तस्य सखा**=उसके मित्र होते हैं, **यः**-जो कि **ते आतिथ्यम्** आपके लिये किये जानेवाले आतिथ्य को **आनुषक्**-निरन्तर **जुजोषत्**=प्रीतिपूर्वक सेवन करता है, अर्थात् जो प्रतिदिन आपका अतिथिरूपेण स्वागत करने के लिये तैयार होता है। आप प्रतिदिन 'ब्रह्ममुहूर्त में आते हैं। यह उससे पूर्व ही उठकर आपके स्वागत के लिये उद्यत होता है। यही आपकी मित्रता

का अनुभव करता है।

भावार्थ—प्रभु उसके रक्षक होते हैं जो कि प्रभु की क्रियात्मक उपासना करता हुआ अपना इन्द्रियों व शरीर को ठीक रखता है, ज्ञान को प्राप्त करता है। प्रभु उसके मित्र हैं जो कि प्रतिदिन प्रभु के आतिथ्य के लिये प्रेमपूर्वक उद्यत होता है।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—रक्षोहाऽग्निः॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

उपासना से प्रभु के बन्धुत्व की प्राप्ति

महो रुजामि बन्धुता वचोभिस्तन्मा पितुर्गोतमादन्वियाय।
त्वं नो अस्य वचसश्चिकिद्धि होतर्यविष्ठ सुक्रतो दमूनाः॥ ११॥

(१) हे **होतः** सब कुछ देनेवाले प्रभो! **यविष्ठ** सब बुराइयों को दूर करनेवाले प्रभो! **सुक्रतो** उत्तम प्रज्ञा व शक्तिवाले प्रभो! **वचोभिः** आपके स्तुति वचनों के द्वारा होनेवाली **बन्धुता** बन्धुता से मैं **महः** शक्तिशाली भी राक्षसीभावों को **रुजामि** भग्न करता हूँ, छिन्न भिन्न करता हूँ। **तत्** वह उपासन का भाव **मा** मुझे **पितुः**-अपने पिता, जो कि **गोतमात्** अत्यन्त प्रशस्त इन्द्रियों व ज्ञान की वाणियोंवाले थे, उनसे **अनु इयाय** अनुक्रम से प्राप्त हुआ है। मैं जन्म से ही उपासना की वृत्ति को पा सका हूँ। वस्तुतः जो पिता 'गोतम' बनते हैं, उनके सन्तान उपासना की वृत्तिवाले होते ही हैं। (२) **त्वम्** आप **नः** हमारे **अस्य वचसः** इस स्तुति वचन को **चिकिद्धि** जानिये। हमारा यह स्तुति वचन आपको प्राप्त हो। आप **दमूनाः** (दानमनाः) दान के मनवाले हैं अथवा दान्त मनवाले हैं। आपकी स्तुति करता हुआ मैं दानमनवाला व दान्तमनवाला बनूँ।

भावार्थ—हे प्रभो! आपके स्तुति वचनों का उच्चारण करता हुआ मैं आपके बन्धुत्व को प्राप्त करके प्रबल भी राक्षसीभावों को विनष्ट करनेवाला बनूँ। यह उपासन मुझे दान्तमनवाला बनाता है।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—रक्षोहाऽग्निः॥ छन्दः—निचृत्पङ्क्तिः॥ स्वरः—पञ्चमः॥

प्रभु के बन्धुओं का जीवन (दैव सर्ग)

अस्वप्नजस्तरणयः सुशेवा अतन्द्रासोऽवृका अश्रमिष्ठाः।
ते पायवः सध्र्यञ्चो निषद्याग्ने तव नः पान्त्वमूर॥ १२॥

(१) हे अमूर! (मृङ् बन्धने, रक्) हे अप्रतिहतगते **अग्ने** अग्रणी प्रभो! **तव** आपके बन्धुभूत **ते** वे **पायवः** प्रजाओं के रक्षक लोग **सध्र्यञ्चः** (सह अञ्चन्ति) प्रजाओं के साथ मिलकर गतिवाले होते हुए **निषद्य** प्रजाओं में ही स्थित होकर **नः**-हमारा **पान्तु** रक्षण करें। प्रभु के ये भक्त सर्वभूतहित को ही अपना लक्ष्य बनाते हैं। ये अकेले में समाधि के आनन्द को ही लेते रहना भी ठीक नहीं समझते। (२) ये लोग **अस्वप्नजः** स्वापशील नहीं होते, **अतन्द्रासः** इन्हें तन्द्रा व आलस्य नहीं घेरे रहता। ये **तरणयः** विपत्तियों से तरानेवाले होते हैं, लोगों के कष्टों को दूर करते हैं। **सुशेवाः** उत्तम कल्याण करनेवाले होते हैं। **अवृकाः** लोभ से रहित होते हैं, ये अपने सेवाकार्यों के लिये किन्हीं फलों की कामना नहीं करते (वृन्द आदाने) **अश्रमिष्ठाः** ये थक नहीं जाते। अनथक होते हैं।

भावार्थ—प्रभु भक्त आलस्यशून्य होकर लोकहित के कार्यों में लगे रहते हैं।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—रक्षोहाऽग्निः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

मामतेय का रक्षण

ये पायवो मामतेयं ते अग्ने पश्यन्तो अन्धं दुरितादरक्षन्।
ररक्ष तान्त्सुकृतो विश्ववेदा दिप्सन्त इद्रिपवो नाह देभुः ॥ १३ ॥

(१) सामान्यतः मनुष्य ममता से ऊपर नहीं उठ पाता। ममता में फँसा हुआ वह तत्त्व को नहीं देख पाता तत्त्वदर्शन के अभाव में, पाप में प्रवृत्त हो जाता है। यह ममता में फँसा व्यक्ति यहाँ ममता का पुत्र 'मामतेय' कहलाया है। तत्त्वदर्शन न करने के कारण यह अन्धा है। गतमन्त्र के ज्ञानी पुरुष इन पुरुषों के लिये ज्ञान को देकर उसे पाप से बचाते हैं। ये **पायवः** जो रक्षक हैं **ते** वे **पश्यन्तः** ज्ञानी पुरुष, हे **अग्ने**=परमात्मन्! **मामतेयम्**-ममता में फँसे हुए मुझ ममता के पुत्र 'पुतले' को, **अन्धम्**=तत्त्वदर्शन करने में असमर्थ हुए हुए को ज्ञान देकर **दुरितात्** पाप से **अरक्षन्** बचाते हैं। (२) **विश्ववेदाः**-सर्वज्ञ प्रभु **तान्**=उन **सुकृतः** उत्तम कर्म में व्यापृत लोगों को **ररक्ष** रक्षित करता है। प्रभु से रक्षित हुए-हुए इनको **दिप्सन्तः**-हिंसित करने की कामनावाले **रिपवः** शत्रु **इत्** भी **अह**-निश्चय से **न देभुः**-हिंसित नहीं कर पाते। ये प्रभु का कार्य करते हैं, प्रभु इनका रक्षण करते हैं। इन प्रभु स्मरण करनेवालों को वासनाएँ पीड़ित नहीं कर पातीं।

भावार्थ—ज्ञानी पुरुष ममता ग्रस्त कर्त्तव्यच्युत लोगों को ज्ञानोपदेश देकर पापों से बचाते हैं। इन ज्ञानियों का रक्षण प्रभु करते हैं।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—रक्षोहाऽग्निः ॥ छन्दः—स्वराड्बृहती ॥ स्वरः—मध्यमः ॥

अनुष्ठुया

त्वया वयं सधन्य१स्त्वोतास्तव प्रणीत्यश्याम वाजान्।
उभा शंसा सूदय सत्यतातेऽनुष्ठुया कृणुह्यह्रयाण ॥ १४ ॥

(१) हे **अह्रण** अहीतगमन, अत्यन्त प्रशस्त कार्योंवाले प्रभो! **वयम्** हम **त्वया** आपकी कृपा से **सधन्यः**-समान धनवाले हों। वस्तुतः हम आपको ही अपना महान् धन जानें। इस सांसारिक धन को आप से ही प्राप्त हुआ-हुआ समझें। हमारे समाज में भी धन की बहुत विषमता न आ जाये। हम बहुत कुछ समान-धन बने रहें। (२) **त्वा**-आपसे **ऊतासः**=रक्षित हुए हुए **तव प्रणीती**-आपके प्रणयन से हम **वाजान्**-शक्तियों को **अश्याम**-प्राप्त करें। आपका रक्षण हमें वासनाओं से बचाये। आपका मार्गदर्शन हमें मार्ग पर चलाये और इस प्रकार हम शक्ति का लाभ करें। (२) हे **सत्यताते**=सत्य का विस्तार करनेवाले प्रभो! आप हमारे जीवनों में **उभः शंसा** दोनों शंसनों को **सूदय** प्रेरित करिये। हम प्रातः-सायं दोनों समय प्रभु का उपासन करनेवाले बनें। वस्तुतः यह उपासन ही हमारे जीवन में सत्य का विस्तार करता है। **अनुष्ठुया कृणुहि**-हे प्रभो! (O, Almighty!) आप हमारे जीवन में प्रत्येक क्रिया को क्रम में होनेवाला करिये। आप 'उरुक्रम' हैं, हम भी क्रम को महत्त्व देनेवाले हों।

भावार्थ—प्रभु द्वारा हम समान धनवाले हों, प्रभु से प्रणीत होते हुए शक्ति को प्राप्त करें। प्रातः सायं प्रभु का स्मरण करें और क्रम से कार्यों को करते हुए प्रभु के प्रिय हों। हमारा मार्ग अलज्जाजनक हो।

ऋषिः —वामदेवः ॥ देवता—रक्षोहाऽग्निः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः — धैवतः ॥

'द्रोह-निन्दा व अवद्य' से दूर

अया ते अग्ने समिधा विधेम प्रति स्तोमं शस्यमानं गृभाय।
दहाशसो रक्षसः पाह्यस्मान्द्रुहो निदो मित्रमहो अवद्यात्॥ १५ ॥

(१) हे **अग्ने** परमात्मन्! **अया समिधा**-इस ज्ञानदीप्ति के द्वारा **ते विधेम** हम आपका पूजन करते हैं। पृथिवीस्थ पदार्थों का ज्ञान ही प्रथम समिधा है, अन्तरिक्ष के पदार्थों का ज्ञान द्वितीय समिधा तथा द्युलोकस्थ पदार्थों का ज्ञान ही तृतीय समिधा है। इन समिधाओं के द्वारा हम प्रभु का पूजन करते हैं। (२) हे प्रभो! आप **शस्यमानम्** हमारे से उच्चारण किये जाते हुए **स्तोमम्** इस स्तुति समूह को **प्रतिगृभाय** ग्रहण करिये। हमारे से की जानेवाली स्तुति हमें आपका प्रिय बनाये। (३) **अशसः** प्रातः सायं शंसन न करनेवाले और अतएव **रक्षसः** राक्षसी वृत्तिवालों को **दह** आप भस्म कर दीजिये। हमारे जीवन में न शंसन व राक्षसीभाव उत्पन्न हों। हे **मित्रमहः** मृत्यु व रोगों से बचानेवाले तेजवाले प्रभो (प्रमीतेः त्रायते, महम् तेजम्) आप **अस्मान्**-हमें **द्रुहः** द्रोह की भावना से **निदः** परनिन्दा से तथा **अवद्यात्** गर्हित कर्मों से **पाहि** बचाइये। हम द्रोह, निन्दा व पापों से ऊपर उठें।

भावार्थ—प्रभु का पूजन हमें 'द्रोह, निन्दा व गर्हित कर्मों' से दूर करे।

इस सूक्त का प्रारम्भ इस प्रकार हुआ था कि राजा राष्ट्र का आन्तरिक व बाह्य शत्रुओं से समुचित रक्षण करे। उस सुरक्षित राष्ट्र में हम प्रभु का उपासन व वेदज्ञान प्राप्त करते हुए सुन्दरतम जीवनवाले बनें। अगले सूक्त में प्रभु का ही आराधन 'वैश्वानर' इस नाम से करते हैं—

[५] पञ्चमं सूक्तम्

ऋषिः —वामदेवः ॥ देवता—वैश्वानरः ॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः — धैवतः ॥

वैश्वानर प्रभु का उपासन

वैश्वानराय मीळ्हुषे सजोषाः कथा दाशेमाग्नये बृहद्भाः।
अनूनेन बृहता वक्षथेनोप स्तभायदुपमिन्न रोधः ॥ १ ॥

(१) **वैश्वानराय** सब मनुष्यों का हित करनेवाले, **मीढुषे**-सब पर सुखों का सेचन करनेवाले उस **अग्नये**-अग्रगति के साधक प्रभु के लिये **सजोषाः** समानरूप से प्रीतिपूर्वक उपासना करनेवाले हम **कथा** स्तुति कथनों के द्वारा, स्तोत्रों के उच्चारण के द्वारा **दाशेम** अपना अर्पण करते हैं। वस्तुतः घर में सभी को मिलकर उस प्रभु की उपासना करनी चाहिए। यह प्रभु का उपासन ही हमें सब व्यसनों से बचाता है। (२) वे **बृहद्भाः**-अत्यन्त प्रवृद्ध ज्योतिवाले प्रभु **अनूनेन** किसी भी प्रकार की न्यूनता से रहित **बृहता**-महान् **वक्षथेन**-(by upliftment) विकास के द्वारा **उपस्तभायत्** हमें थामते हैं। इस प्रकार हमारा धारण करते हैं, **न**-जैसे कि **उपमित्**-(स्थूणा) स्तम्भ **रोधः** बड़े बड़े बाँधों को (stoppage) थामनेवाले होते हैं। हमारे जीवनरूप बाँधों के स्तम्भ वे प्रभु हैं। प्रभु की ज्ञान ज्योति हमारे जीवन को प्रकाशमय बनाती है। उस ज्ञान ज्योति से हमारे जीवनों में मलिनताएँ नहीं आतीं। इस प्रकार वे प्रभु हमारा कल्याण करते हैं।

भावार्थ—हम वैश्वानर प्रभु का उपासन करें। प्रभु हमें ज्ञान ज्योति प्राप्त करायेंगे और इस ज्ञान के द्वारा हमारा धारण करेंगे।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—वैश्वानरः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

अमृतो विचेताः

मा निन्दत य इमां मह्यं रातिं देवो ददौ मर्त्याय स्वधावान्।
पाकाय गृत्सो अमृतो विचेता वैश्वानरो नृतमो यह्वो अग्निः ॥ २ ॥

(१) **मा निन्दत**=मत निन्दा करो, उस प्रभु की, **यः**=जो **देवः**=प्रकाशमय **स्वधावान्**-आत्मधारण शक्तिवाला प्रभु **पाकाय**=परिपक्तव्य प्रज्ञावाले **मर्त्याय**=मरणधर्मा **मह्यम्**=मेरे लिये **इमां रतिम्** इस ज्ञान के दान को **ददौ**=देता है। प्रभु ही वस्तुतः ज्ञान को देकर हमारी बुद्धियों का ठीक परिपाक करते हैं। 'ज्ञान की ओर रुचि न करना' ही प्रभु का निन्दन है। (२) वे प्रभु **गृत्सः** 'गृणाति' वेदज्ञान का उपदेश करते हैं **अमृतः** अमरणधर्मा हैं। **विचेताः** विशिष्ट ज्ञानवाले हैं। **वैश्वानरः** सब मनुष्यों का हित करनेवाले हैं। **नृतमः**=सर्वोत्तम नेता हैं। **मह्वः**=महान् हैं। **अग्निः**-गतिशील हैं (अगि गतौ)। वस्तुतः उस प्रभु से ज्ञान प्राप्त करके हमें भी उस प्रभु जैसा ही बनना है शक्तिशाली दीप्त मस्तिष्क।

भावार्थ—हमें सदा प्रभु का स्तवन करना। वे प्रभु ही ज्ञान देकर हमें परिपक्व प्रज्ञावाला बनाते हैं।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—वैश्वानरः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

मनीषा-साम-वेदवाणी

साम द्विबर्हा महि तिग्मभृष्टिः सहस्त्ररेता वृषभस्तुविष्मान्।
पदं न गोरपगूळ्हं विविद्वानग्निर्मह्यं प्रेदु वोचन्मनीषाम् ॥ ३ ॥

(१) वे प्रभु **द्विबर्हाः**=ज्ञान व शक्ति दोनों दृष्टिकोणों से बढ़े हुए हैं। **तिग्मभृष्टिः**-तीव्र तेजवाले हैं। शत्रुओं को भून देनेवाली शक्ति से युक्त हैं। **सहस्त्ररेताः**-अपना वीर्य व पराक्रमवाले हैं। **वृषभः**-सर्वश्रेष्ठ हैं। **तुविष्मान्**=(बहुधनः सा०) अनन्त ऐश्वर्यवाले हैं। (२) यह **विष्मान्** विशिष्ट ज्ञानवाले **अग्निः**-प्रकाशमय प्रभु **गोः**-वेदवाणी के **अपगूळम्** अत्यन्त रहस्यमय **पदं न** शब्दों की तरह **मनीषाम्**-बुद्धि को तथा **महि साम** महनीय साम को, शान्ति प्राप्ति के साधन को **मह्यम्**-मेरे लिये **इत् उ**-निश्चय से **प्रवोचत्**=उपदिष्ट करें। ज्ञान की वाणियों को, बुद्धि को शान्ति को प्राप्त कराके ये प्रभु मुझे भी ज्ञान व शक्ति दोनों के दृष्टिकोण से बढ़ा हुआ बनाते हैं। इस प्रकार मैं शक्तिशाली व ऐश्वर्यसम्पन्न बन पाता हूँ।

भावार्थ—प्रभु मुझे ज्ञानवाणी के गूढ़ पदों को, बुद्धि को व शान्ति को प्राप्त करायें। इससे मेरा ज्ञान, बल व ऐश्वर्य बढ़ेगा।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—वैश्वानरः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

'वरुण व मित्र' के प्रिय धामों का अहिंसन

प्र ताँ अग्निर्बभसत्तिग्मजम्भस्तपिष्ठेन शोचिषा यः सुराधाः।
प्र ये मिनन्ति वरुणस्य धाम प्रिया मित्रस्य चेततो ध्रुवाणि ॥ ४ ॥

(१) **वः सुराधाः**-जो उत्तम ऐश्वर्योंवाला **अग्निः**-अग्रणी प्रभु है, वह **तिग्मजम्भः**=तीक्ष्ण दंष्ट्राओंवाला होता हुआ, न्याय की तीव्र जबड़ोंवाला, **तपिष्ठेन शोचिषा**=संतापक दीप्तियों (ज्वालाओं) से **तान्** उनको **प्र**=प्रकर्षेण **बभसत्**-भस्म कर देता है, **ये**-जो कि **चेततः**-उस

सर्वज्ञ व चेतानेवाले **वरुणस्य**-पापों से निवारण करनेवाले प्रभु के तथा **मित्रस्य** स्नेह करनेवाले प्रभु के **प्रिया ध्रुवाणि धाम**-प्रिय ध्रुव (अविनश्वर) तेजों को **प्रमिनन्ति** हिंसित करते हैं। (२) वरुण व मित्र के प्रिय धामों के हिंसन का अभिप्राय यह है कि वह अपने को पापों से रोकता नहीं और सब के प्रति स्नेहवाला नहीं होता। जो इन प्रिय धामों का हिंसन न करता हुआ अपने को पापों से रोकता है और स्नेह की वृत्ति को अपनाता है वह अवश्य तेजस्वी बनता है। इन धामों का हिंसन करनेवाला प्रभु से दण्डनीय होता है।

भावार्थ—हम पापों का निवारण करते हुए वरुण के प्रिय बनें। सब के साथ स्नेह करते हुए मित्र के प्रिय बनें। निष्पाप व स्नेही बनकर हम प्रभु से दण्ड्य न हों।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—वैश्वानरः॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

पाप और नरक

अभ्रातरो न योषणो व्यन्तः पतिरिपो न जनयो दुरेवाः।
पापासः सन्तो अनृता असत्या इदं पदमजनता गभीरम्॥ ५॥

(१) **अभ्रातरः** जिनका भरण पोषण करनेवाला कोई नहीं ऐसी **योषणः नः** युवतियों के समान **व्यन्तः**-इधर उधर भटकते हुए तथा **पतिरिपः**-पति से द्वेष करनेवाली **जनयः न** पत्नियों के समान **दुरेवाः**-बुरे आचरणवाले **पापासः सन्तः** पापी होते हुए पुरुष **अनृताः** शरीर सम्बन्धी क्रियाओं में ऋत का पालन न करते हुए, कामहैतुक क्रियाओं को करते हुए तथा **असत्याः** असत्य व्यवहारवाले, धनोपार्जन में छलछिद्र से चलनेवाले **इदं गभीरं पदम्** इस गहरे नरकरूप स्थान को **अजनत** अपने लिये उत्पन्न करते हैं। इसी गभीर पद को गीता में 'ततो यात्यधमां गतिम्' इन शब्दों में 'अधम गति' कहा गया है। 'निकृष्ट योनि में जाना या नरक में पड़ना' यही है। (२) जिन युवतियों का कोई रक्षक नहीं होता उनका आचरण विकृत हो ही जाता है। युवावस्था व असहायावस्था उन्हें पाप में धकेल देती है। इसी प्रकार पति द्वेषिणी स्त्री कभी सदाचार सम्पन्न नहीं हो सकती। इनकी तरह इधर उधर भटकनेवाले व दुराचारी लोग अनृत व असत्य जीवनवाले होते हैं। इन्हें नरक भोगना पड़ता है। ये अधम गति को प्राप्त करते हैं।

भावार्थ—अनृत व असत्यमय जीवन के होने पर नरक मिलता है, दुर्गति में जाते हैं

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—वैश्वानरः॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

विज्ञान-सम्पत्तिमय स्वर्ग

इदं मे अग्ने कियते पावकामिनते गुरुं भारं न मन्म।
बृहद्दधाथ धृषता गभीरं यह्वं पृष्ठं प्रयसा सप्तधातु॥ ६॥

(१) गतमन्त्र में मित्र व वरुण के धाम का हिंसन करनेवाले, अनृत में चलनेवाले व्यक्ति का उल्लेख था। वह नरक व दुर्गति में पड़ता है। इसके विपरीत जो व्यक्ति वरुण व मित्र के प्रिय धामों का हिंसन नहीं करता वह शुभ मार्ग पर चलता हुआ इतनी सम्पत्ति को प्राप्त करता है कि उसका उठाना भी कठिन सा होता है। यह कहता है कि हे **पावक**-पवित्र करनेवाले **अग्ने** अग्रणी प्रभो! **अमिनते**-मित्र व वरुण के धाम (तेज) का हिंसन न करनेवाले **मे**-मेरे लिये, **कियते** जो कि मैं अत्यल्प परिमाणवाला हूँ (मेरा परिमाण है ही कितना?) **इदम्**-इस **गुरुं भारं न** गुरु भार की तरह **बृहत्**-बहुत अधिक **मन्म**-ज्ञान को **दधाथ**-आप धारण करते हैं (२) उस ज्ञान को आप मेरे लिये धारण करते हैं, जो ज्ञान **गभीरम्**-अत्यन्त गम्भीर है, तत्त्व का दर्शक है,

यह्वम् महान् है तथा **पृष्ठम्**-मानव जीवन के लिये पृष्ठ के समान है, धारक है तथा **धृषता प्रयसा** शत्रुओं के धर्षणशील प्रयत्न के द्वारा **सप्तधातु**-शरीरस्थ सप्त ऋषियों का धारण करनेवाला है। 'सप्तर्षयः प्रतिहिताः शरीरे' शरीरस्थ सात ऋषि 'कर्णाविमौ नासिके चक्षणी मुखम्'-दो कान, दो नासिकाछिद्र दो आँखें व मुख हैं। प्रभु से दिया हुआ ज्ञान इनका धारण करता है। ये स्वयं ज्ञान प्राप्ति के साधन के रूप में दिये गये हैं। ज्ञान प्राप्ति में लगे रहने से ही इनका रक्षण होता है। इस ज्ञान में विचरना ही स्वर्ग में विचरना है 'स्वः गमयति'।

भावार्थ—यदि हम निष्पाप व स्नेह वृत्तिवाले बनते हैं तो प्रभु से हमें वह ज्ञान मिलता है जिससे हम सदा स्वर्ग में विचरते हैं।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—वैश्वानरः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

पवित्र वेदज्ञान

तमिन्न्वे३व स॑म॒ना स॑मा॒नम॒भि क्रत्वा॑ पुन॒ती धी॒तिर॑श्याः।
स॒सस्य॒ चर्म॒न्नधि॒ चारु॒ पृश्ने॒रग्रे॑ रु॒प आरु॑पितं॒ जबा॑रु॥ ७॥

(१) **तं इत् नुरव**-गतमन्त्र के अनुसार मित्र और वरुण के प्रिय तेजों का विनाश न करनेवाले थे, अर्थात् स्नेह व निष्पापता की वृत्तिवाले को, अतएव **समानम्**-(सं अनिति) उत्तम प्राणशक्तिवाले को **क्रत्वा** कर्मों के द्वारा **समना**-सम्यक् प्राणित करनेवाली **धीतिः**-ज्ञानदुग्ध के पान की क्रिया **अभि क्रश्याः**- आभिमुख्येन प्राप्त होती है। यह स्नेह व निष्पापता की वृत्तिवाला ज्ञान को प्राप्त करता है, उस ज्ञान को जो कि उसकी प्राणशक्ति का वर्धन करनेवाला होता है। (२) यह ज्ञान ज्योति **सस्य**-सर्वत्र शयान उस प्रभु की है। प्रभु सर्वत्र विद्यमान हैं, परन्तु वे हमारे हृदयों में प्रसुप्त अवस्था में ही है। उपासना आदि के द्वारा, मस्तिष्क व हृदयरूप अरणियों की रगड़ के द्वारा, वह प्रभु की ज्योति हमारे में जागरित होती है। **पृश्नेः**-यह ज्ञान-ज्योति उस प्रभु की है जो कि ज्योतियों के संस्प्रष्टा हैं। **रूपः**-यह ज्ञान ज्योति उस प्रभु की है जो कि इसका अग्नि आदि ऋषियों के पवित्र हृदयक्षेत्र में आरोपण करनेवाले हैं। (३) यह ज्ञान-ज्योति **चर्मन् अधि**-चर्म के विषय में, हमें वासनाओं के आक्रमण से बचाने के विषय में **चारु**-सुन्दर हैं 'ब्रह्म वर्म ममान्तरम्' यह ज्ञान तेरा आन्तर कवच बनता है, मेरी ढाल (चर्म) बनता है। इसके द्वारा मैं वासनाओं के आक्रमण को रोक पाता हूँ। यह **अग्रे आरुपितम्**-सृष्टि के प्रारम्भ में 'अग्नि' आदि के हृदयक्षेत्र में आरोपित हुआ है। **जबारु** यह जबमानरोहि है, तीव्रगति से उन्नति का साधक है।

भावार्थ—हम स्नेह व निष्पापता की वृत्तिवाले बनेंगे तो प्रभु से पवित्र ज्ञान को प्राप्त करनेवाले होंगे।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—वैश्वानरः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

'परम पद प्रापक' वेदज्ञान

प्र॒वाच्यं॒ वच॑सः॒ किं मे॑ अ॒स्य गुहा॑ हि॒तमुप॑ नि॒णिग्व॑दन्ति।
यदु॒स्रिया॑णा॒मप॒ वारि॑व॒ व्रन्पाति॑ प्रि॒यं रु॒पो अग्रं॑ प॒दं वेः॥ ८॥

(१) **मे**-मेरे लिये दिये गये **अस्य वचसः**=इस वेदज्ञानरूप वाणी का **किं प्रवाच्यम्**-कहना ही क्या है? यह तो एक अद्भुत ज्ञान है जो कि **गुहाहितम्**-बुद्धिरूप गुहा में स्थापित किया गया है। इसे **निणिक्** 'नितरां नेक्ति शोणयति' अत्यन्त शोधक क्षीर (ज्ञानदुग्ध) **उपवदन्ति** कहते हैं। (२) **यत्** जिसको **उस्रियाणाम्**-क्षीर की उत्स्राविणी गौओं के **वाः इव** रोगनिवारक

(वारयति इति) दूध की तरह **अपव्रन्**-प्रकट करते हैं। इस ज्ञानदुग्ध को वेदवाणीरूप गौ से प्राप्त करते हैं। यह ज्ञानदुग्ध सब मानस आधियों का निवारक होता है, उसी प्रकार निवारक होता है जैसे कि गौवों का दूध शरीर की व्याधियों का। यह ज्ञान **रुपः** ज्ञान को अग्नि आदि ऋषियों के हृदयों में आरोपित करनेवाले **वे** गतिशील प्रभु के **अग्रं प्रियं पदम्**-सर्वश्रेष्ठ सर्वानन्दमय पद को **पाति** हमारे लिये रक्षित करता है। यह ज्ञान हमें उस विष्णु के परम पद को प्राप्त कराता है।

भावार्थ—यह वेदज्ञान अद्भुत है। यह शोधक है और हमें प्रभु के प्रिय परमपद को प्राप्त कराता है।

ऋषिः—**वामदेवः** ॥ देवता—**वैश्वानरः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

'उपासकों का शक्ति भूत' वेदज्ञान

इदमु त्यन्महि महामनीकं यदुस्त्रिया सचत पूर्व्यं गौः।
ऋतस्य पदे अधि दीद्यानं गुहा रघुष्यद्रघुयद्विवेद ॥ ९ ॥

(१) **इदम्**-यह गतमन्त्र में वर्णित **त्यत्**-वह वेदज्ञान **उ** निश्चय से **महित्यन्** महत्त्वपूर्ण है। यह **महाम्** (मह पूजायाम्) उपासना की वृत्तिवालों का **अनीकम्**-बल है। यह वह ज्ञान है **यत्**-जिस **पूर्व्यम्**-सृष्टि के प्रारम्भ में दिये जानेवाले (पूर्वस्मिन् काले भवम्) या पालन व पूरण करने में उत्तम ज्ञान का **उस्त्रिया** ज्ञानक्षीर का उत्स्रावण करनेवाली यह **गौः** वेदवाणीरूप गौ **सचत**-अपने में समवेत करती है। (२) **ऋतस्य पदे** ऋत के मार्ग में, अर्थात् जहाँ भी ऋत का आचरण होता है, अर्थात् जहाँ सब कार्य ऋतपूर्वक होते हैं, वहाँ **अधिदीद्यानम्** आधिक्येन दीप्त होते हुए, **गुहा**-हृदय रूप गुहा में **रघुष्यद्**-तीव्र गति से प्रवाहित होते हुए इस वेदज्ञान को **रघुयत्** शीघ्रता से गति करनेवाला, अपने कर्त्तव्य कर्मों को स्फूर्ति से करनेवाला **विवेद** जानता है। वेदज्ञान को वह प्राप्त करता है जो कि (क) ऋतपूर्वक आचरण करे, (ख) अपने कर्त्तव्य कर्मों को करने में आलस्य न करे। ऐसे व्यक्ति के हृदय में ही यह प्रादुर्भूत होता है।

भावार्थ—वेदज्ञान को 'उपासक-ऋत का आचरण करनेवाले, कर्त्तव्य कर्मों को अप्रमाद से करनेवाले' प्राप्त करते हैं। दूसरे शब्दों में वेदज्ञान को प्राप्त करनेवाले ऐसे बन जाते हैं। यह ज्ञान ही उनका बल होता है।

ऋषिः—**वामदेवः** ॥ देवता—**वैश्वानरः** ॥ छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

शक्तिशाली-ज्ञानदीप्त-पवित्र

अध द्युतानः पित्रोः सचासामनुत गुह्यं चारु पृश्नेः।
मातुष्पदे परमे अन्ति षद्गोर्वृष्णः शोचिषः प्रयतस्य जिह्वा ॥ १० ॥

(१) **अध**-अब **द्युतानः** ज्ञान ज्योति का विस्तार करनेवाला **पित्रोः**-माता पिता के **सचा** साथ रहनेवाला यह बालक **आसः**-अपने मुख से **पृश्नेः** ज्योतियों का स्पर्श करनेवाली इस वेदवाणी रूप गौ के **गुह्यम्**-रहस्यमय या बुद्धिरूप गुहा में स्थापन के योग्य **चारु** सुन्दर ज्ञानदुग्ध को **अमनुत** पीने का ध्यान करता है। जिस बालक को माता पिता का ठीक संरक्षण प्राप्त होता है वह वेदवाणीरूप गौ के ज्ञानदुग्ध को पीनेवाला बनता है। (२) **मातुः** इस वेदमाता के **परमे पदे अन्ति षद्**-उत्कृष्ट चरणों के समीप होता हुआ, वेदमाता की उपासना करता हुआ, यह **वृष्णः** शक्तिशाली **शोचिषः**-ज्ञान दीप्त **प्रयतस्य**-पवित्र प्रभु की **गोः**-वेदवाणी के ज्ञानदुग्ध को **जिह्वा** जिह्वा से (अमनुत) पीने का ध्यान करता है। इस ज्ञानदुग्ध के पान से ही यह भी शक्तिशाली ज्ञानदीप्त

व पवित्र बन पायेगा। ऐसा बनकर यह प्रभु जैसा ही हो जाएगा।

भावार्थ—वेदवाणी के ज्ञानदुग्ध के पान से मैं शरीर में शक्तिशाली, मस्तिष्क में ज्ञानदीप्त व हृदय में पवित्र बनूँ।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—वैश्वानरः॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

ज्ञानम् अगर्वम्

ऋतं वोचे नमसा पृच्छ्यमानस्तवाशसा जातवेदो यदीदम्।
त्वमस्य क्षयसि यद्ध विश्वं दिवि यदु द्रविणं यत्पृथिव्याम्॥ ११॥

(१) ज्ञानी पुरुष कहता है कि **पृच्छ्यमानः**=औरों से प्रश्न किया जाता हुआ कि 'यह ज्ञान तुम्हें कहाँ से प्राप्त हुआ?' **नमसा**=नम्रता से **ऋतं वोचे**=सत्य सत्य यही कहता हूँ यदि **इदम्**-यदि यह ज्ञान मेरे में है तो **तव आशसा**=हे प्रभो! आपकी स्तुति के द्वारा ही है, अर्थात् प्रभु की उपासना से ही यह ज्ञान प्राप्त हुआ है 'ज्ञानं ज्ञानवतामहम्'। (२) वस्तुतः हे प्रभो! **त्वम्**=आप ही **अस्य**-इसका **क्षयसि**-ऐश्वर्य करनेवाले हैं, इस ज्ञान धन के मालिक आप ही हैं। **यद्**-जो **ह**-निश्चय से **विश्वम्**-सम्पूर्ण **दिवि**=द्युलोक में, मस्तिष्क में ज्ञानरूप **द्रविणम्**=धन है और **यत्**=जो **पृथिव्याम्**-इस पृथिवी में, शरीर में शक्तिरूप धन है उस सब के आप ही ईश्वर हैं 'बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि' 'बलं बलवतां चाहम्'।

भावार्थ—ज्ञानी पुरुष ज्ञान का गर्व न करता हुआ उसे प्रभु का ही ऐश्वर्य मानता है। इसे न ज्ञान का गर्व होता है न शक्ति का। यह दोनों को ईश्वर प्रभु का जानता है।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—वैश्वानरः॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

द्रविण व रत्न

किं नो अस्य द्रविणं कद्ध रत्नं वि नो वोचो जातवेदश्चिकित्वान्।
गुहाध्वनः परमं यन्नो अस्य रेकु पदं न निदाना अगन्म॥ १२॥

(१) **नः**-हमारे **अस्य**=इस जीवन का **किं द्रविणम्**=क्या द्रविण है, जीवनयात्रा की पूर्ति का साधनभूत धन क्या है। **कत् ह**=और क्या निश्चय से रत्न है, इसे रमणीय बनानेवाली वस्तु है? यह बात, हे **जातवेदः**-सर्वज्ञ प्रभो! **नः विवोचः**=हमारे लिये आप उपदिष्ट करिये। (२) **चिकित्वान्**-ज्ञानी आप **नः**=हमारे लिये **यत्**-जो **अस्य अध्वनः**=इस मार्ग का **परमम्**-सर्वोत्कृष्ट रूप है, उसे **गुहा**-हमारी बुद्धिरूप गुहा में (विवोचः) प्रतिपादित करिये। आप से मार्ग को जानकर, उस पर चलते हुए, हम यात्रा पूर्ति के साधनभूत 'द्रविणों व रत्नों को प्राप्त करें।' कहीं ऐसा **न**=न होकि अज्ञानवश **रेकु पदम्**-रिक्त मार्ग पर ही हम **अगन्म**-भटकते रहें और **निदानाः** लोगों से निन्दमग्न हों, लोक निन्दा के पात्र न बन जाएँ। ज्ञान को प्राप्त करके ठीक ही मार्ग पर चलें। द्रविणों व रत्नों को प्राप्त करके यात्रा को सुन्दरता से पूर्ण करें।

भावार्थ—वस्तुतः 'द्रविण व रत्न क्या हैं?' प्रभु इसका हमें ज्ञान दें। उनकी प्राप्ति के साधन भूत मार्ग का भी ज्ञान दें। ताकि हम उस मार्ग पर चलते हुए द्रविणों व रत्नों को प्राप्त करके यात्रा को ठीक से पूरा कर पायें, भटकते ही न रहें।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—वैश्वानरः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

मर्यादा-प्रज्ञान व सुन्दर दिव्यगुण

का मर्यादा वयुना कद्ध वाममच्छा गमेम रघवो न वाजम्।
कदा नो देवीरमृतस्य पत्नीः सूरो वर्णेन ततनन्नुषासः॥ १३॥

(१) हे प्रभो! आप ही हमें यह बतायेंगे कि **का मर्यादा**=हमारे जीवन में क्या मर्यादाएँ हैं, किन नियमों में हमें चलना है? इसी प्रकार **(का) वयुना**-क्या प्रज्ञान हैं, किन चीजों को हमें जानना है? **कत् ह वाम** और क्या निश्चय से सुन्दर है? सुन्दर दिव्य गुण कौन कौन से हैं? ताकि हम **अच्छा गमेम**-उनकी ओर चलनेवाले हों। उसी प्रकार **न** जैसे कि **रघवः** शीघ्रगामी घोड़े **वाजम्**=संग्राम की ओर चलते हैं। मर्यादाओं को, प्रज्ञानों को व सुन्दर दिव्य गुणों को जानकर उनको प्राप्त करने के लिये हम यत्नशील हों हमारा जीवन मर्यादित हो, हम प्रज्ञानवाले हों, दिव्यगुण सम्पन्न बनें। (२) **कदा** कब हमारा यह सौभाग्य होगा कि **वः**-हमारे लिये **देवीः**-प्रकाशमयी **अमृतस्य पत्नीः** नीरोगता की रक्षिका **सूरः** शक्तियों को उत्पन्न करनेवाली (प्रसवित्र्यः) **उषासः** उषाएँ वर्णेन **ततनन्** प्रभु के गुणवर्णन के साथ हमारी शक्तियों के विस्तार को करेंगी? हम उषाकाल में स्वाध्याय व चिन्तन के द्वारा जीवन को प्रकाशमय बनायें, प्राणायाम व आसनों के द्वारा शरीर व मन को स्वस्थ व नीरोग बनायें। प्रभु के गुणों का स्मरण करते हुए अपने अन्दर उत्तम गुणों को उत्पन्न करें।

भावार्थ—प्रभु हमें मर्यादाओं, प्रज्ञानों व सुन्दर दिव्य गुणों का ज्ञान दें। हमारे लिये उषाकाल प्रकाशमय नीरोगता को देनेवाले व शक्ति को उत्पन्न करनेवाले हों।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—वैश्वानरः ॥ छन्दः—भुरिक्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

अनिर वचस् का परिणाम

अनिरेण वचसा फल्ग्वेन प्रतीत्येन कृधुनातृपासः।
अधा ते अग्ने किमिहा वदन्त्यनायुधास आसता सचन्ताम्॥ १४॥

(१) **अनिरेण** न उत्कृष्ट प्रेरणा देनेवाले **वचसा** वचन से **अतृपासः** अतृप्ति को अनुभव करनेवाले लोग **असता** असत् कार्यों से **आसचन्ताम्**= समवेत हों, युक्त हों। जिस समय मनुष्य को उत्कृष्ट ज्ञान नहीं प्राप्त होता, तो वह व्यर्थ समय को नष्ट करनेवाले उत्तेजक साहित्य को पढ़कर क्षणिक आनन्द को प्राप्त करके भी, किसी उत्कृष्ट प्रेरणा के न मिलने से असत् कार्यों में प्रवृत्त होते हैं। इसलिए ज्ञान वही ठीक है जो कि उत्कृष्ट प्रेरणा को दे। इसके विपरीत साहित्य 'असत्' है। **फल्ग्वेन**-वह तो व्यर्थ व निःसार है। **प्रतीत्येन**-(प्रति न) विरुद्ध मार्ग पर ले जानेवाला है। **कृधुना**-अल्प है, मनोवृत्ति को व दृष्टिकोण को संकुचित बनानेवाला है। ऐसे ज्ञान से सन्तोष व तृप्ति का अनुभव नहीं हो सकता। (२) ऐसे न उत्कृष्ट प्रेरणा देनेवाले, निस्सार, विरुद्ध मार्ग पर ले जानेवाले अल्प ज्ञान से अतृप्त वे लोग **अधा**-अब, हे **अग्ने**-परमात्मन्! **इह** इस जीवन में, **ते**-आपका **किम्**-क्या **आवदन्ति**=चर्चण करते हैं? वे आपकी चर्चा न कर व्यर्थ की सांसारिक बातों में उलझे रहते हैं। **अनायुधासः**-इस संसार संग्राम में काम-क्रोध आदि से लड़ने के लिये उन्हें उत्तम ज्ञान शस्त्र प्राप्त नहीं होता। वे आयुध रहित होते हुए इनके शिकार हो जाते हैं और असत् कार्यों में प्रवृत्त होते रहते हैं।

भावार्थ—उत्कृष्ट वेदज्ञान न प्राप्त होने पर व्यर्थ के उत्तेजनात्मक साहित्य में उलझे हुए लोग

उत्कृष्ट प्रेरणा न मिलने से भटक जाते हैं। वे असत् मार्ग में प्रवृत्त हो जाते हैं।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—वैश्वानरः॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

प्रभु के तेज से शोभा की प्राप्ति

अस्य श्रिये संमिधानस्य वृष्णो वसोरनीकं दम आ रुरोच।
रुशद्वसानः सुदृशीकरूपः क्षितिर्न राया पुरुवारो अद्यौत्॥ १५॥

(१) **अस्य**-इस **समिधानस्य**-हृदय देश में दीप्त होते हुए **वृष्णः**=शक्तिशाली **वसोः** हम सबके निवास के कारणभूत प्रभु का **अनीकम्**=तेज (brightness) **दमे**=इस शरीर गृह में **आरुरोच** समन्तात् दीप्त होता है। यह प्रभु के तेज का दीप्त होना ही **श्रिये**-इस की श्री के लिये होता है। जो श्री है वह उस प्रभु के तेज के अंश से ही तो उत्पन्न हुई है 'यद् यद् विभूतिमत् सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंश संभवम्'। (२) वे प्रभु **रुशत्** देदीप्यमान हैं, **वसानः**-सब को बसानेवाले हैं, **सुदृशीकरूपः**=उत्तम दर्शनीय रूपवाले हैं। वे प्रभु **पुरुवारः** बहुतों से वरणीय हैं, अर्थात् अनन्तः सभी प्रभु का वरण करते हैं। अथवा अनन्त वरणीय वस्तुओंवाले हैं। **अद्यौत्**-वे प्रभु हमारे अन्दर दीप्त होते हैं। वे प्रभु इस प्रकार हमारे अन्दर दीप्त होते हैं **न**=जैसे कि **राया**=धन से **क्षितिः**-इस पृथिवी पर निवास करनेवाला मनुष्य शोभा वाला होता है। धन से मनुष्य धन्य बनता है, तो सब धनों के ईश्वर उस पुरुवार प्रभु से तो वह कितनी ही अधिक शोभावाला होगा।

भावार्थ—प्रभु का तेज हमारे में दीप्त होता है तो हम शोभा ही शोभावाले हो जाते हैं।

सूक्त का भाव यह है कि हम वैश्वानर प्रभु का उपासन करें। प्रभु से वेदज्ञान को प्राप्त करके तदनुसार आचरण करते हुए हम प्रभु के तेज से अपने जीवन को दीप्त करें। अगले सूक्त में भी प्रभु का ही अग्नि नाम से स्मरण है—

[६] षष्ठं सूक्तम्

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

'यजीयान्' प्रभु

ऊर्ध्व ऊ षु णो अध्वरस्य होतरग्ने तिष्ठ देवताता यजीयान्।
त्वं हि विश्वमभ्यसि मन्म प्र वेधसश्चित्तिरसि मनीषाम्॥ १॥

(१) हे **अध्वरस्व होतः**=हमारे जीवनयज्ञ के होता **अग्ने**=प्रभो! आप **नः**=हमारे जीवनों में **उ** -निश्चय से **ऊर्ध्वः सुतिष्ठ**=उन्नत होकर स्थित होइये। हम जीवन में सर्वोपरि स्थान आपको ही दें। आप से प्राप्त शक्ति से ही यह जीवन-यज्ञ पूर्ण होता है। **देवताता**-दिव्यगुणों के विस्तार के निमित्त **यजीयान्**=आप ही उपास्य हैं। आपकी उपासना ही हमारे जीवनों में दिव्यगुणों का वर्धन होता है। (२) **त्वं हि**=आप ही **विश्वं मन्म**=सम्पूर्ण इच्छाओं (मन्म desires) को **अभि असि**=अभिभूत करनेवाले हैं, अर्थात् आपकी प्राप्ति के होने पर संसार के सब पदार्थों की इच्छाएँ समाप्त हो जाती हैं 'रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते'। हे प्रभो! आप अपनी प्राप्ति के द्वारा **वेधसः चित्** -ज्ञानी की भी **मनीषाम्**-बुद्धि को **तिरसि**=बढ़ाते हैं। प्रभु हमारी सांसारिक इच्छाओं को प्रबल नहीं होने देते और हमारी बुद्धि को सूक्ष्म करते हैं।

भावार्थ—हम जीवन-यज्ञ में प्रभु को सर्वोपरि स्थान दें। यही दिव्यगुणों के विस्तार का मार्ग है। प्रभु ही सांसारिक इच्छाओं को अभिभूत करके हमारी बुद्धियों को विकसित करते हैं।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—भुरिक्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

द्युलोक में 'धूम' स्तम्भन

अमूरो होता न्यसादि विक्ष्व१ग्निर्मन्द्रो विदथेषु प्रचेताः।
ऊर्ध्वं भानुं सवितेवाश्रेन्मेतेव धूमं स्तभायदुप द्याम्॥ २॥

(१) वे प्रभु **अमूरः**-अमूढ़ व सर्वज्ञ हैं। **होता**-सब पदार्थों के देनेवाले हैं। **विक्षु न्यसादि** सब प्रजाओं में प्रभु स्थित हैं। सब में स्थित होकर सबके जीवन यज्ञों को वे प्रभु ही चला रहे हैं. **अग्निः** वे अग्रणी हैं, **मन्द्रः**-आनन्द को प्राप्त करानेवाले हैं। **विदथेषु** ज्ञान यज्ञों में **प्रचेताः** प्रकृष्ट ज्ञान देनेवाले हैं। (२) **सविता इव**-सूर्य की तरह **भानुम्**-दीप्ति को **ऊर्ध्वं अश्रेत्** उत्कृष्ट रूप में आश्रय करनेवाले हैं। और **मेता इव**=एक स्तम्भ की तरह **उपद्याम्** मस्तिष्करूप द्युलोक में **धूमम्** सब वासनाओं को कम्पित करके विनष्ट करनेवाले ज्ञान को **स्तभायत्** थामनेवाले हैं। प्रभु हमें वह ज्ञान प्राप्त कराते हैं, जो ज्ञान हमारी वासनाओं को विनष्ट करता है।

भावार्थ—प्रभु हमें ज्ञान देते हैं। ज्ञान द्वारा हमारी वासनाओं को विनष्ट करते हैं।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः ॥

पशुओं का उत्कृष्ट अञ्जन

यता सुजूर्णी रातिनी घृताची प्रदक्षिणिद्देवतातिमुराणः।
उदु स्वरुर्नवजा नाक्रः पश्वो अनक्ति सुधितः सुमेकः॥ ३॥

(१) गतमन्त्र के अनुसार प्रभु से दी जानेवाली ज्ञानदीप्ति **यता**-संयमवाली है, यह हमारे जीवन को संयमवाला बनाती है। **सुजूर्णी**-यह वासनाओं को जीर्ण करनेवाली है। ज्ञान से वासनाएँ दग्ध होती ही हैं। यह **रातिनी** दान की वृत्तिवाली है। ज्ञान को प्राप्त करके हम दानशील बनते हैं। **घृताची** यह हमारे लिये मलों का क्षरण करनेवाली है, मलों को हमारे से दूर करनेवाली है और दीप्ति को देनेवाली है। (२) इस वेदवाणी को अपनानेवाला व्यक्ति **प्रदक्षिणित्** (प्र दक्षिण इ 'गतौ') प्रकृष्ट सरल व उदार मार्ग से चलनेवाला है (दक्षिण सरलो दारौ)। **देवतातिं उराणः** यह यज्ञों का विस्तार करता है। **उ** और निश्चय से **स्वरुः** (स्व शब्दे) प्रभु के नामों का उच्चारण करनेवाला होता है, **नवजाः न** नव उत्पन्न के समान, एकदम अजीर्ण के समान **अनक्तः** आक्रमण करनेवाला, मार्ग पर आगे बढ़नेवाला होता है। **सुधितः** (सुहितः) उत्तम तृप्ति का अनुभव करता हुआ, **सुमेकः**-प्रत्येक कार्य को उत्तमता से करता हुआ **पश्वः** काम क्रोध लोभ आदि पशुओं को **उद् अनक्ति** उत्कर्षेण प्राप्त करनेवाला होता है। इनको पूर्ण रूप से अपने वश में रखता हुआ इन्हें किसी भी प्रकार हानिकर नहीं होने देता। वशीभूत काम से यह वैदिक कर्मयोग की कामनावाला होता है। वशीभूत क्रोध से यह पापों को अपने से दूर रखता है और वशीभूत लोभ से यह ज्ञान को अधिकाधिक प्राप्त करता हुआ भी तृप्त नहीं हो जाता।

भावार्थ—प्रभु से दी गई वेदवाणी हमारे जीवनों को दिव्य जीवन बना देती है।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—भुरिक्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

ज्ञान विस्तार व वासना क्षय

स्तीर्णे बर्हिषि समिधाने अग्ना ऊर्ध्वो अध्वर्युर्जुजुषाणो अस्थात्।
पर्यग्निः पशुपा न होता त्रिविष्ट्येति प्रदिव उराणः ॥ ४॥

(१) गतमन्त्र के अनुसार वेदवाणी को अपनाने पर जीवन पवित्र बनता है। उसी का उल्लेख करते हुए कहते हैं कि **बर्हिषि**=वासनाशून्य हृदयरूप आसन के **स्तीर्णे** बिछाने पर **अग्नौ समिधाने**-उस आसन पर उस अग्रणी प्रभु के दीप्ति के साथ विराजमान होने पर, अर्थात् पवित्र हृदय में प्रभु का प्रकाश होने पर यह उपासक **ऊर्ध्वः** सदा ऊपर स्थित होता है, आलस्य से खाट पर नहीं पड़ा रहता। यह **अध्वर्युः**=यज्ञों को अपने साथ विनियुक्त करनेवाला **जुजुषाणः** प्रीतिपूर्वक उन यज्ञों का सेवन करता हुआ **अस्थात्**-स्थित होता है। (२) जब इस प्रकार यह अपने कर्त्तव्य कर्मों को करने में प्रवृत्त होता है, तो उस समय **अग्निः**=वे अग्रणी प्रभु **पशुपाः न**-ग्वाले के समान **परि**=इसका चारों ओर से रक्षण करते हैं। वस्तुतः हम गौओं के समान होते हैं, प्रभु ग्वाले के रूप में हमारे रक्षक होते हैं। यह प्रभु से रक्षित व्यक्ति **होता**-यज्ञशील होता है। **त्रिविष्टि एति** शरीर, मन, बुद्धि तीनों का व्यापन करता हुआ गति करता है। **प्रदिवः** प्रकृष्ट ज्ञानों को **उराणः** विस्तृत करता हुआ होता है। यह ज्ञान का विस्तार ही वासनाओं के लाघव का साधन बनता है जैसे जैसे ज्ञान बढ़ता जाता है, वैसे-वैसे वासनाएँ समाप्त होती जाती हैं।

भावार्थ—आदर्श जीवन यही है कि ज्ञान का विस्तार करते हुए हम हृदय को वासनाशून्य बनाएँ। उस हृदय में प्रभु के प्रकाश को देखें।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

मधुवचा ऋतावा

परि त्मना मितद्रुरेति होताग्निर्मन्द्रो मधुवचा ऋतावा।
द्रवन्त्यस्य वाजिनो न शोका भयन्ते विश्वा भुवना यदभ्राट्॥ ५॥

(१) गतमन्त्र का ज्ञान विस्तार करनेवाला व्यक्ति **त्मना**=उस आत्मा के साथ, अर्थात् प्रभु का विस्मरण न करता हुआ **मितद्रुः**-नपी तुली गतिवाला होता हुआ **परि एति**-अपने कर्त्तव्य कर्मों में गतिवाला होता है। **होता**-यह दानपूर्वक अदन करनेवाला बनता है। **अग्निः** प्रगतिशील, **मन्द्रः**=आनन्दमय स्वभाववाला, **मधुवचाः**-मधुर वचनोंवाला व **ऋतावा**=ऋत का पालन करनेवाला होता है। सब कार्यों को यह ठीक समय व ठीक स्थान पर करता है। (२) **अस्य शोकाः** इसकी ज्ञानदीप्तियाँ (शुच दीप्तौ) **वाजिनः न**-शक्तिशाली अश्वों की तरह **द्रवन्ति**=गतिवाली होती हैं। इसके ज्ञान का प्रकाश चारों ओर फैलता है और उस ज्ञान के अनुसार इसकी सब क्रियाएँ होती हैं। इन ज्ञानपूर्वक क्रियाओं से **यद्**-जब यह **अभ्राट्**-चमकता है तो **विश्वाभुवना**-सब लोक **भयन्ते** इससे भयभीत होते हैं। इस को कोई भी अभिभूत नहीं कर पाता। यह अपराजित होता है।

भावार्थ—हम नपी तुली गतिवाले बनें। ज्ञानपूर्वक गति करते हुए सदा अपराजित हों।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—स्वराट्पङ्क्तिः॥ स्वरः—पञ्चमः॥

भद्रा संदृक्

भद्रा ते अग्ने स्वनीक सन्दृग्घोरस्य सतो विषुणस्य चारुः।
न यत्ते शोचिस्तमसा वरन्त न ध्वस्मानस्तन्वी३ रेप आ धुः॥ ६॥

(१) गतमन्त्र के 'मितद्रु' के लिये ही कहते हैं कि हे **अग्ने**-प्रगतिशील **स्वनीक** उत्तम तेजस्वितावाले (अनीक extreme brightness) जीव! **घोरस्य सतः**-अपनी तीव्र ज्योति के कारण शत्रुओं के लिये भयंकर होते हुए भी **ते**-तेरी **संदृक्**-दृष्टि **भद्रा**-कल्याणकारिणी है।

विषुणस्य चारों ओर व्याप्त होनेवाली ज्योतिवाले तेरी दृष्टि **चारुः** रमणीय है, अर्थात् शत्रु भयंकर ज्ञान ज्योतिवाला यह पुरुष कल्याणकारिणी रमणीय दृष्टि से ही सबको देखता है। (४) **यत्** जो **ते** तेरी **शोचिः** ज्ञानदीप्ति है, उसे कोई भी **नमसा** अन्धकार से **न वरन्त** आच्छादित करनेवाले नहीं होते, अर्थात् इसका ज्ञान वासनान्धकार से आवृत नहीं हो जाता। तथा **ध्वस्मानः** ध्वंसक वृत्तिवाले राक्षसी भाव **तन्वी** इसके शरीर में **रेपः न आधुः** दोषों का आधान नहीं करते, अर्थात इसका शरीर रोगादि से आक्रान्त नहीं होता और मन वासनाओं से अभिभूत नहीं होता।

भावार्थ—ज्ञानी पुरुष तेजस्वी व शत्रु भयंकर होता हुआ कल्याणकारिणी व रमणीय दृष्टि से सब को देखता है। इसका ज्ञान वासनान्धकार से आवृत नहीं होता और इसका शरीर नीरोग बना रहता है।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

अविहत शक्तिवाले प्रभु

न यस्य सातुर्जनितोरवारि न मातरापितरा नू चिदिष्टौ।
अधा मित्रो न सुधितः पावकोऽग्निर्दीदाय मानुषीषु विक्षु॥ ७॥

(१) **यस्य** जिस **जनितोः** सर्वोत्पादक उस प्रभु का **सातुः** दान **न अवारि** रोका नहीं जा सकता, **अग्निः** अग्रणी प्रभु **मानुषीषु विक्षु**—मानव प्रजाओं में **दीदाय** दीप्त होते हैं। **नु चित्** शीघ्र ही **इष्टौ**-(इष प्रेरणे) उस प्रभु के प्रेरण में चलते हुए **मातरा पितरा** द्यावापृथिवी न (अवारि) किसी से रोके नहीं जा सकते। प्रभु की प्रेरणा में चलते हुए इन द्यावापृथिवी की गति को कोई विहत नहीं कर पाता। (२) **अधा** अब यह अनिवारित शक्तिवाला प्रभु **मित्रः न** सबके हित चाहनेवाले के समान **सुधितः** सब में उत्तमता से स्थापित होता है और **पावकः** सबको पवित्र करनेवाला है। मित्र का सर्वमहान् कार्य यही है कि वह अपने साथी के जीवन को पवित्र बनाये।

भावार्थ—प्रभु की शक्ति किसी से विहत नहीं की जाती। वे प्रभु हमारे सच्चे मित्र व हमारे जीवन को पवित्र करनेवाले हैं।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

प्राणसाधना-प्रभु दर्शन

द्विर्यं पञ्च जीजनन्त्संवसानाः स्वसारो अग्निं मानुषीषु विक्षु।
उषर्बुधमथर्योऽ न दन्तं शुक्रं स्वासं परशुं न तिग्मम्॥ ८॥

(१) शरीर में 'द्विः पञ्चः' दस प्राण हैं। ये प्राणायाम के द्वारा निरुद्ध होने पर चित्त की एकाग्रता के द्वारा प्रभु का प्रकाश करनेवाले हैं। सो ये 'स्वः सारः' आत्मतत्त्व की ओर गतिवाले कहलाते हैं। ये प्राण **संवसानाः** शरीर में उत्तमता से निवास करते हुए **मानुषीषु विक्षु** मानव प्रजाओं में **यं अग्निम्** जिस अग्रणी प्रभु को **जीजनन्**—प्रादुर्भूत करते हैं। (२) इस प्रकार प्रादुर्भूत करते हैं **न** जैसे कि **अथर्यः** ज्ञान ज्योतिवाली स्त्रियाँ एक ऐसी सन्तान को जन्म देती हैं जो कि (क) **उषर्बुधम्** प्रातःकाल प्रबुद्ध होनेवाली है। (ख) **दन्तम्** (दम्+त) इन्द्रियों का दमन करनेवाली है, (ग) **शुक्रम्** ज्ञान से दीप्त है, (घ) **स्वासम्**-उत्तम मुखवाली है, सदा शुभ शब्द बोलनेवाली है। (ङ) **परशुं न तिग्मम्** कुठार की तरह तीव्र है। जैसे एक कुल्हाड़ा वृक्ष को काट डालता है, इसी प्रकार ये वासनावृक्ष को काटनेवाले हैं।

भावार्थ—हम प्राणसाधना द्वारा प्रभु दर्शन करनेवाले हों, जैसे कि ज्ञान ज्योतिवाली स्त्रियाँ एक उत्तम सन्तान का दर्शन करती हैं।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—भुरिक्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

(देवताति के लिये प्रार्थना) इन्द्रियाँ

तव त्ये अग्ने हरितो घृतस्ना रोहितास ऋज्वञ्चः स्वञ्चः।
अरुषासो वृषण ऋजुमुष्का आ देवतातिमह्वन्त दस्माः॥ ९॥

(१) हे **अग्ने** प्रभो! **तव** आपके **त्ये** वे **हरितः** इन्द्रियाश्व **घृतस्नाः** दीप्ति को टपकानेवाले हैं, बड़े दीप्त हैं। **रोहितासः** तेजस्विता के कारण रक्तवर्ण के हैं। **ऋज्वञ्चः** सरल गतिवाले हैं, **स्वञ्चः** उत्तम गतिवाले हैं। **अरुषासः**=ये आरोचमान हैं, **वृषणः** शक्तिशाली हैं **ऋजुमुष्काः** सरल व शक्तिशाली (straight and strong) हैं। ये **दस्माः** दर्शनीय इन्द्रियाश्व **देवतातिम्** दिव्यगुणों के विस्तार को, व यज्ञ को **आ अह्वन्त**-पुकारते हैं। दिव्यगुणों के विस्तार के लिये व यज्ञों के लिये प्रार्थना करते हैं। (२) जिस समय हमारी ज्ञानेन्द्रियाँ ज्ञानदीप्त आरोचमान होती हैं और कर्मेन्द्रियाँ तेजस्वी, शक्तिशाली होती हैं, उस समय हमारी वृत्ति दिव्यगुणों के विस्तारवाली होती है, हमारा झुकाव यज्ञात्मक कर्मों की ओर होता है।

भावार्थ—हमारी इन्द्रियाँ ज्ञानदीप्त व तेजस्वी हों। हम दिव्यगुणों के विस्तारवाले व यज्ञिय वृत्तिवाले बनें।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

अर्चयः-ज्ञान-ज्योतियाँ

ये ह त्ये ते सहमाना अयासस्त्वेषासो अग्ने अर्चयश्चरन्ति।
श्येनासो न दुवसनासो अर्थं तुविष्वणसो मारुतं न शर्धः॥ १०॥

(१) हे **अग्ने** परमात्मन्! **ये** जो **ह**-निश्चय से **त्ये**-वे प्रसिद्ध **ते** आपकी **अर्चयः** ज्योतियाँ हैं, वे **सहमानाः** काम क्रोध आदि शत्रुओं का अभिभव करनेवाली हैं। **अयासः**-गतिशील हैं, कर्मों में हमें प्रेरित करनेवाली हैं। **त्वेषासः**-दीप्तिवाली हैं। **दुवसनासः**-परिचरणीय हैं, सेवनीय हैं। इन ज्ञान ज्योतियों को हमें प्राप्त करना ही चाहिए। (२) **श्येनासः न** तीव्र गतिवाले बाजों की तरह **अर्थं चरन्ति**-अर्थनीय वाञ्छनीय-वस्तु की ओर गतिवाली होती हैं। शीघ्रता से अर्थ को प्राप्त करानेवाली होती हैं। ये ज्ञान-ज्योतियाँ **तुविष्वणसः**=महान् स्वनवाली होती हैं, खूब ही प्रभु के नामों का उच्चारण करनेवाली होती हैं। ये **मारुतं शर्धः न**=प्राणों के सैन्य के समान होती हैं। जिस प्रकार शरीर में प्राणों की सेना रोगकृमियों का विनाश करती है, उसी प्रकार ये अर्चियाँ वासनाओं को विदग्ध करनेवाली होती हैं।

भावार्थ—प्रभु की दी हुई ज्ञान-ज्योतियाँ हमें गतिशील बनाती हैं, हमारे आन्तर शत्रुओं का विनाश करती हैं।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

ज्ञान-स्तवन-यज्ञ

अकारि ब्रह्म समिधान तुभ्यं शंसात्युक्थं यजते व्यू धाः।
होतारमग्निं मनुषो नि षेदुर्नमस्यन्त उशिजः शंसमायोः॥ ११॥

(१) हे **समिधान** हृदय देश को दीप्त करनेवाले प्रभो! **तुभ्यम्** आपकी प्राप्ति के लिये **ब्रह्म अकारि** हमारे से ज्ञान प्राप्त किया जाता है। ज्ञान ही तो आपकी प्राप्ति का मुख्य साधन है। आपकी प्राप्ति के लिये ही स्तोता **उक्थम्**-स्तोत्र का **शंसाति**-शंसन करता है। इसी उद्देश्य से यजमान **यजते** यज्ञ करता है। आप **ऊ**-निश्चय से **विधाः** इन सबके लिये धनों का धारण करते हैं, इनके योगक्षेम को चलाते हैं। (२) **मनुषः**-विचारशील **उशिजः** प्रभुप्राप्ति की कामनावाले पुरुष **होतारम्** सब कुछ देनेवाले **आयोः शंसम्**-मनुष्य के शंसनीय **अग्निम्** उस प्रभु को **नमस्यन्तः** पूजित करते हुए **निषेदुः**-उपासना में बैठते हैं।

भावार्थ—प्रभुप्राप्ति के लिये (क) ज्ञान, (ख) स्तवन, (ग) यज्ञ साधनरूप हैं उस प्रभु का प्रतिदिन उपासन करना ही चाहिए।

प्रभु की उपासना से चलनेवाले सुन्दर जीवन का सारे सूक्त में चित्रण है। अगले सूक्त में कहते हैं कि जीवन के सौन्दर्य के लिये प्रभु ही उपास्य है—

[७] सप्तमं सूक्तम्

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—भुरिक्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

धाता-अप्नवान्-भृगु

अयमिह प्रथमो धायि धातृभिर्होता यजिष्ठो अध्वरेष्वीड्यः।
यमप्नवानो भृगवो विरुरुचुर्वनेषु चित्रं विभ्वं विशेविशे॥ १॥

(१) **अयम्** यह, **इह** इस मानव जीवन में, **प्रथमः**-सर्वश्रेष्ठ (-उत्तम) प्रभु **धातृभिः** अपने अन्दर सोम का धारण करनेवालों से **धायि**-धारण किया जाता है। सोम (वीर्य) का धारण करनेवाला पुरुष ही उस प्रभु का हृदय देश में दर्शन करनेवाला होता है। यह देखता है कि ये प्रभु ही **होता** इस सृष्टियज्ञ के होता हैं, वे ही सब कुछ देनेवाले हैं (हु दाने)। **यजिष्ठः** वे ही संगतिकरण योग्य व समर्थनीय हैं, प्रभु के प्रति ही हमें अपना अर्पण कर देना चाहिए। **अध्वरेषु ईड्यः** वे प्रभु ही हिंसा रहित कर्मों में स्तुति के योग्य हैं। सब अध्वर प्रभु कृपा से ही तो पूर्ण होते हैं। (२) प्रभु वे हैं **ये** जिनको **अप्नवानः** कर्मशील कर्मतन्तु का ताना ताननेवाले लोग **भृगवः** (भ्रस्ज पाके) तपस्या की अग्नि में अपना परिपाक करनेवाले लोग **विरुरुचुः** अपने हृदयों में दीप्त करते हैं। उस प्रभु को अपने हृदयों में दीप्त करते हैं, जो कि **वनेषु**-उपासकों में (वन संभक्तौ) **चित्रम्** (चित्) ज्ञान को देनेवाले हैं तथा **विशे विशे** प्राणिमात्र के लिये, संसार में प्रविष्ट प्रत्येक प्राणी के लिये **विभ्वम्**-व्याप्तिवाले हैं (pervading) अथवा ध्यान करनेवाले हैं (contemplating)। प्रभु सर्वत्र व्याप्त हैं, पर उपासक ही अन्तःस्थित प्रभु से प्रेरणा को प्राप्त करते हैं।

भावार्थ—प्रभुप्राप्ति 'धाता, अप्नवान् व भृगुओं' को होती है, सोम (वीर्य) का धारण करनेवाले, क्रियाशील तपस्वी ही प्रभु को देखते हैं।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—स्वराडुष्णिक् ॥ स्वरः—ऋषभः ॥

प्रभु का निरन्तर स्मरण (आनुषक् चेतन)

अग्ने कदा त आनुषग्भुवद्देवस्य चेतनम्। अधा हि त्वा जगृभ्रिरे मर्तासो विक्ष्वीड्यम्॥ २॥

(१) **अग्ने** हे अग्रणी प्रभो! **कदा** जब कभी भी **देवस्य ते** प्रकाशमय आपका **चेतनम्** (चिती संज्ञाने) संज्ञान **आनुषक्** निरन्तर **भुवत्**-होता है **अधा हि**-तब ही **विक्षु**

ईड्वम्-सब प्रजाओं में उपास्य **त्वा**-आपको **मर्तासः**-मनुष्य **जगृभ्रिरे** ग्रहण करते हैं। (२) प्रभु के निरन्तर संज्ञान का भाव यह है कि हम जब अन्तर्मुखी वृत्तिवाले बनकर विषयासक्ति से ऊपर उठ जाते हैं तभी प्रभु का ग्रहण होता है। आपत्ति के समय स्वल्पकाल के लिये प्रभु का स्मरण हुआ और फिर उसे भूल गये तो इस प्रकार प्रभु का ग्रहण नहीं होता। यह आर्तभक्त (दुःखी भक्त) प्रभु का अनन्य भक्त नहीं बनता, यह प्रभु का दर्शन भी नहीं कर पाता। ज्ञानी भक्त ही अनन्य भक्ति को करता हुआ प्रभु का ग्रहण करता है। वह प्राणिमात्र में उस 'सम' प्रभु का प्रकाश देखता है 'विद्या विनयसंपन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि, शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः'।

भावार्थ—प्रभु का निरन्तर स्मरण ही हमें प्रभु ग्रहण के योग्य बनाता है।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—निचृदनुष्टुप्॥ स्वरः—गान्धारः॥

प्रभु ग्रहण किस रूप में?

ऋतावानं विचेतसं पश्यन्तो द्यामिव स्तृभिः। विश्वेषामध्वराणां हस्कर्तारं दमेदमे॥ ३॥

(१) गतमन्त्र में कहा था कि जब प्रभु का निरन्तर संज्ञान होता है तब ये ज्ञानी भक्त प्रभु का दर्शन करते हैं। प्रस्तुत मन्त्र में कहते हैं कि वे उसे किस रूप में देखते हैं? **ऋतावानम्** ऋत का रक्षण करनेवाले के रूप में **पश्यन्तः**-देखते हुए होते हैं। प्रभु के निर्मित संसार में प्रत्येक पिण्ड 'ऋत' पूर्वक गति कर रहा है। नाम मात्र भी वहाँ गलती नहीं, सब पिण्ड ठीक समय व ठीक स्थान पर गति में हैं। **विचेतसम्**-हृदयस्थरूपेण वे सभी को विशिष्ट ज्ञान प्राप्त करा रहे हैं। पवित्र हृदय लोग उस ज्ञान का ग्रहण करते हैं, दूसरे नहीं। उस प्रभु को ये इस प्रकार देखते हैं, **इव** जैसे कि **द्याम्** द्युलोक को **स्तृभिः**-नक्षत्रों से। नक्षत्र जहाँ दीप्त हो रहे हैं वही द्युलोक है। इसी प्रकार ये सूर्य चन्द्र तारे जिसके द्वारा दीप्त किये जा रहे हैं, वे ही प्रभु हैं। इस प्रकार इन पिण्डों में प्रभु की महिमा को देखते हुए वे प्रभु का दर्शन करते हैं। (२) उस प्रभु का दर्शन करते हैं, जो कि **दमे दमे** प्रत्येक गृह में **विश्वेषां अध्वराणाम्**=सब यज्ञों के **हस्कर्तारम्**=प्रभासक (प्रकाशक) हैं। प्रभु ही सब यज्ञों का ज्ञान देते हैं, वे ही इन यज्ञों के रक्षक (भोक्ता) व स्वामी (प्रभु) हैं 'अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभु देव च'।

भावार्थ—प्रभु प्राकृतिक जगत् में ऋत का रक्षण करते हैं, चेतन जगत् में हृदयस्थरूपेण ज्ञान प्राप्त कराते हैं। पिण्ड पिण्ड में प्रभु की महिमा दिखती है। वे ही सब यज्ञों के भोक्ता व प्रभु हैं।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—अनुष्टुप्॥ स्वरः—गान्धारः॥

विवस्वान् का दूत

आशुं दूतं विवस्वतो विश्वा यश्चर्षणीरभि। आ जभ्रुः केतुमायवो भृगवाणं विशेविशे॥ ४॥

(१) **आयवः** गतिशील पुरुष उस प्रभु को **आजभ्रुः** ग्रहण करते हैं **यः**-जो कि **विश्वाः चर्षणीः अभि** सब मनुष्यों का लक्ष्य करके **केतुम्** प्रज्ञान को देनेवाले हैं। **आशुम्** सब में व्याप्त हैं (अशू व्याप्तौ), इसी से **विवस्वतः** (विवासन वतः) अज्ञान का विवासन (निराकरण) करनेवाले पुरुष के लिये **दूतम्** ज्ञान का सन्देश देनेवाले हैं। जो भी व्यक्ति वासनाओं के आवरण को हटाने का प्रयत्न करता है प्रभु उसके लिये ज्ञान को प्राप्त कराते हैं। (२) वे प्रभु तो **विशे विशे**-प्रत्येक प्रजा के लिये **भृगवाणम्**=भृगु की तरह आचरण कर रहे हैं। जैसे आचार्य शिष्य को ज्ञानाग्नि में परिपक्व करता है, इसी प्रकार वे प्रभु सभी के लिये ज्ञान दे रहे हैं।

भावार्थ—हृदयस्थ प्रभु सभी के लिये ज्ञान का सन्देश दे रहे हैं।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—विराडनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

सप्त धामभिः

तमीं होतारमानुषक्चिकित्वांसं नि षेदिरे। रण्वं पावकशोचिषं यजिष्ठं सप्त धामभिः ॥ ५ ॥

(१) **ईम्** निश्चय से **तम्**-उस प्रभु को **आनुषक् निषेदिरे** निरन्तर उपासित करते हैं। जो कि **होतारम्** इस सृष्टि यज्ञ के होता हैं, सब कुछ देनेवाले हैं तथा **चिकित्वांसम्** ज्ञानी हैं। वे प्रभु ही सब जीवों को कर्त्तव्य का ज्ञान देते हैं। (२) **रण्वम्**=वे रमणीय हैं अथवा हृदयस्थरूपेण (रण शब्दे) इस ज्ञान का उच्चारण करनेवाले हैं। **पावक शोचिषम्** ज्ञानदीप्ति के द्वारा हमें पवित्र करनेवाले हैं। वे प्रभु **सप्त धामभिः**-योग के सात धामों के द्वारा, 'यम, नियम, आसन, प्राणायाम प्रत्याहार, धारणा, ध्यान' को तप करने के द्वारा समाधि में **यजिष्ठम्** संगतिकरण योग्य हैं।

भावार्थ—हम प्रतिदिन प्रभु का उपासन करें। यम, नियम आदि का पालन करते हुए प्रभु को पानेवाले बनें।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

क्रियाशीलता उपासना

तं शश्वतीषु मातृषु वन आ वीतमश्रितम्। चित्रं सन्तं गुहा हितं सुवेदं कूचिदर्थिनम् ॥ ६ ॥

(१) **तम्** उस प्रभु को (निषेदिरे)-उपासित करते हैं, जो कि **शश्वतीषु** प्लुत गतिवाले, स्फूर्ति से कार्य करनेवाले **मातृषु** निर्माण के कार्यों में प्रवृत्त लोगों में बने (वननं वनः) उपासना के होने पर **आवीतम्** प्राप्त हुए, हुए को। प्रभु उन लोगों को प्राप्त होते हैं, जो कि (क) स्फूर्ति से क्रियाओं में प्रवृत्त हैं, आलस्यशून्य हैं। (ख) निर्माण के कार्यों में लगे हुए हैं। (ग) उपासना में प्रवृत्त हैं। (२) उस प्रभु को उपासित करते हैं, जो कि **अश्रितम्** किसी के आधार से रहनेवाले नहीं, निराधार होते हुए सर्वाधार हैं। **चित्रम्**-ज्ञान को देनेवाले हैं। **सन्तम्** सत्यस्वरूप हैं। **गुहाहितम्** बुद्धिरूप गुहा में स्थित हैं। **सुवेदम्**-सब उत्तम वसुओं को प्राप्त करानेवाले हैं (विद् लाभे) **कूचिद् अर्थिनम्** किसी भी पदार्थ के लिये अभ्यर्थना के योग्य हैं, 'ज्ञान शक्ति धन' जो कुछ भी हो सब प्रभु से भोगा जा सकता है।

भावार्थ—प्रभु की प्राप्ति उनको होती है जो कि (क) क्रियाशील हों, (ख) निर्माण के कार्यों में प्रवृत्त हों, (ग) उपासनामय जीवनवाले हों।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

विषय निद्रा त्याग

ससस्य यद्वियुता सस्मिन्नूधन्नृतस्य धामन्रणयन्त देवाः।
महाँ अग्निर्नमसा रातहव्यो वेरध्वराय सदमिदृतावा ॥ ७ ॥

(१) **देवाः**-देववृत्ति के पुरुष **ससस्य यद् वियुता** निद्रा के जब समाप्त होने पर, नींद से उठ बैठने पर **सस्मिन् ऊधन्**-(सर्वस्मिन्) सम्पूर्ण ज्ञानदुग्ध के आधार के होने पर, वेदवाणी रूप गौ के ज्ञानदुग्ध के आधार को प्राप्त करने पर, अर्थात् उत्कृष्ट ज्ञान को प्राप्त करने पर, **ऋतस्य धामन्** यज्ञ के स्थान में, यज्ञादि कर्मों में प्रवृत्त होने पर **रणयन्त**-उस प्रभु का स्तवन करते हैं (रण शब्दे)। (क) संसार के विषयों में फँसे रहना ही सोये रहना है। इस नींद से जागकर ही हम प्रभु का स्तवन करते हैं। (ख) ज्ञान के अभाव में भी स्तवन सम्भव नहीं। (ग) यज्ञादि कर्मों में प्रवृत्त होने से ही प्रभु का स्तवन होता है। (२) वे **अग्निः**-अग्रणी प्रभु **महान्** महान् हैं, पूजनीय

हैं। **नमसा**-नमन के द्वारा **रातहव्यः**=सब हव्य पदार्थों के देनेवाले हैं। हम प्रभु का नमन करते हैं, प्रभु हमारे लिये सब हव्य पदार्थों को प्राप्त कराते हैं। **अध्वराय वेः**=यज्ञों के लिये वे जानेवाले होते हैं (वेः-गन्ता)। जहाँ भी यज्ञ होते हैं, वहाँ प्रभु का निवास होता है। **सदं इत्**=सदा ही वे प्रभु **ऋतावा**=ऋत का रक्षण करनेवाले होते हैं।

भावार्थ—प्रभु प्राप्त होते हैं, जब हम (क) विषयनिद्रा से उठ बैठें, (ख) ज्ञानदुग्ध का पान करें, (ग) यज्ञादि में प्रवृत्त हों।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

यज्ञ के सन्देशवाहक प्रभु

वेरध्वरस्य दूत्यानि विद्वानुभे अन्ता रोदसी संचिकित्वान्।
दूत ईयसे प्रदिव उराणो विदुष्टरो दिव आरोधनानि॥ ८॥

(१) वह **विद्वान्**=ज्ञानी प्रभु **अध्वरस्य**=यज्ञ के **दूत्यानि**=दूत कर्मों को **वेः**-(गन्ता) करनेवाला होता है, अर्थात् वे प्रभु सब प्रजाओं के लिये यज्ञों का सन्देश प्राप्त कराते हैं 'सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः, अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्ट कामधुक्'। वे प्रभु **उभे रोदसी**-दोनों द्यावापृथिवी के **अन्तः**=बीच में, अन्तरिक्ष में मस्तिष्क व शरीर के मध्य हृदयान्तरिक्ष में **संचिकित्वान्**-सम्यक् निवास करनेवाले होते हैं (कित निवासे) हृदय देश ही प्रभु का 'परम परार्ध' है। इस हृदय देश में, हे प्रभो! आप **दूतः ईयसे**=ज्ञान का सन्देश देते हुए गति करते हैं। (२) **दिवः**-स्वर्गलोक के, प्रकाशमय लोक के **आरोधनानि**-आरोहणों को (सीढ़ियों को) **विदुष्टरः**-(विद्वत्तरः) खूब जानते हुए आप **प्रदिवः**=हमारे प्रकृष्ट ज्ञानों को **उराणः**=विशाल करनेवाले हैं। हमारे ज्ञानों को बढ़ाकर आप हमें स्वर्गलोक को प्राप्त करानेवाले हैं। 'प्रदिवः' का भाव 'सनातन काल से' यह भी है। तब वाक्य योजना इस प्रकार होगी कि आप प्राचीनकाल से हमारे हृदयों को विशाल बना रहे हैं।

भावार्थ—प्रभु हमें हृदयान्तरिक्ष में स्थित होकर यज्ञ का व ज्ञान का सन्देश देते हैं। यह ज्ञान ही हमारे लिये प्रकाशमय लोक का आरोहण बनता है।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

यत्तदग्रे विषमिव

कृष्णं त एम रुशतः पुरो भाश्चरिष्ण्वर्चिर्वपुषामिदेकम्।
यदप्रवीता दधते ह गर्भं सद्यश्चिज्जातो भवसीदु दूतः॥ ९॥

(१) हे प्रभो! **रुशतः**-देदीप्यमान **ते**=आपका **एम**-गमनमार्ग **कृष्णम्**-प्रारम्भ में कृष्ण है, शुरू में इस पर चलना बड़ा नीरस व कठिन प्रतीत होता है। परन्तु **पुरः भाः**-आगे प्रकाश है 'यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम्' **वपुषाम्**-शरीर धारियों के लिये **चरिष्णु अर्चिः** यह गतिमय ज्ञानदीप्ति **इत्**-निश्चय से **एकम्**-मुख्य है। आपसे दी जानेवाली ज्ञान ज्योति कर्मों में प्रेरित करती है, यह अर्चि (ज्ञानदीप्ति) चरिष्णु है। (२) **यत्**-जिन आपको **अप्रवीताः** (seeds of knowledge not sown) 'जिनमें ज्ञान बीज का वपन नहीं हुआ' वे लोग **ह**-निश्चय से **गर्भं दधते**=अन्दर ही अन्दर धारण करते हैं, वे आप **सद्यः चित्**-शीघ्र ही **जातः**=प्रादुर्भूत हुए-हुए **इत् उ**=निश्चय से **दूतः**=ज्ञान के सन्देशवाहक **भवसि**-होते हैं। सर्वव्यापकता के नाते प्रभु सर्वत्र हैं। परन्तु जब प्रभु का हमारे में प्रादुर्भाव होता है तभी वे हमारे लिये ज्ञान सन्देश को देते हैं।

भावार्थ—प्रभुप्राप्ति का मार्ग प्रथम नीरस, पर पीछे अनुपम रसवाला है। प्रादुर्भूत हुए हुए प्रभु हमारे लिये ज्ञान सन्देश को देते हैं।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

सात्त्विक आहार

स॒द्यो जा॒तस्य॒ ददृ॑शान॒मोजो॒ यद॑स्य॒ वातो॑ अनु॒वाति॑ शो॒चिः।
वृ॒णक्ति॑ ति॒ग्माम॑त॒सेषु॑ जि॒ह्वां स्थि॒रा चि॒दन्ना॑ दयते॒ वि जम्भैः॑॥ १०॥

(१) **सद्यः जातस्य** अभी अभी प्रादुर्भूत हुए हुए प्रभु का **ओजः** ओज (तेज) **ददृशानम्** दर्शनीय होता है। हृदय में प्रभु का आभास होते ही भक्त ओजस्विता का अनुभव करता है। **अस्य शोचिः अनु** इसकी दीप्ति के अनुसार **यत्**-जब **वातः वाति** प्राण गति करता है तो **अतसेषु** (souls) आत्माओं में **तिग्मां जिह्वाम्**-शत्रुओं के लिये अत्यन्त तीक्ष्ण इस ज्ञानाग्नि की ज्वाला रूप जिह्वा को **वृणक्ति** (gives) देता है। प्रभु अपने उपासक को वह ज्ञान ज्वाला प्राप्त कराते हैं, जिसमें वह सब शत्रुओं का दहन कर पाता है। (२) उस समय यह उपासक **जम्भैः** अपने दाँतों से **स्थिरा चित् अन्ना**-स्थिर ही अन्नों को, सात्त्विक अन्नों को 'रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्याः आहाराः सात्त्विक प्रियाः' **विदयेत**-(accept) ग्रहण करता है। इस सात्त्विक अन्न के सेवन से उसकी सत्त्व शुद्धि होकर, उसका ज्ञान बढ़ता है। इस ज्ञानाग्नि में उनके सब शत्रुओं का दहन हो जाता है। 'काम क्रोध लोभ' के विनाश का यही मार्ग है।

भावार्थ—प्रभु का आभास होते ही तीव्र ज्ञान ज्योति प्राप्त होती है। इसमें उसके सब शत्रुओं का दहन हो जाता है। इसके लिये वह सात्त्विक ही अन्नों का सेवन करता है।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

धीमे-धीमे चबाकर-मात्रा में

तृषु यदन्ना॑ तृ॒षुणा॑ व॒वक्ष॑ तृ॒षुं दू॒तं कृ॑णुते य॒ह्वो अ॒ग्निः।
वात॑स्य मे॒ळिं स॑चते नि॒जूर्व॑न्ना॒शुं न वा॑जयते हि॒न्वे अर्वा॑॥ ११॥

(१) **यत्** जब **तृषु** शीघ्रता के साथ (speedily) **अन्ना** अन्नों को **तृषुणा** (by temptation) लालच से **ववक्ष**-अपने अन्दर (वहति) ले जाता है, तो वह **यह्वः** महान् **अग्नि** प्रभु **तृषुं दूतम्** शीघ्र सन्तापयुक्त को **कृणुते** करता है, अर्थात् भोजन धीमे धीमे चबाकर खाना चाहिए, और लालच से अधिक न खा जाना चाहिए। धीमे धीमे चबाकर मात्रा में खाया हुआ अन्न ही सन्तापक नहीं होता। अन्यथा प्रभु व्यवस्था से शरीर में रोग आते ही हैं। (२) यदि वह अन्नों का ठीक सेवन करता है तो **निजूर्वन्** सब रोगों व वासनाओं को विनष्ट करता हुआ **वातस्य** निरन्तर गतिवाले उस प्रभु के **मेडिम्** (संगमक्त दः) मेल को **सचते** प्राप्त होता है। यह **अर्वा** सब वासनाओं का हिंसन करनेवाला होता हुआ **आशुं न** शीघ्रगामी अश्व के समान **वाजयते** अपने को शक्तिशाली बनाता है, **च** और **हिन्वे** उत्तम मार्ग पर अपने को प्रेरित करता है।

भावार्थ—भोजन को चबाकर मात्रा में खाते हुए हम रोग सन्तापों से अपने को बचाएँ। सब वासनाओं को विनष्ट करते हुए प्रभु से मेलवाले हों। अपने को शक्तिशाली बनाकर आगे बढ़ें।

सूक्त में प्रभु को धारण करने के साधनों का उल्लेख हुआ है। इसी भाव को अगले भी सूक्त में कहते हैं—

[८] अष्टमं सूक्तम्

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—निचृद्गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

सम्पत्ति व विपत्ति की परीक्षा

दूतं वो विश्ववेदसं हव्यवाहममर्त्यम्। यजिष्ठमृञ्जसे गिरा॥ १ ॥

(१) **वः**=तुम उपासकों के **दूतम्**=तपस्या की अग्नि में सन्तप्त करनेवाले, धृति की परीक्षा के लिये सन्ताप को प्राप्त करानेवाले उस प्रभु को **गिरा**=ज्ञान की वाणियों से **ऋञ्जसे**=प्रसाधित करता हूँ। प्रभु अपने भक्तों पर आपत्ति को भेजते हैं, ताकि वे धैर्य के अभ्यास में दृढ़ हो सकें। इस प्रभु को पाने का मार्ग यही है कि हम ज्ञान की वाणियों को प्राप्त करें। ज्ञान से ही हमें प्रभु का दर्शन होगा। (२) उस प्रभु का, जो कि **विश्ववेदसम्**-सम्पूर्ण धनोंवाले हैं। आपत्ति की परीक्षाओं में उतीर्ण होने के बाद प्रभु हमें सम्पत्ति की परीक्षा में बैठने का अवसर देते हैं। प्रभु हमें खूब ही सम्पत्ति प्राप्त कराते हैं। और यदि हम उस सम्पत्ति को विषयोपभोग का साधन न बनाकर यज्ञों व लोकहित के कार्यों में विनियुक्त करते हैं तो हम उस परीक्षा में भी उत्तीर्ण हो जाते हैं। (२) सम्पत्ति को परीक्षा में उत्तीर्ण होनेवाले व्यक्ति 'हव्य' हैं, जिन्होंने लोकहित के कार्यों में अपनी आहुति दी है। प्रभु **हव्य-वाहम्**=इन हव्यों को अपने समीप प्राप्त करानेवाले हैं। और **अमर्त्यम्** हमें जन्म मरण के चक्र से ऊपर उठानेवाले हैं। अतएव वे प्रभु **यजिष्ठम्**=अधिक से अधिक उपासनीय हैं, संगतिकरण योग्य हैं व समर्थनीय हैं। 'यज्ञ देव पूजा-संगतिकरण दानेषु'।

भावार्थ—प्रभु हमें विपत्ति व सम्पत्ति की परीक्षाओं में बिठा के उन्नत करते हैं, अन्ततः हमें जन्म मरण के चक्र से ऊपर उठाते हैं। इन प्रभु को ज्ञानवाणियों से मैं प्राप्त करने का प्रयत्न करता हूँ।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

वसु-ज्ञान-दिव्यगुण

स हि वेदा वसुधितिं महाँ आरोधनं दिवः। स देवाँ एह वक्षति॥ २ ॥

(१) **सः** वे प्रभु **हि** ही **वसुधितिम्**=सब धनों के धारण को **वेद**=जानते हैं। वे प्रभु हमें सब आवश्यक वस्तुओं को प्राप्त कराते हैं। वे **महान्**=पूजनीय प्रभु ही **दिवः आरोधनम्**-(आरोहणं) प्रकाशमय लोक के आरोहण को (सीढ़ी को) प्राप्त कराते हैं, अर्थात् उस मार्ग का ज्ञान देते हैं, जिस पर चलकर हम उत्तरोत्तर अपने ज्ञान को बढ़ानेवाने बनते हैं और अन्ततः प्रकाशमय लोक में हमारा निवास होता है। (२) **सः**=वे प्रभु ही सब वसुओं को प्राप्त कराके तथा प्रकाशमय लोक पहुँचने के मार्ग का ज्ञान देकर **इह**=इस जीवन में **देवान्**=सब दिव्य गुणों को **आवक्षति**-प्राप्त कराते हैं। 'निर्धनता व अज्ञान' ये दोनों ही बातें दिव्यगुणों के विकास की विरोधिनी हैं। दिव्य गुणों के विकास के लिये वसुओं की प्राप्ति व ज्ञान आवश्यक हैं।

भावार्थ—प्रभु हमारे लिये वसुओं को प्राप्त कराते हैं, ज्ञान के मार्ग को दिखाते हैं और इस प्रकार हमें दिव्यगुणों के विकास के लिये तैयार कर देते हैं।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

नम्रता (देवों का मुख्य गुण)

स वेद देव आनमं देवाँ ऋतायते दमे। दाति प्रियाणि चिद्वसु॥ ३ ॥

(१) **सः देवः**-वे प्रकाशमय प्रभु **देवान्**=दिव्य गुणोंवाले इन पुरुषों को **आनमं वेद**-झुकाना

जानते हैं (आनमयितुं), अर्थात् प्रभु इनमें नम्रता की भावना का संचार करते हैं। दैवी सम्पत्ति की चरम सीमा 'नातिमानिता' ही तो है। अभिमान दैवी सम्पत्ति को आसुरी सम्पत्ति के रूप में परिवर्तित कर देता है। (२) **ऋतायते** ऋत को अपनाने की कामनावाले पुरुष के लिये वे प्रभु **दमे** घर में **चित्** निश्चय से **प्रियाणि वसु**-प्रिय वसुओं को **दाति** देते हैं, प्राप्त कराते हैं। ऋत के आचरणवाला पुरुष सब इष्ट वसुओं को प्राप्त करनेवाला बनता है।

भावार्थ—देवों की दो मुख्य विशेषताएँ हैं—(क) वे नम्र होते हैं, (ख) उनका आचरण ऋतवाला होता है, सब कार्यों को ठीक समय व ठीक स्थान पर करते हैं।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—निचृद्गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

ज्ञान-सन्देश की प्राप्ति

स होता सेदु दूत्यं चिकित्वाँ अन्तरीयते। विद्वाँ आरोधनं दिवः ॥ ४ ॥

(१) **सः**-वे प्रभु **होता**-सब कुछ देनेवाले हैं। **सः इत् उ** और वे प्रभु ही **दूत्यम्** दूत कर्म को **चिकित्वान्** जानते हुए, ज्ञान सन्देश को प्राप्त कराने का ध्यान करते हुए **अन्तः ईयते** हृदय देशों में गति करते हैं। द्यावापृथिवी के मध्य में अन्तरिक्ष में गति का भाव यही है मस्तिष्क व शरीर के मध्य में हृदय देश में गति करना। यहाँ हृदय में गति करते हुए ही वे प्रभु ज्ञान का उपदेश करते हैं। (२) वे प्रभु **दिवः**-प्रकाशमय लोक के **आरोधनम्** आरोहण को (सीढ़ी को) **विद्वान्** जानते हैं। प्रभु से इस आरोहण के ज्ञान को प्राप्त करके हम भी स्वर्गलोक में आक्रमणवाले होते हैं।

भावार्थ—वे सब कुछ देनेवाले प्रभु हृदयस्थरूपेण ज्ञान का सन्देश देते हैं, प्रकाशमय लोक में पहुँचने के मार्ग को बतलाते हैं।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—निचृद्गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

यज्ञ व प्रभु की प्राप्ति

ते स्याम ये अग्नये ददाशुर्हव्यदातिभिः। य ईं पुष्यन्त इन्धते ॥ ५ ॥

(१) गतमन्त्र के अनुसार प्रभु से ज्ञान के सन्देश को सुनकर हम **ते** वे **स्याम** हों, **ये** जो **अग्नये** अग्नि के लिये **हव्यदातिभिः** हव्य पदार्थों के देने के द्वारा **ददाशुः** अपना अर्पण करनेवाले होते हैं। यज्ञों में हव्य पदार्थों की आहुति देते हुए ये लोग यज्ञमय जीवनवाले बन जाते हैं। (२) हम वे बनें **ये** जो **ईम्** निश्चय से **पुष्यन्तः** इन यज्ञों से अपना पोषण करते हुए (अपने प्रमविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक्) **इन्धते** अपने हृदयों में उस प्रभु को समिद्ध करते हैं। यज्ञों से स्वार्थ वृत्ति विनष्ट होती है और हमें प्रभु का दर्शन होता है। स्वार्थ ही एक ऐसा आवरण है, जो हमें प्रभु दर्शन से वञ्चित करता है।

भावार्थ—यज्ञमय जीवनवाले बनकर हम अपना पोषण करें और हृदयदेश में प्रभु को समिद्ध करें।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—निचृद्गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

राया-सुवीर्यैः

ते राया ते सुवीर्यैः ससवांसो वि शृण्विरे। ये अग्ना दधिरे दुवः ॥ ६ ॥

(१) **ये** जो पुरुष **अग्ना** उस परमात्मरूप अग्नि में **दुवः दधिरे** परिचर्या को करते हैं, अर्थात् जो प्रतिदिन प्रातः सायं प्रभु का उपासन करते हैं **ते राया** वे धनों से **ससवांसः** (संभजमानाः)

लोक सेवा के कार्यों में प्रवृत्त हुए **विशृण्विरे**=सुने जाते हैं। **ते** वे **सुवीर्यैः** उत्तम पराक्रमों से (ससवांसः विशृण्विरे) लोक सेवा करते हुए सब प्राणियों के हित में लगे हुए सुन पड़ते हैं। (२) प्रभु का उपासक धनों व सुवीर्यों को प्राप्त करता है। पर वह इनका विनियोग दान व रक्षण में करता हुआ सभी का हित करता है। यह अधिक से अधिक प्राणियों का हित करना ही प्रभु का सच्चा सम्भजन है, यही सत्य है, यही धर्म है।

भावार्थ—प्रभु उपासना से धनों व सुवीर्यों को प्राप्त करके हम उनसे लोक सेवा में प्रवृत्त हों और इस प्रकार यशस्वी बनें।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः षड्जः॥

रायः-वाजासः

अस्मे रायो दिवेदिवे सं चरन्तु पुरुस्पृहः। अस्मे वाजास ईरताम्॥ ७॥

(१) **दिवे दिवे**-प्रतिदिन-दिन दूने रात चौगुने, **रायः**-धन **अस्मे संचरन्तु**-हमें सम्यक् प्राप्त हों, उत्तम मार्ग से प्राप्त हों। ये धन **पुरुस्पृहः**=पालक और पूरक व स्पृहणीय हों, अर्थात् भोगविलास में व्ययित होते हुए ये नाशक व न्यूनताओं की ओर ले जानेवाले न हों, तथा अवाञ्छनीय न बन जायें। 'दिवे दिवे' का भाव यही है कि मुझे धन प्रतिदिन प्राप्त हों 'getting prosperity continuously' की तरह मुझे प्रतिदिन आवश्यक धन प्राप्त होती रहे, अनावश्यक धन के रक्षण का मुझे बोझ उठाना ही न पड़े। मैं 'उप-मुक्त-धन' ही बनूँ। मुझे 'मुक्त धन' न बनना हो। (२) हे प्रभो! इन धनों के ठीक प्रयोग से **अस्मे**-हमारे लिये **वाजासः** शक्तियाँ, **ईरताम्**-प्राप्त हों हमारा अंग-प्रत्यंग शक्ति सम्पन्न बने।

भावार्थ—हमें पुरुस्पृह धन प्राप्त हों और उनके ठीक विनियोग से हम सर्वाङ्ग सुन्दर सबल शरीरवाले बनें।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—भुरिग्गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

प्राजापत्य यज्ञ में आहुति

स विप्रश्चर्षणीनां शवसा मानुषाणाम्। अति क्षिप्रेव विध्यति॥ ८॥

(१) **सः**=वह प्रभु भक्त **चर्षणीनाम्**-श्रमशील मनुष्यों में **विप्रः**-अपना विशेषरूप से पूरण करनेवाला (वि+प्रा) होता हुआ **शवसा**=अपने बल व बल सम्पादित कर्मों से **मानुषाणाम्**=मनुष्यों के सब कष्टों को **क्षिप्रा इव**-क्षेप्य वस्तुओं की तरह, विनष्ट करने योग्य वस्तुओं की तरह **अति विध्यति**-खूब ही दूर करता है। (२) एक प्रभु भक्त पहले अपना पूरण करता है, अपनी कमियों को दूर करता है। और अपना ठीक परिपाक करके लोकहित के कार्यों में प्रवृत्त होता है।

भावार्थ—हम अपना ठीक परिपाक करके प्राजापत्य यज्ञ (लोक रक्षण) में अपनी आहुति देनेवाले बनें।

सूक्त भाव यही है कि मनुष्य अपने जीवन को उत्कृष्ट बना के प्राजापत्य यज्ञ में आहुति देनेवाला बने। अगले सूक्त का प्रारम्भ इन शब्दों से होता है कि प्रभु इन देववृत्ति के व्यक्तियों को प्राप्त होते हैं—

[९] नवमं सूक्तम्

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः -षड्जः ॥

देवयु को प्रभु की प्राप्ति

अग्ने॑ मृळ म॒हाँ अ॑सि॒ य ई॒मा दे॑व॒युं जन॑म्। इ॒येथ॑ ब॒र्हिरा॒सद॑म्॥ १ ॥

(१) **अग्ने** हे प्रभो! **मृड**=आप हमारे जीवन को सुखी करिये। **महान् असि** आप ही महान् हैं, पूजा के योग्य हैं। आपके पूजन से ही मेरा जीवन व्यर्थ की बातों से बचा रहकर सुखी बना रहता है। (२) आप वे हैं **यः**-जो **ईम्**-निश्चय से **देवयुं जनम्**-दिव्य गुणों की प्राप्ति की कामनावाले मनुष्य को **बर्हिः आसदम्**=वासनाशून्य हृदय में बैठने के लिये **इयेथ** प्राप्त होते हैं, अर्थात् आपकी प्राप्ति देवयु पुरुष को ही होती है। दिव्य गुणों की प्राप्ति की कामना मुझे देव बनाकर महादेव के समीप प्राप्त कराती है।

भावार्थ—प्रभु पूजन के द्वारा मैं अशुभ वृत्तियों से बचता हूँ। दिव्य वृत्तिवाला बनकर मैं प्रभु को अपने हृदयासन पर बिठाता हूँ।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—विराड्गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

'दूडभ' प्रभु

स मानु॑षीषु दू॒ळभो॑ वि॒क्षु प्रा॒वीरम॑र्त्यः। दू॒तो विश्वे॑षां भुवत्॥ २ ॥

(१) गतमन्त्र के अनुसार प्रभु पूजन करता हुआ देवयु बनकर मैं प्रभु को अपने हृदयासन पर बिठाता हूँ। उस समय **सः**-वे प्रभु **मानुषीषु विक्षु** इन मानव प्रजाओं में **दूडभः** हिंसित होनेवाला नहीं होता। काम क्रोध आदि राक्षसीभाव प्रभु पर आक्रमण नहीं कर पाते। जब हम प्रभु को अपने हृदय में निवास कराते हैं तो प्रभु की ज्ञानाग्नि में भस्म होने के भय से 'काम' वहाँ आता ही नहीं। इस प्रकार वे प्रभु प्रजाओं में **प्रावीः**-प्रकर्षेण प्राप्त होनेवाले होते हैं, **अमर्त्यः** उनको मृत्यु व पापों से बचाते हैं, उनको विषयों के पीछे मरनेवाला नहीं होने देते। (२) ये प्रभु **विश्वेषाम्** सब उपासकों के **दूतः** ज्ञान-सन्देश को प्राप्त करानेवाले होते हैं। प्रभु से ज्ञान को प्राप्त करके ये अपने जीवन को उत्तम बना पाते हैं।

भावार्थ—हृदयस्थ प्रभु हमें काम क्रोध आदि का शिकार नहीं होने देते। हमें ज्ञान का सन्देश देते हैं।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

होता-पोता

स सद्म॒ परि॑ णीयते॒ होता॑ म॒न्द्रो दिवि॑ष्टिषु। उ॒त पोता॒ नि षी॑दति ॥ ३ ॥

(१) **सः** वे प्रभु **सद्म**-शरीररूपी गृह में **परिणीयते** प्राप्त कराये जाते हैं। उपासक प्रभु को अपने हृदयासन पर बिठाने का प्रयत्न करते हैं। वे प्रभु **होता**-सब कुछ देनेवाले हैं। **मन्द्रः** आनन्दमय हैं। (२) **उत** और **दिविष्टिषु** (दिव्+इष्) ज्ञान की प्रेरणाओं के होने पर **पोता** हमारे जीवनों को पवित्र करते हुए **निषीदति** वे प्रभु हमारे में आसीन होते हैं।

भावार्थ—उपासक का कार्य यह है कि प्रभु को शरीरगृह में प्राप्त करायें। प्रभु का हृदय में ध्यान करे। प्रभु इसे ज्ञान की प्रेरणा देकर पवित्र जीवनवाला बनाते हैं।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

प्रभु किस-किस रूप में?

उत ग्ना अग्निरध्वर उतो गृहपतिर्दमे। उत ब्रह्मा नि षीदति॥ ४॥

(१) **उत**-और **अग्निः** वे अग्रणी प्रभु **अध्वरे**-इस जीवनयज्ञ में **ग्नाः**='छन्दांसि वै ग्नाः, छन्दोभिर्हि स्वर्गं लोकं गच्छन्ति' (श० ५।५।४।७) छन्दों के रूप में होते हैं। इन छन्दों के रूप में प्रेरणा को देकर वे हमें पापों से बचाते हैं। (२) **उत उ**-और निश्चय से वे प्रभु **दमे**-इस शरीर गृह में **गृहपतिः** गृहपति हैं। प्रभु द्वारा ही सब क्रियाओं की व्यवस्था हो रही है। प्रभु ही 'वैश्वानर' अग्नि के रूप में पाचनादि क्रियाओं को भी कर रहे हैं। (३) **उत**=और **ब्रह्मा**-सब वेदों का, ज्ञानवाणियों का ज्ञान देनेवाले होकर **निषीदति**-हमारे हृदयों में निषण्ण होते हैं।

भावार्थ—प्रभु ही हमें पापों से बचाकर जीवन-यज्ञ को चलाते हैं। प्रभु ही हमारे रक्षक हैं। वे ही ज्ञान देनेवाले हैं।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—पादनिचृद्गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

प्रभु के प्रिय कौन?

वेषि ह्यध्वरीयतामुपवक्ता जनानाम्। हव्या च मानुषाणाम्॥ ५॥

(१) हे प्रभो! आप **अध्वरीयताम्**=यज्ञों की कामनावाले पुरुषों की **वेषि** कामना करते हैं। ये पुरुष ही आपको प्रिय होते हैं। आप **जनानाम्**=(जनी प्रादुर्भावे) अपनी शक्तियों के विकास में लगे हुए पुरुषों के **उपवक्ता** हृदयस्थ होकर समीप से ज्ञानोपदेश करनेवाले हैं, मार्ग दिखानेवाले हैं। (२) **च** और आप ही **मानुषाणाम्**=विचारशील पुरुषों के **हव्या**-हव्य पदार्थों को प्राप्त करानेवाले हैं। हे प्रभो! आप से प्राप्त हव्य पदार्थों का ही सेवन करते हुए ये अपने मानव जीवन को सफल कर पाते हैं।

भावार्थ—प्रभु ही हमारे हृदयस्थ होकर ज्ञानोपदेश देते हैं।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—विराड्गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

यज्ञशीलता

वेषीद्वस्य दूत्यं१ यस्य जुजोषो अध्वरम्। हव्यं मर्तस्य वोळ्हवे॥ ६॥

(१) हे प्रभो! आप **इत् उ**-निश्चय से **अस्य**-इस पुरुष के **दूत्यम्**-ज्ञान-सन्देश के प्राप्त कराने के काम को **वेषि**=चाहते हैं (कामयसे), अर्थात् उसे ज्ञान प्राप्त कराते हैं, **यस्य**-जिसके **अध्वरम्**-यज्ञ का **जुजोषः** आप प्रीतिपूर्वक सेवन करते हैं। वस्तुतः यज्ञशील पुरुष को ही आप ज्ञान प्राप्त कराते हैं। (२) आप इस **मर्तस्य**-यज्ञशील पुरुष के **हव्यं वोढवे**-हव्य पदार्थों के प्राप्त करानेवाले होते हैं। हम यज्ञशील बनें, प्रभु हमें सब आवश्यक पदार्थों को प्राप्त करायेंगे। इन हव्य पदार्थों के सेवन से हमारा जीवन अधिकाधिक पवित्र होता जाएगा।

भावार्थ—हम यज्ञशील बनें, प्रभु हमें ज्ञान प्राप्त करायेंगे और हव्य पदार्थों को हमारे लिये देनेवाले होंगे।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—निचृद्गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

अध्वर-यज्ञ-प्रार्थना

अस्माकं जोष्यध्वरमस्माकं यज्ञमङ्गिरः। अस्माकं शृणुधी हवम्॥ ७॥

(१) हे **अंगिरः** हमारे अंग प्रत्यंग में रस का संचार करनेवाले प्रभो! **अस्माकम्** हमारे **अध्वरम्**-हिंसारहित कर्मों को **जोषि** प्रीतिपूर्वक सेवन करिये। हमारे ये अध्वर हमें आपका प्रिय बनायें। **अस्माकम्** हमारे **यज्ञम्** यज्ञ का प्रीतिपूर्वक सेवन करिये, हमारे ये यज्ञ (लोकसंग्रहात्मक कार्य) हमें आपका प्रिय बनायें। (२) **अस्माकम्** हमारी **हवम्** पुकार को **शृणुधी** सुनिये। हमारी प्रार्थना आपसे स्वीकृत हो। हम आपके प्रिय बनें और प्रार्थनीय वस्तु को प्राप्त करनेवाले बनें।

भावार्थ—अध्वरों व यज्ञों को अपनाते हुए हम प्रभु के प्रिय बनें। हमारी प्रार्थना अवश्य पूर्ण हो।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—निचृद्गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

अहिंसित शरीर-रथ

परि॑ ते दूळभो॒ रथो॑ऽस्माँ अ॑श्नोतु वि॒श्वतः॑। येन॒ रक्ष॑सि दा॒शुषः॑॥ ८॥

(१) हे प्रभो! **ते** आपका वह **दूडभः** हिंसित न होनेवाला **रथः** शरीर-रथ **अस्मान्** हमें **विश्वतः**-सब ओर से **परि अश्नोतु**-व्याप्त करनेवाला हो। हमें वह शरीर रथ प्राप्त हो जो कि रोगों व वासनाओं से हिंसित नहीं होता। (२) यह शरीर रथ वह है **येन** जिससे **दाशुषः रक्षसि** हे प्रभो! आप दाश्वान् का रक्षण करते हैं, जो भी प्रभु के प्रति अपना अर्पण करता है, प्रभु से वह उत्तम शरीर रथ प्राप्त कराते हुआ अपना रक्षण कर पाता है।

भावार्थ—उपासक को प्रभु रोगों व वासनाओं से हिंसित न होनेवाला शरीर रथ प्राप्त कराते हैं।

अगले सूक्त में भी 'अग्नि' नाम से प्रभु का आराधन करते हैं—

[१०] दशमं सूक्तम्

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

स्तवन द्वारा प्रभु का सान्निध्य

अग्ने॒ तम॒द्याश्वं॒ न स्तोमैः॒ क्रतुं॒ न भ॒द्रं हृ॑दि॒स्पृश॑म्। ऋ॒ध्यामा॑ त॒ ओहैः॑॥ १॥

(१) हे **अग्ने** परमात्मन्! **ते** आपके **ओहैः**-प्राप्त करानेवाले **स्तोमैः** स्तोमों से **अद्य** आज **तम्** उन प्रसिद्ध आपको **ऋध्याम**-हम अपने अन्दर समृद्ध करें। हम आपको अपने हृदयों में स्तोमों के द्वारा बढ़ानेवाले हों। आप की स्तुति करते हुए, उन स्तुति-वाचक शब्दों से प्रेरणा को लेकर वैसे ही बनते हुए, आपको अपने में दीप्त करनेवाले हों। (२) उन आपको हम अपने में समृद्ध करें, जो आप **अश्वं न**-घोड़े के समान हैं। जैसे घोड़ा हमें लक्ष्य स्थान पर पहुँचाता है, उसी प्रकार आप हमें लक्ष्य स्थान पर पहुँचानेवाले हैं। **क्रतुं न**-यज्ञ के समान **भद्रम्** हमारा कल्याण करनेवाले हैं। यज्ञ से जीवन नीरोग बनता है, प्रभु की उपासना से भी नीरोगता व निर्मलता प्राप्त होती है। हे प्रभो! आप **हृदिस्पृशम्**-हमारे हृदयों में सम्पर्कवाले हैं। हम हृदयों में ही आपका दर्शन कर पाते हैं।

भावार्थ—हम स्तवन के द्वारा प्रभु की समीपता को प्राप्त करें। प्रभु हमारा कल्याण करनेवाले हैं। हृदयों में हम उस प्रभु का दर्शन करते हैं।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—भुरिग्गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

'क्रतु व ऋत के नेता प्रभु'

अधा॒ ह्य॑ग्ने॒ क्रतो॑र्भ॒द्रस्य॒ दक्ष॑स्य सा॒धोः। र॒थीर्ऋ॒तस्य॑ बृह॒तो ब॒भूथ॑॥ २॥

(१) हे **अग्ने** अग्रणी प्रभो! **अधा हि**=अब निश्चय से **क्रतोः**-हमारे जीवन में यज्ञ के **रथीः** नेता **बभूथ**-आप होते हैं। आपकी कृपा से हमारा जीवन यज्ञमय बनता है। इस हमारे जीवन में उस यज्ञ के आप नेता होते हैं, जो कि **भद्रस्य**=हमारा कल्याण करनेवाला है। **दक्षस्य**-हमारी betterment (वृद्धि) का कारण है तथा **साधोः**=हमारे सब कार्यों को सिद्ध करनेवाला है। (२) इस यज्ञ के साथ आप **बृहतः** महान् व वृद्धि के कारणभूत **ऋतस्य**-ऋत के आप रथी (नेता) होते हैं। आपके स्तवन से हमारा जीवन ऋतमय बनता है, हम सब कार्यों को ठीक समय पर व ठीक स्थान पर करनेवाले बनते हैं। यह ऋत हमारी वृद्धि का कारण बनता है।

भावार्थ—प्रभु स्तवन के होने पर हमारा जीवन क्रतु व ऋतवाला होता है। हम जीवन में यज्ञमय बनते हैं और सब कार्यों को ठीक समय पर करनेवाले होते हैं।

ऋषिः—**वामदेवः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**भुरिग्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

ज्योति-तेज व शोभन मन की प्राप्ति

एभिर्नो अर्कैर्भवा नो अर्वाङ्स्वर्१्ण ज्योतिः। अग्ने विश्वेभिः सुमना अनीकैः॥ ३॥

(१) हे **अग्ने**-अग्रणी प्रभो! आप **एभिः नः अर्कैः**-इन हमारे अर्चना के साधनभूत मन्त्रों से **नः अर्वाङ् भव**=हमें आभिमुख्येन प्राप्त होनेवाले होइये। आप हमारे लिये **स्वः न ज्योतिः**-सूर्य के समान देदीप्यमान प्रकाश हैं। आपकी उपासना में चलते हुए हम सूर्यसम ज्ञान की ज्योति को प्राप्त करते हैं। (२) आप **विश्वेभिः अनीकैः**=सब बलों व तेजस्विताओं के द्वारा **सुमनाः** हमें उत्तम मन को प्राप्त कराते हैं। आपकी उपासना हमें तेजस्विता प्राप्त कराती है। इस तेजस्विता से हम 'सुमना'-उत्तम मनवाले बनते हैं।

भावार्थ—प्रभु उपासना से हमें ज्ञान, तेजस्विता व उत्तम मन प्राप्त होता है।

ऋषिः—**वामदेवः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**भुरिग्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

दिवः-शुष्माः

आभिष्टे अद्य गीर्भिर्गृणन्तोऽग्ने दाशेम। प्र ते दिवो न स्तनयन्ति शुष्माः॥ ४॥

(१) हे **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! **अद्य**=आज **आभिः**-इन **गीर्भिः**-ज्ञान की वाणियों से **गृणन्तः** आपका स्तवन करते हुए **ते दाशेम**=आपके प्रति हम अपना अर्पण करें। वस्तुतः जब एक व्यक्ति अपने जीवन को ज्ञान में लगाता है तो सांसारिक वासनाओं से बचता हुआ वह प्रभु के प्रति झुकाववाला होता है। (२) उस समय **ते**=आपके **शुष्माः**-शत्रु-शोषक बल **स्तनयन्ति**-हमारे अन्दर गर्जना करनेवाले होते हैं, अर्थात् आपसे शक्तियों को प्राप्त करके हम काम क्रोध आदि शत्रुओं को युद्ध में ललकारनेवाले बनते हैं। ये आपकी शक्तियाँ हमारे जीवनों में इस प्रकार गर्जती हैं **न** जैसे कि **दिवः**-ज्ञान के प्रकाश हमारे अन्दर स्तनित हों उठते हैं। विद्युद् गर्जना प्रकाश को लिये हुए होती है, इसी प्रकार ये **शुष्मः**-ज्ञान को लिये हुए होते हैं।

भावार्थ—हम ज्ञान की वाणियों से प्रभु का स्तवन करते हुए प्रभु के प्रति अपना अर्पण करते हैं तो प्रभु हमें प्रकाश व बल प्राप्त कराते हैं (दिवः-शुष्माः)।

ऋषिः—**वामदेवः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**स्वराडुष्णिक्** ॥ स्वरः—**ऋषभः** ॥

स्वादिष्ठा संदृष्टि

तव स्वादिष्ठाग्ने संदृष्टिरिदा चिदह्न इदा चिदक्तोः। श्रिये रुक्मो न रोचत उपाके॥ ५॥

(१) हे **अग्ने**-प्रकाशमय प्रभो! **तव**=आपकी **संदृष्टिः**-यह कल्याणकारिणी दृष्टि

स्वादिष्ठा हमारे जीवनों को अत्यन्त मधुर बनानेवाली है। यह आपकी संदृष्टि **इदाचित् अह्नः** इस समय दिन में, **इदा चित् अक्तोः**-और इस समय रात्रि में **श्रिये**-हमारी शोभा के लिये होती है। आपकी संदृष्टि दिन-रात हमारी श्री का वर्धन करती है। (२) आपकी यह संदृष्टि **उपाके**-हमारे समीप, हमारे हृदयों में **रुक्मः न** स्वर्ण के समान **रोचते** दीप्त होती है। हमारा हृदय आपकी इस संदृष्टि से जगमगा उठता है।

भावार्थ—प्रभु की कल्याणी दृष्टि से (क) हमारा जीवन मधुर बनता है, (ख) दिन दूनी रात चौगुनी श्री का वर्धन होता है, (ग) हमारा हृदय स्वर्ण के समान ज्ञान ज्योति से जगमगा उठता है।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—विराडुष्णिक्॥ स्वरः—ऋषभः॥

निर्दोष शरीर

घृतं न पूतं तनूररेपाः शुचि हिरण्यम्। तत्ते रुक्मो न रोचत स्वधावः॥ ६॥

(१) गतमन्त्र के अनुसार प्रभु की 'स्वादिष्ठा संदृष्टि' के प्राप्त होने पर हमारा **तनूः** शरीर **अरेपाः**-इस प्रकार दोषरहित हो जाता है **न**-जैसे कि **पूतं घृतम्** शुद्ध किया हुआ घी। उस समय हमारी **हिरण्यम्**-ज्ञान ज्योति **शुचि**-अत्यन्त शुद्ध होती है। (२) हे **स्वधावः** (स्व धात्) हमारी आत्माओं का शोधन करनेवाले प्रभो! **ते तत्**-आपकी वह ज्ञान-ज्योति **रुक्म न** स्वर्ण के समान **रोचते**-दीप्त होती है। हमारे जीवनों के सब मलों का हरण करती हुई वह ज्योति सचमुच चमक उठती है।

भावार्थ—प्रभु से प्राप्त करायी गई ज्ञान ज्योति से हमारा शरीर निर्दोष होकर चमक उठता है।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—भुरिग्गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

दृढ़मूल द्वेष का भी दूरीकरण

कृतं चिद्धि ष्मा सनेमि द्वेषोऽग्न इनोषि मर्तात्। इत्था यजमानादृतावः॥ ७॥

(१) हे **अग्ने** सब दोषों को दग्ध करनेवाले प्रभो! आप **मर्तात्** मनुष्य से **कृतं चित्** किये हुए भी **सनेमि**-पुराने **द्वेषः** द्वेष को **हिष्मा**-निश्चय से **इनोषि** प्रेरित करते हो, दूर भगाते हो (नाशयसि सा०)। कितनी भी द्वेष की भावना पुरानी व दृढ़मूल हो जाये, प्रभु उपासना से वह नष्ट हो जाती है। (२) हे **ऋतावः**-ऋत का रक्षण करनेवाले, अथवा ऋतवाले प्रभो! **इत्था** सचमुच **यजमानात्**-यज्ञशील पुरुष से आप द्वेष आदि को दूर भगाते हो।

भावार्थ—प्रभु उपासना से दृढ़मूल भी द्वेष नष्ट हो जाते हैं। हम यज्ञशील बनते हैं और जीवन को पवित्र करनेवाले होते हैं।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—स्वराडुष्णिक्॥ स्वरः—ऋषभः॥

देव सम्पर्क

शिवाः नः सख्या सन्तु भ्रात्राग्ने देवेषु युष्मे। सा नो नाभिः सदने सस्मिन्नूधन्॥ ८॥

(१) हे **अग्ने**-परमात्मन्! **युष्मे**-आपके **देवेषु**=देववृत्ति के पुरुषों में **नः**-हमारी **सख्या** मित्रताएँ **शिवा**-कल्याणकर **सन्तु** हों। इसी प्रकार इन आपके देवों में **भ्रात्रा**-हमारे भ्रातृत्व कल्याण कर हों। हम प्रभु कृपा से देववृत्ति के व्यक्तियों के ही बन्धु व भाई बनें। (२) **सा**-वह **नः** हमारा **नाभिः**-देवों के साथ सम्बन्ध (णह बन्धने) **सदने**=(उपसदने) उपासना के निमित्त हो अथवा

प्रभुरूप सवन की प्राप्ति का साधन हो। प्रभु ही तो हमारे घर हैं, यहाँ तो जीवनयात्रा पर आये हुए हैं। देवों के सम्पर्क में आने से हम यात्रा को पूर्ण करके प्रभु को पानेवाले बनते हैं तथा **सस्मिन् ऊधन्** सम्पूर्ण ज्ञानदुग्ध के आधार के निमित्त हो, अर्थात् उस देव सम्बन्ध के द्वारा हम आपकी (प्रभु की) उपासनावाले बनें तथा वेदवाणीरूप गौ के ज्ञानदुग्ध के आधार के ही स्वामी बन जाएँ, अर्थात् सम्पूर्ण ज्ञान को प्राप्त करनेवाले बनें।

भावार्थ—देवों के सम्पर्क में रहते हुए हम उपासना व ज्ञानवाले बनें। उपासनामय हमारा जीवन हो, सम्पूर्ण ज्ञान को प्राप्त करनेवाले हम बनें।

इसी अग्नि से अगले सूक्त में भी प्रार्थना करते हैं—

द्वितीयोऽनुवाकः

[११] एकादशं सूक्तम्

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

भद्रं 'अनीकम्'

भद्रं ते अग्ने सहसिन्ननीकमुपाक आ रोचते सूर्यस्य।
रुशद् दृशे ददृशे नक्तया चिदरूक्षितं दृश आ रूपे अन्नम्॥ १॥

(१) हे **सहसिन्** बलवन्! **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! **ते अनीकम्**-आपका तेज **भद्रम्**=कल्याणकर है। **सूर्यस्य उपाके**=सूर्य की समीपता में **आ रोचते**=आपका ही तेज चमकता है, अर्थात् आपके तेज से ही दीप्त होकर यह सूर्य चारों ओर प्रकाश कर रहा है। (२) सूर्य दिन में ही प्रकाश करता है, पर (क) आपका **रुशत्**=चमकीला **दृशे**=दर्शनीय यह तेज **नक्तया चित्**=रात्रि में भी **ददृशे**=प्रकाश को करनेवाला होता है। (ख) **अरूक्षितम्**=आपका यह तेज रूक्ष नहीं। अन्य तेज स्निग्धता को नष्ट करके रूक्षता को पैदा करते हैं। आपका यह तेज अरूक्षित व स्निग्ध है, स्निग्धता का यह तेज वर्धन करनेवाला है। (२) **दृशे**=यह दर्शनीय तेज **आरूपे**=समन्तात् रूप के निमित्त शोभा के निमित्त **अन्नम्**-अन्न होता है। जैसे अन्न से शरीर रूपवान् होता है, स्वाध्याय से मस्तिष्क श्री सम्पन्न बनता है, उसी प्रकार उपासना से वह दर्शनीय तेज प्राप्त होता है जो कि हृदय को उत्तम रूपवाला (=श्री सम्पन्न) बना देता है।

भावार्थ—उपासना के द्वारा हम प्रभु के उस तेज को प्राप्त करते हैं जो कि हमें सदा 'प्रकाशमय स्निग्ध व श्री सम्पन्न' बनाता है।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

सुमहः, भूरि मन्म

वि षाह्यग्ने गृणते मनीषां खं वेपसा तुविजात स्तवानः।
विश्वेभिर्यद्वावनः शुक्र देवैस्तन्नो रास्व सुमहो भूरि मन्म॥ २॥

(१) हे **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! **गृणते**=स्तवन करनेवाले के लिये **मनीषाम्** बुद्धि को **विषाहि** (विष्य विमुञ्च, षोऽन्तकर्मणि) खोलिये, इसके लिये बुद्धि को दीजिये। हे **सुविजात** महान् विकासवाले प्रभो! आप **स्तवानः**-स्तुति किये जाते हुए **वेपसा**=शत्रुओं को कम्पित करने के द्वारा (वेपृ कम्पने) **खम्**-इन्द्रियों को **विषाहि**=(निष्य विमुञ्च) विषयों से पृथक् करिये। स्तुति करनेवाला उत्तम बुद्धि को प्राप्त करे तथा विषयों में अनासक्त इन्द्रियोंवाला हो। (२)

हे **शुक्रः** दीप्त प्रभो! **विश्वेभिः देवैः** सब देवों से **यद् वावनः** जिस धन के लिये काम याचना किये जाते हैं, **नः** हमारे लिये **तत्**-उस **सुमहः**-शोभन तेज को तथा **भूरि मन्म** पालन व पोषण करनेवाले मननीय ज्ञान को **रास्वः**-दीजिये। तेजस्विता व ज्ञान ही वे धन हैं, जो देवों से प्रार्थनीय होते हैं।

भावार्थ—प्रभु स्तवन से हमें बुद्धि व विषयों में अनासक्त इन्द्रियां प्राप्त हों। प्रभु हमें उत्तम तेज व पालन व पोषण करनेवाला ज्ञान दें।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—स्वराड्बृहती॥ स्वरः—मध्यमः॥

तत्त्वज्ञान, बुद्धि, स्तोत्र, धन

त्वद॑ग्ने काव्या॒ त्वन्म॑नी॒षास्त्वदु॒क्था जा॑यन्ते॒ राध्या॑नि।
त्वदे॑ति॒ द्रवि॑णं वी॒रपे॑शा इ॒त्थाधि॑ये दा॒शुषे॒ मर्त्या॑य॥ ३॥

(१) हे **अग्ने** परमात्मन्! **त्वद्** आपसे ही **काव्या** सब तत्त्वज्ञान **जायन्ते** प्रादुर्भूत होते हैं, **त्वत्** आप से ही **मनीषाः** सब बुद्धि प्रादुर्भूत होती हैं। **त्वत्** आप से ही **राध्यानि** सिद्धि प्राप्ति में उत्तम **उक्था** स्तोत्र उत्पन्न होते हैं। प्रभु ही तत्व ज्ञान प्राप्त कराते हैं, वही बुद्धि देते हैं और इन स्तोत्रों को प्राप्त कराते हैं जो कि हमें संसार में उत्तम सफलता प्राप्त कराते हैं, इन स्तोत्रों के द्वारा ही तो हम वासनाओं पर विजय पाते हैं। (२) हे प्रभो! **त्वद्**-आप से ही **इत्थाधिये** सत्य कर्मोंवाले **दाशुषे**-दाश्वान्, आत्मसमर्पण करनेवाले **मर्त्याय**-मनुष्य के लिये वह **द्रविणम्** धन **एति** प्राप्त होता है जो कि **वीरपेशाः** वीर रूपवाला है (इदं विक्रान्तरूपं द्रविणम्), अर्थात् प्रभु से हमें वह धन प्राप्त होता है जो कि हमें वीर बनानेवाला है। यह धन हमें वासनासक्त करके निर्बल बनानेवाला नहीं।

भावार्थ—प्रभु हमें तत्त्वज्ञान, बुद्धि, स्तोत्र व वीरतायुक्त धन प्राप्त करायें।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—भुरिक्पङ्क्तिः॥ स्वरः—पञ्चमः॥

कैसा सन्तानरूप धन?

त्वद्वा॒जी वा॑जंभ॒रो विहा॑या अभिष्टि॒कृज्जा॑यते स॒त्यशु॑ष्मः।
त्वद्र॒यिर्दे॒वजू॑तो मयो॒भुस्त्वदा॒शुर्जू॑जु॒वाँ अ॑ग्ने॒ अर्वा॑ ॥ ४॥

(१) हे **अग्ने** अग्रणी प्रभो! **त्वद्** आप से वह सन्तानरूप **रयिः** धन **जायते** प्राप्त होता है जो कि **वाजी** शक्तिशाली होता है, **वाजम्भरः** शक्ति के द्वारा सबका भरण करनेवाला होता है, **विहायाः** महान्, उदार, विशाल हृदय होता है, **अभिष्टिकृत्** काम क्रोध आदि शत्रुओं पर आक्रमण करनेवाला होता है (अभिष्टि worth desiring), **सत्यशुष्मः** सत्य के बलवाला होता है। (२) हे प्रभो! **त्वद्** आपकी गृह से वह सज्ञानरूप धन प्राप्त होता है जो **देवजूतः** सूर्यादि देवों से प्रेरणा को प्राप्त करता है, सूर्य की तरह निरन्तर गतिशील होकर चमकता है। इसी प्रकार पृथिवी से दृढ़ता का पाठ पढ़ता है, अन्यान्य देवों से विविध प्रेरणाओं को प्राप्त करता है। **मयोभुः** कल्याण को करनेवाला होता है। **त्वद्** आपसे वह सन्तान धन प्राप्त होता है जो कि **आशुः** सदा कर्मों में व्याप्त होनेवाला, **जजुवान्**-वेगवाला, स्फूर्ति से कार्यों को करनेवाला तथा **अर्वा** कामादि शत्रुओं का संहार करनेवाला होता है।

भावार्थ—प्रभु की उपासना से हमें सर्वगुण सम्पन्न संतति की प्राप्ति होती है।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

अमृत अग्नि का उपासन

त्वाम॑ग्ने प्रथ॒मं दे॑व॒यन्तो॑ दे॒वं मर्ता॑ अमृत म॒न्द्रजि॑ह्वम्।
द्वे॒षो॒यु॒त॒मा वि॑वासन्ति धी॒भिर्द॒मू॑नसं गृ॒हप॑तिम॒मूर॑म् ॥ ५ ॥

(१) हे **अग्ने**-अग्रणी, **अमृत**-अमर प्रभो! **देवयन्तः**-दिव्य गुणों की कामनावाले **मर्ताः** मनुष्य **धीभिः**-ज्ञानपूर्वक कर्मों के द्वारा **त्वाम्**-आपको **आविवासन्ति**-पूजित करते हैं। आपकी पूजा करते हुए वे भी 'अग्नि व अमृत' बनने का प्रयत्न करते हैं। (२) उन आपकी वे पूजा करते हैं, जो आप **प्रथमम्** सर्वश्रेष्ठ हैं, अत्यन्त विस्तृत हैं (प्रथ विस्तारे) **उ देवं** प्रकाशमय हैं। **मन्द्र जिह्वम्** देवों के लिये आनन्दप्रद जिह्वावाले हैं, अर्थात् हृदयस्थ प्रभु की वाणी देवों को आनन्द के देनेवाली हैं, **द्वेषोयुतम्**-द्वेष को वे प्रभु हमारे से पृथक् करनेवाले हैं, प्रभु स्मरण से सर्वत्र बन्धुत्व की प्रतीति होती है और द्वेष के लिये कोई स्थान नहीं रहता। **दमूनसम्**-दान के मनवाले हैं, प्रभु हमारे लिये सब उन्नति के स्तवनभूत पदार्थों के देनेवाले हैं। **गृहपतिम्**-हमारे इस शरीररूप गृह के वे पति हैं, वस्तुतः यह शरीररूप गृह प्रभु का ही है, मुझे उपयोग के लिये यह प्राप्त हुआ है, मकान मालिक तो प्रभु ही है। **अमूरम्**-वे सर्वज्ञ हैं (३) उस 'प्रथम देव-मन्द्रजिह्वं द्वेषोयुत दमूनस गृहपति अमूर' प्रभु का उपासन करता हुआ मैं भी ऐसा ही बनने का प्रयत्न करता हूँ।

भावार्थ—हमें ज्ञानपूर्वक कर्मों के द्वारा प्रभु का उपासन करते हुए प्रभु जैसा बनने का ही प्रयत्न करना चाहिए।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

'अमति व दुर्मति' का दूरीकरण

आ॒रे अ॒स्मदम॑तिमा॒रे अंह॑ आ॒रे विश्वां॑ दु॒र्म॑तिं यन्नि॒पासि॑।
दो॒षा शि॒वः स॑हसः सूनो अग्ने॒ यं दे॒व आ चि॒त्सच॑से स्व॒स्ति ॥ ६ ॥

(१) हे **सहसः सूनो** बल के पुत्र, शक्ति के पुञ्ज **अग्ने** अग्रणी प्रभो! **यंचित्**-जिसको भी **आसचसे**-आप प्राप्त होते हैं, उसके लिये आप **शिवः**=कल्याणकर होते हैं। **दोषा** रात्रि में भी **देवः** प्रकाश को प्राप्त करानेवाले होते हैं। **स्वस्ति**=वह पुरुष सदा उत्तम स्थिति में होता है। (२) हे प्रभो! **यत्** जब **निपासि**-आप हमारा निश्चय से रक्षण करते हैं तो **अस्मत्** हमारे से **अमतिम्**-'अशनाया वै पाया मति' अपनाया रूप पापमति को **आरे** दूर करिये हमारे से महाशन, कभी भी न तृप्त होनेवाले, काम को पृथक् करिये। उस धनादि विषयों की इच्छा को दूर करिये जो कि कभी तृप्त नहीं होती। **अंहः** कुटिलता को **आरे**=हमारे से पृथक् करिये। और **विश्वां दुर्मतिम्** सब अशुभ विचारों को **आरे**-दूर कीजिये। इस दुर्मति के दूर होने पर ही हमारे जीवन से सब अशुभ कर्म दूर होते हैं।

भावार्थ—प्रकाशमय प्रभु के प्राप्त होने से हमारी 'अमति, अंहस् व दुर्मति' दूर हो जाती है। यही कल्याण का मार्ग है।

सम्पूर्ण सूक्त प्रभु उपासन से ज्ञान प्राप्ति तथा दुर्मति के विनाश का प्रतिपादन कर रहा है। अगले सूक्त का प्रारम्भ भी इन्हीं शब्दों से है कि प्रभु के उपासन से ज्ञान-ज्योति प्राप्त होती है—

[१२] द्वादशं सूक्तम्

ऋषिः — वामदेवः ॥ देवता — अग्निः ॥ छन्दः — निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः — धैवतः ॥

संयतवान् का प्रभु उपासन

यस्त्वाम॑ग्न इ॒नध॑ते य॒तस्रु॒क्त्रिस्ते॒ अन्नं॑ कृ॒णव॒त्सस्मि॒न्नह॑न्।
स सु द्यु॒म्नैर॒भ्य॑स्तु प्र॒सक्ष॒त्तव॒ क्रत्वा॑ जातवेदश्चिकि॒त्वान्॥ १॥

(१) हे **अग्ने** परमात्मन्! **यः** जो **यत स्रुक्** (वाग्वै स्रुचः श० ६।३।१।८) संयत वाणीवाला होकर **त्वाम्**-आपको **इनधते** अपने हृदय में दीप्त करता है, वह **ते**-आपके लिये **सस्मिन् अहन्** सम्पूर्ण दिनों में **त्रिः**-तीन बार **अन्नम्** अन्न को **कृणवत्** करता है। मौन होकर अन्त:स्तल में प्रभु का दर्शन करने का प्रयत्न करना ही यतस्रुक् होकर प्रभु को समिद्ध करना है इस (दीर्घ) जीवन रूप दिन में प्रथम २४ वर्षों के प्रात:सवन में अगले ४४ वर्षों के माध्यन्दिन सवन में और अन्तिम ४८ वर्षों के सायन्तन सवन में, तीनों समयों पर प्रभु के अन्न को करना, अर्थात् ध्यान के द्वारा प्रभु की भावना का पोषण करना ही प्रभु के तेज से तेजस्वी बनने का मार्ग है। (२) **सः** इस ध्यानरूप अन्न द्वारा आत्मचिन्तन में दृढ़ होनेवाला व्यक्ति **सुद्युम्नैः** उत्तम ज्ञान ज्योतियों से **अभ्यस्तु** काम क्रोध आदि सब शत्रुओं का अभिभव करनेवाला हो। हे **जातवेदः** सर्वज्ञ प्रभो! वह आपका उपासक **चिकित्वान्**-ज्ञानी होता हुआ **तव क्रत्वा**-आपकी शक्ति से **प्रसक्षत्**-शत्रुओं का मर्षण करनेवाला होता है।

भावार्थ—हम सदा प्रभु का ध्यान करें। संयतवाक् होकर प्रभु को अपने में दीप्त करें। प्रभु की ज्योति से ज्योतिर्मय बनें। प्रभु की शक्ति से शक्ति सम्पन्न होकर काम-क्रोध आदि शत्रुओं का मर्षण करें।

ऋषिः —वामदेवः ॥ देवता — अग्निः ॥ छन्दः — त्रिष्टुप् ॥ स्वरः — धैवतः ॥

अमित्रों का हिंसन

इ॒ध्मं यस्ते॑ ज॒भर॑च्छश्रमा॒णो म॒हो अ॑ग्ने॒ अनी॑क॒मा स॑प॒र्यन्।
स इ॑धा॒नः प्रति॑ दो॒षामु॒षासं॒ पुष्य॑न्र॒यिं स॑चते॒ घ्नन्न॒मित्रा॑न्॥ २॥

(१) **यः** जो **शश्रमाणः** श्रम करता हुआ, बड़ा (hard working) मेहनती होता हुआ, **ते** आपकी प्राप्ति के लिये **इध्मम्** पृथिवीस्थ, अन्तरिक्षस्थ व द्युलोकस्थ पदार्थों के ज्ञानरूप समिधाओं का **जभरत्**-प्राप्त कराता है। तथा हे **अग्ने**- अग्रणी प्रभो! जो आपके **महः अनीकम्** महान् तेज को **आ सपर्यन्** सर्वथा पूजित करनेवाला बनता है **सः** वह **प्रति दोषां उषासम्** प्रतिदिन रात्रि व प्रात:काल **इधानः** आपकी भावना को दीप्त करता हुआ और इस प्रकार **पुष्यन्** अपना वास्तविक पोषण करता हुआ **रयिं सचते** ज्ञानैश्वर्य को प्राप्त करता है। (२) इस ज्ञानैश्वर्य के द्वारा यह **अमित्रान् घ्नन्** अमित्रों का हिंसन करता है। वस्तुत: इस ज्ञानैश्वर्य को प्राप्त करने पर वह हृदय में प्रभु को आसीन करता है। ये प्रभु ही इसके सब आन्तर शत्रुओं का विनाश करते हैं।

भावार्थ—लोकत्रयी के पदार्थों का ज्ञान होने पर उन पदार्थों में प्रभु की महिमा का दर्शन होता है। इससे प्रभु का तेज प्राप्त होता है। प्रतिदिन प्रात: सायं प्रभु का उपासन हमारे में इस ज्ञानैश्वर्य का पोषण करता है, जिससे कि सब काम क्रोध आदि अमित्र भावनाओं का हम हिंसन कर पाते हैं।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—भुरिक्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

क्षत्रिय-वाज-परमधन-रत्न

अ॒ग्निरी॑शे बृह॒तः क्ष॒त्रिय॑स्या॒ग्निर्वाज॑स्य पर॒मस्य॑ रा॒यः।
दधा॑ति॒ रत्नं॑ विध॒ते यवि॑ष्ठो॒ व्या॑नु॒षङ्मर्त्या॑य स्व॒धावा॑न्॥ ३॥

(१) **अग्निः** वे प्रभु **बृहतः**-वृद्धि के कारणभूत **क्षत्रियस्य**-बल के **ईशे**=ईश हैं। **अग्निः** वे प्रभु ही **वाजस्य**-(वज गतौ) सब गतिशीलता के व **परमस्य रायः**-सर्वोत्कृष्ट ज्ञानैश्वर्य के ईश हैं। उपासक को भी क्षतों से त्राण करनेवाला बल, गतिशीलता व उत्कृष्ट ज्ञानैश्वर्य प्राप्त कराते हैं। (२) वे **यविष्ठः**-बुराइयों को दूर करनेवाले प्रभु **स्वधावान्**=आत्मधारण शक्तिवाले हैं। वे **विधते मर्त्याय**=पूजा करनेवाले मनुष्य के लिये **आनुषक्**=निरन्तर **रत्नम्** रमणीय पदार्थों को **विदधाति** विशेषरूप से धारण करते हैं। इन रत्नों को प्राप्त करके यह उपासक भी 'स्व धावान' बनता है, अपना धारण करनेवाला होता है।

भावार्थ—प्रभु के उपासक को 'क्षतों से बचानेवाला बल, गतिशीलता, उत्कृष्ट ज्ञानैश्वर्य व रमणीय वस्तुएँ' प्राप्त होती हैं। इनके द्वारा वह आत्मधारण करनेवाला बनता है।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—भुरिक्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

पाप-विश्रन्थन

यच्चि॒द्धि ते॑ पुरुष॒त्रा य॑वि॒ष्ठाचि॑त्तिभिश्चकृ॒मा कच्चि॒दागः॑।
कृ॒धी ष्व१॒॑स्माँ अदि॑ते॒रना॑गा॒न्व्येनां॑सि शिश्रथो॒ विष्व॑गग्ने॥ ४॥

(१) हे **यविष्ठ**-पापों से हमें पृथक् करनेवाले प्रभो! **यत् चित् हि**-जो कुछ भी **ते** आपके विषय में अथवा **पुरुषत्रा**-पुरुषों के विषय में **अचित्तिभिः**=अज्ञानों, नासमझियों के कारण **कच्चित्**-कोई **आगः चकृम**-पाप कर बैठें तो **अदितेः**=(वाङ् नाम नि० १।११) इस वेदवाणी के द्वारा **अस्मान्**-हमें **सु**-अच्छी प्रकार **अनागान्**=निष्पाप **कृधि**-कीजिये। हम अज्ञानवश पाप तो कर ही बैठते हैं। प्रभु हमें ज्ञान प्राप्त कराके इन पापवृत्तियों से दूर करें। (२) हे **अग्ने**-परमात्मन्! **विष्वक्**-चारों ओर से इन **एनांसि**-पापों को **विशिश्रथः** हमारे से पृथक् करिये। आपकी कृपा से ज्ञान को प्राप्त करके हम उस ज्ञानाग्नि में सब पापों को भस्म करनेवाले हों। सब ओर से इन पापों का हमारे पर आक्रमण होता है। ज्ञानाग्नि ही इन पाप रूप हिंस्र पशुओं को हमारे से दूर रखती है। नियमों का उल्लंघन करके शरीरादि को अस्वस्थ कर लेना प्रभु के विषय में पाप करना है, उस गृहपति (मकान मालिक) के मकान को ठीक रखना हमारा कर्त्तव्य है। यमों का पालन न करते हुए असत्य व्यवहार से समाज को दूषित करना मनुष्यों के विषय में पाप है। प्रभु ज्ञान द्वारा इन दोनों पापों से हमें बचाएँ। यमनियमों का पालन करते हुए हम प्रभु के प्रिय हों।

भावार्थ—प्रभु कृपा से ज्ञान को प्राप्त करके हम पापों का विश्रन्थन करनेवाले हों।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

शान्त व निर्भीक जीवन

म॒हश्चि॑दग्न॒ एन॑सो अ॒भीक॑ ऊ॒र्वाद्दे॒वाना॑मु॒त मर्त्या॑नाम्।
मा ते॒ सखा॑यः॒ सद॒मिद्रि॑षाम॒ यच्छा॑ तो॒काय॒ तन॑याय॒ शं योः॥ ५॥

(१) हे **अग्ने**-पापों को भस्म करनेवाले प्रभो! **देवानाम्**=देवों के **उत**-और **मर्त्यानाम्**=मनुष्यों

के **अभीके** समीप हमारे मे अज्ञानवश हो जानेवाले **महः चित्** महान् भी **ऊर्वात्** अत्यन्त विशाल **एनसः** पाप से, **ते सखायः** आपके मित्र होते हुए हम **सदं इत्** सदा ही **मा रिषाम** मत हिंसित हों। स्वास्थ्य के नियमों का अपालन ही देवों के विषय में होनेवाला पाप है, सत्य आदि यमों का न पालना मनुष्यों के विषय में पाप है। प्रभु की मित्रता में रहते हुए हम इन पापों से बचे रहें। (२) इन पापों से दूर रहनेवाले हमारे **तोकाय** पुत्रों के लिये व **तनयाय** पौत्रों के लिये **शं योः** शान्ति व भयों के यावन को **यच्छा** प्राप्त कराइये। हमारी निष्पापता हमारे वंशजों के कल्याण के लिये हो। प्रभु का स्मरण करते हुए हम देव विषयक व मर्त्य विषयक पापों को न करें। इन पापों से ऊपर उठने पर हमारे जीवन शान्त व निर्भय हों। यही शान्ति व निर्भयता हमारे सन्तानों में प्रवाहित हो।

भावार्थ—प्रभु की मित्रता में हम पापों से बचे रहें। पापों से बचकर शान्त व निर्भीक बनें।

ऋषिः—**वामदेवः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

वसवः यजत्राः

यथा॑ ह॒ त्यद्व॑सवो गौ॒र्यं॑ चित्प॒दि षि॒ताममु॑ञ्चता यजत्राः।
ए॒वो ष्व१॒॑स्मन्मु॑ञ्चता॒ व्यंह॒ प्र ता॑र्यग्ने प्रत॒रं न॒ आयुः॑॥ ६॥

(१) **यथा** जैसे **यजत्राः** यज्ञों के द्वारा अपना त्राण करनेवाले **वसवः** अपने निवास को उत्तम बनानेवाले लोग **ह** निश्चय से **पदि षिताम्** पाँव में बन्धी हुई **गौर्यं चित्** गौ को निश्चय से **अमुञ्चत** मुक्त करते हैं। 'गौ' यहाँ इन्द्रिय है। यह विषयरूप बन्धन से बद्ध हो जाती है। यजत्र वसु लोग इस इन्द्रियरूप गौ को विषयों के बन्धन से मुक्त करते हैं। (२) **एवो** इस प्रकार ही, अर्थात् इन्द्रियरूप गौ को विषय बन्धन से मुक्त करके ही **अस्मान्** हमें **अंहः विमुञ्चत** पापों से छुड़ाओ, पाप को हमारे से पृथक् करो। हे **अग्ने** परमात्मन्! निष्पाप बनाकर **नः** हमारी **प्रतरम्** इस प्रवृद्ध **आयुः** आयु को **प्रतारि** और अधिक प्रवृद्ध करिये, हम खूब ही दीर्घजीवनवाले हों। पाप आयुष्य को नष्ट करता है। आप पाप को नष्ट करके हमारे आयुष्य का वर्धन करिये।

भावार्थ—हम इन्द्रियों को विषयों के बन्धन से मुक्त करके, जीवन को निष्पाप बनायें, निष्पापता से दीर्घ आयुष्य को प्राप्त करें।

सूक्त का भाव यही है कि प्रभु का उपासन करके हम निष्पाप व दीर्घ जीवन को प्राप्त करें। अगले सूक्त का प्रारम्भ प्रभु उपासन से ही प्रारम्भ होता है—

[१३] त्रयोदशं सूक्तम्

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

उषा द्वारा रत्नों का आधान

प्रत्य॒ग्निरु॒षसा॒मग्र॑मख्यद्वि॒भा॒ती॒नां सु॒मना॑ रत्न॒धेय॑म्।
या॒तम॑श्विना सु॒कृतो॑ दुरो॒णमुत्सूर्यो॒ ज्योति॑षा दे॒व ए॑ति॥ १॥

(१) **अग्निः** वह अग्रणी प्रभु **सुमनाः** उत्तम मनों को देनेवाले हैं (शोभनं मनो यस्मात्)। वे **विभातीनाम्** दीप्त होती हुई **उषसाम्** उषाओं के **अग्रम्** प्रारम्भ में **रत्नधेयम्** रत्नों के आधान को **प्रति अख्यत्** प्रतिदिन देखते हैं। प्रभु इस बात का ध्यान करते हैं कि हम प्रतिदिन उषाओं में प्रभु का ध्यान करते हुए उत्तम मनोंवाले बनें और रमणीय वस्तुओं को प्राप्त करें। (२) हे **अश्विना** प्राणापानो! **सुकृतः** पुण्यशाली के **दुरोणम्** गृह को **यातम्** प्राप्त करो, हमारे

शरीररूप गृह में प्राणापान की स्थिति हो। प्राणसाधना करते हुए हम प्राण और अपान की शक्ति को बढ़ानेवाले बनें। ऐसा होने पर **देवः सूर्यः** प्रकाशमय ज्ञान का सूर्य **ज्योतिषा**-ज्योति के साथ **उद् एति** हमारे मस्तिष्करूप द्युलोक में उदित होता है। हमारे ज्ञान की दीप्ति उत्तरोत्तर बढ़ती हुई हमें उस प्रभु का दर्शन कराती है।

भावार्थ—उषा का जागरण हमें उत्तम मन व रमणीय वसुओं को प्राप्त कराये। हम प्राणसाधना करते हुए ज्ञानदीप्ति को बढ़ानेवाले बनें।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

ज्ञान सूर्य का उदय

ऊर्ध्वं भानुं सविता देवो अश्रेद् द्रप्सं दविध्वद्गविषो न सत्वा।
अनु व्रतं वरुणो यन्ति मित्रो यत्सूर्यं दिव्यारोहयन्ति॥ २॥

(१) **सविता देवः**-वह प्रेरक प्रकाशमय प्रभु **ऊर्ध्वं भानुम्**-उत्कृष्ट ज्ञानदीप्ति को **अश्रेत्**-आश्रय करते हैं, उत्कृष्ट ज्ञानदीप्ति के वे प्रभु आधार हैं, उपासकों के लिये इस ज्ञान-ज्योति को वे प्राप्त कराते हैं। इस ज्ञान-ज्योति को प्राप्त करने पर **द्रप्सं दविध्वत्**-(द्रप्स=worshipper) यह उपासक सोम के नष्ट होने की वृत्ति को **दविध्वत्** कम्पित करके दूर कर देता है, सोम का रक्षण करनेवाला होता है। **गविषः न**=यह गौओं को ज्ञान की वाणियों को धारनेवाला होता है। **सत्वा**-शक्तिशाली होता है। (२) **वरुणः**=द्वेष निवारण करनेवाले **मित्रः** सब के प्रति स्नेहवाले व्यक्ति **व्रतं अनुयन्ति** व्रत के अनुकूल गतिवाले होते हैं, **यत्**-जब कि ये **सूर्यम्**-ज्ञानसूर्य को **दिवि आरोहयन्ति**-मस्तिष्करूप द्युलोक में आरूढ़ करते हैं। वरुण और मित्र बनकर, व्रती जीवन बिताने से ज्ञान की आवरणभूत वासना के होने से ज्ञान का सूर्य दीप्त हो उठता है। अब इस ज्ञानसूर्य के दीप्त होने पर वासनाओं का मल पूर्णरूप से विनष्ट हो जाता है। परिणामतः सोम का, वीर्य का शरीर में रक्षण होता है और ज्ञानाग्नि की और अधिक दीप्ति से ज्ञान की रुचि बढ़ती है, और शरीर भी शक्ति सम्पन्न बनता है।

भावार्थ—ज्ञानसूर्य के उदय होने पर वासनान्धकार विनष्ट हो जाता है, ज्ञान की रुचि बढ़ती है और शरीर शक्ति सम्पन्न बनता है।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

प्रभु दर्शन व अन्धकार विनाश

यं सीमकृण्वन्तमसे विपृचे ध्रुवक्षेमा अनवस्यन्तो अर्थम्।
तं सूर्यं हरितः सप्त यह्वीः स्पशं विश्वस्य जगतो वहन्ति॥ ३॥

(१) **ध्रुवक्षेमाः** निश्चय से कल्याण के मार्ग पर चलनेवाले, **अर्थम्**-'धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष' रूप पुरुषार्थों को **अनवस्यन्तः**-न समाप्त करते हुए, अर्थात् सदा इनका साधन करते हुए लोग **यम्**-जिसको **सीम्**-निश्चय से **तमसे विपृचे**-अन्धकार के पृथक् करने के लिये **अकृण्वन्** उपासित करते हैं। **तम्**-उस **सूर्यम्**-प्रकाशमय प्रभु को **सप्त**-सात **यह्वीः**=महान्, अर्थ के गौरववाली, **हरितः** अन्धकार का हरण करनेवाली छन्दोरूप वाणियाँ **वहन्ति**-उपासक के लिये प्राप्त कराती हैं। ध्रुवक्षेम पुरुष प्रभु का उपासन करते हैं। इसलिए उपासन करते हैं कि अज्ञानान्धकार दूर हो जाए। इस उपासक के लिये ये वेद की सात छन्दों में बद्ध ज्ञान की वाणियाँ प्रभु का ज्ञान देती हैं 'सर्वे वेदा यत् पदमामनन्ति'। (२) ये प्रभु ही **विश्वस्य जगतः**-सम्पूर्ण जगत् के **स्पशम्**-द्रष्टा

हैं, सम्पूर्ण संसार का ध्यान करनेवाले वे प्रभु ही हैं। इस प्रभु को वेदवाणियों के द्वारा वे ही लोग देखते हैं, जो कि 'धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष' रूप चारों पुरुषार्थों के सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं। यह चारों पुरुषार्थों को सिद्ध करना ही 'चतुर्भुज' बनना है।

भावार्थ—कल्याण के मार्ग पर चलते हुए, चारों पुरुषार्थों को सिद्ध करते हुए हम प्रभु का पूजन करें, यही अन्धकार को दूर करने का उपाय है।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

ज्ञान सूर्योदय

वहिष्ठेभिर्विहरन्यासि तन्तुमवव्ययन्नसितं देव वस्म।
दविध्वतो रश्मयः सूर्यस्य चर्मेवावाधुस्तमो अप्स्व१न्तः॥ ४॥

(१) हे **देव**=प्रकाशमय प्रभो! आप **वहिष्ठेभिः**-लक्ष्य-स्थान को प्राप्त कराने में सर्वोत्तम ज्ञान किरणों से **तन्तुम्** (तन् विस्तारे) इस फैले हुए अन्धकार को **वि-हरन्** विशेषरूप से हरते हुए, और **असितम्**-इस कृष्ण वर्ण के **वस्म**-आच्छादन करनेवाले अज्ञान वस्त्र को **अवव्ययन्** अवाचीन करते हुए, तिरस्कृत करते हुए **यासि**-गति करते हैं। प्रभु ज्ञान के द्वारा हमारे अज्ञानान्धकार को विनष्ट करते हैं। (२) **सूर्यस्य**-उस ज्ञानसूर्य प्रभु की **दविध्वतः** अज्ञानान्धकार को कम्पित करती हुई (धुन्वाभाः सा०) **रश्मयः** ज्ञानरश्मियाँ **अप्सु अन्तः** प्रजाओं के अन्दर **चर्म इव** त्वचा की तरह आच्छादन करनेवाला होकर विद्यमान इस **तमः**-अन्धकार को **अव अधुः** नीचे स्थापित करती हैं। प्रभुरूप सूर्य के उदय होते ही सब अज्ञान का आवरण विनष्ट हो जाता है।

भावार्थ—प्रभु सूर्य हैं। प्रभु के प्रकाश में अज्ञानान्धकार विनष्ट हो जाता है।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

न अवपद्यते

अनायतो अनिबद्धः कथायं न्यङ्ङुत्तानोऽव पद्यते न।
कया याति स्वधया को ददर्श दिवः स्कम्भः समृतः पाति नाकम्॥ ५॥

(१) **अनायतः**-चारों ओर से विषयों से न जकड़ा हुआ, **अनिबद्धः**-वासनाओं के बन्धन में न बँधा हुआ, **उत्तानः** ऊर्ध्वमुख होकर स्थित हुआ हुआ **अयम्** यह **कथा** किस प्रकार **न्यङ् न अवपद्यते** नीचे की ओर गतिवाला नहीं होता, अर्थात् अवनति के मार्ग पर नहीं चल पड़ता और **कया स्वधया याति** किस आत्मधारण शक्ति के साथ इस संसार में गतिवाला होता है? इस बात को **कः**-वह आनन्दस्वरूप प्रभु **ददर्श**-देखते हैं। जैसे एक पिता सन्तान के लिये इस बात का ध्यान करता है कि वह अवनतिपथ पर न चला जाये और अपने पाँव पर खड़ा हो सके इसी प्रकार प्रभु हम जीवों का ध्यान करते हैं। प्रभु ही तो हमारे पिता हैं। (२) वे प्रभु इसीलिए **दिवः स्कम्भः** ज्ञान के प्रकाश का हमारे में धारण करनेवाले हैं। **समृतः** हमें सम्यक् प्राप्त हैं। सदा हमारे साथ विद्यमान हैं। वे प्रभु ही हमारे लिये **नाकम्** मोक्ष सुख का **पाति** रक्षण करते हैं। प्रभु हमें ज्ञान को देकर निष्पाप बनाते हैं और मोक्ष सुख को प्राप्त कराते हैं।

भावार्थ—प्रभु हमारे पिता हैं। वे इस बात के लिये हमें प्रेरित करते हैं कि हम विषयबद्ध होकर निम्न गतिवाले न हो जाएँ तथा आत्मधारण शक्ति का विकास करें

सम्पूर्ण सूक्त प्रभु को ज्ञानसूर्य के रूप में चित्रित करता है। ये प्रभु हमें ज्ञान देकर अवनत होने से बचाते हैं।

यही भाव अगले सूक्त में भी पुष्ट हुआ है—

[१४] चतुर्दशं सूक्तम्

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—अग्निर्लिङ्गोक्ता वा ॥ छन्दः—भुरिक्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

दीप्त उषाएँ

प्रत्यग्निरुषसो जातवेदा अख्यद्देवो रोचमाना महोभिः ।
आ नासत्योरुगाया रथेनेमं यज्ञमुप नो यातमच्छ　　॥ १ ॥

(१) **जातवेदाः**-सर्वज्ञ **अग्निः**-अग्रणी **देवः**=प्रकाशमय प्रभु **महोभिः**=तेजस्विताओं से **रोचमानाः**-देदीप्यमान **उषसः**=उषाओं को **प्रति अख्यत्**-प्रतिदिन प्रकाशित करते हैं। हमारे लिये प्रभु कृपा से उन उषाओं का प्रादुर्भाव होता है जो कि हमें तेजस्विता व दीप्ति प्राप्त करानेवाली होती हैं। इन उषाओं में प्राणायाम से हम ऊर्ध्वरेता बनकर तेजस्विता को सिद्ध करते हैं, तथा स्वाध्याय के द्वारा ज्ञानदीप्ति को बढ़ाते हैं। (२) हे **नासत्या**=असत्य को विनष्ट करनेवाले प्राणापानो! आप **उरुगाया**=अत्यन्त गायन के योग्य, प्रशंसनीय हो। अथवा प्रभूतगमन वाले हो, हमारे शरीरों में स्फूर्ति के बढ़ानेवाले हो। आप **इमं नः यज्ञं अच्छ**-हमारे इस जीवनयज्ञ की ओर **रथेन**=इस उत्तम शरीर-रथ के साथ **उपयातम्**=समीपता से प्राप्त होवो। आपकी साधना से हमें उत्तम शरीर-रथ प्राप्त हो।

भावार्थ—हमारे लिये उषाकाल तेजस्विता व दीप्ति को देनेवाला हो। प्राणसाधना से हमारा यह शरीर-रथ निर्दोष बने।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—अग्निर्लिङ्गोक्ता वा ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

ऊर्ध्व केतु

ऊर्ध्वं केतुं सविता देवो अश्रेज्ज्योतिर्विश्वस्मै भुवनाय कृण्वन् ।
आप्रा द्यावापृथिवी अन्तरिक्षं वि सूर्यो रश्मिभिश्चेकितानः ॥ २ ॥

(१) **सविता देवः**-वह प्रेरक प्रकाशमय प्रभु **ऊर्ध्वं केतुम्**-उत्कृष्ट ज्ञान का **अश्रेत्**-आश्रय करते हैं। उपासक को इस उत्कृष्ट ज्ञान को प्रभु प्राप्त कराते हैं। **विश्वस्मै भुवनाय**-सब लोकों के लिये **ज्योतिः कृण्वन्**=प्रकाश को वे प्रभु करते हैं। यह ठीक है कि सब कोई उस ज्योति का लाभ उठाते नहीं 'आश्चर्यवत् पश्यति कश्चिदेनम्'=कोई विरल ही उस ज्योति को देखनेवाला होता है। (२) वे प्रभु द्यावापृथिवी, द्युलोक तथा पृथिवीलोक को और **अन्तरिक्षम्**=अन्तरिक्ष को **आप्राः**-पूरण किये हुए हैं, त्रिलोकी में वे व्याप्त हो रहे हैं। और **सूर्यः**='ब्रह्म सूर्यसमं ज्योतिः' सूर्यसम ज्योति वे प्रभु **रश्मिभिः**-ज्ञानरश्मियों से **विचेकितानः**-विशिष्टरूप से मार्ग का ज्ञान दे रहे हैं। प्रेरणा के रूप में दिये जानेवाले इस ज्ञान को हम सुनेंगे तो मार्ग पर चलते हुए इहलोक में सुख को प्राप्त कर परम मोक्ष को प्राप्त करनेवाले बनेंगे।

भावार्थ—प्रभु सूर्य के समान सर्वत्र प्रकाश कर रहे हैं। हम उस प्रकाश को देखें। तदनुसार मार्ग पर चलते हुए कल्याण को प्राप्त करें।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—अग्निर्लिङ्गोक्ता वा ॥ छन्दः—स्वराट्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

'तीव्र बुद्धि' 'स्वस्थ शरीर'

आवहन्त्यरुणीर्ज्योतिषागान्मही चित्रा रश्मिभिश्चेकिताना ।
प्रबोधयन्ती सुविताय देव्युषा ईयते सुयुजा रथेन ॥ ३ ॥

(१) **अरुणीः** अरुण वर्णवाली प्रकाश की किरणों को **आवहन्ती** धारण करती हुई **देवी** प्रकाशमयी **उषा** उषा **ज्योतिषा आगात्**-ज्योति के साथ आती है। यह हमारे लिये प्रकाश को करनेवाली होती है। स्वाध्याय के द्वारा ज्ञानवर्धन का साधन बनती हुई यह उषा **मही** हमारे लिये अत्यन्त महत्त्वपूर्ण होती है, **चित्रा** अद्भुत व (चित्+र) ज्ञान को देनेवाली है। यह **रश्मिभिः** अपनी रश्मियों के द्वारा **चेकिताना** हमारे निवास को उत्तम बनाती है व रोगों का अपनयन करती है (कित निवासे रोगापनयेन च)। (२) यह हमें **सुविताय**-उत्तम आचरण के लिये **प्रबोधयन्ती**-जगानेवाली है। यह **सुयुजा** उत्तम इन्द्रियरूप अश्वों के योगवाले **रथेन** शरीर रथ से **ईयते** प्राप्त होती है। उषाकाल का जागरण बुद्धि के वर्धन का भी साधन है (प्रबोधयन्ती) शरीर की स्वस्थता का भी (सुयुजा रथेन)।

भावार्थ—उषाकाल का जागरण हमें स्वस्थ शरीर व स्वस्थ मस्तिष्क को प्राप्त कराता है।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—अग्निर्लिङ्गोक्ता वा॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

वहिष्ठ 'रथ व अश्व'

आ वां वहिष्ठा इह ते वहन्तु रथा अश्वास उषसो व्युष्टौ।
इमे हि वां मधुपेयाय सोमा अस्मिन्यज्ञे वृषणा मादयेथाम्॥ ४॥

(१) हे अश्विनी देवो, प्राणापानो! **इह**-इस जीवन में **वहिष्ठाः** लक्ष्य स्थान की ओर ले जाने में उत्तम **ते रथाः** वे शरीरस्थ तथा **अश्वासः** इन्द्रियाश्व **उषसः व्युष्टौ** उषा के उदित होते ही **वाम्** आपको **आवहन्तु**-प्राप्त करानेवाले हों। हम उषाकाल में प्रबुद्ध होकर, स्वास्थ्य सम्बन्धी कार्यों से निवृत्त होकर, प्राणसाधना में प्रवृत्त हों यह प्राणसाधना ही हमें जीवनयात्रा में सफल बनायेगी। (२) हे **वृषणा** शक्तिशाली प्राणापानो! **इमे** ये **सोमाः** सोम **वाम्** आपके हैं। ये **हि** निश्चय से **मधुपेयाय** माधुर्य के पान के लिये हैं। प्राणसाधना के द्वारा शरीर में ही ऊर्ध्वगतिवाले ये सोम जीवन को मधुर बनाते हैं। इसलिए हे प्राणापानो! आप **अस्मिन् यज्ञे** इस जीवनयज्ञ में **मादयेथाम्**-हर्ष का अनुभव करानेवाले होवो। प्राणसाधना से 'शरीर, मन व बुद्धि' सभी का स्वास्थ्य प्राप्त होता है, परिणामतः एक अद्भुत आनन्द का भी अनुभव होता है।

भावार्थ—प्राणायाम के द्वारा शक्ति की ऊर्ध्वगति से त्रिविध स्वास्थ्य को प्राप्त करके (शरीर मन व बुद्धि में) हम आनन्द का अनुभव करें।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—अग्निर्लिङ्गोक्ता वा॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

अनायत अनिबद्ध

अनायतो अनिबद्धः कथायं न्यङ्ङुत्तानोऽव पद्यते न।
कया याति स्वधया को ददर्श दिवः स्कम्भः समृतः पाति नाकम्॥ ५॥

मन्त्र व्याख्या १३.५ पर द्रष्टव्य है।

सम्पूर्ण सूक्त ज्ञान प्राप्ति द्वारा मार्ग पर चलते हुए शरीर, मन व बुद्धि के स्वास्थ्य को प्राप्त करने का प्रतिपादन कर रहा है। अगले सूक्त में भी अग्नि नाम से प्रभु का शंसन है—

[१५] पञ्चदशं सूक्तम्

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

देवो देवेषु यज्ञियः

अग्निर्होता नो अध्वरे वाजी सन्परि णीयते। देवो देवेषु यज्ञियः॥ १॥

(१) **अग्निः** वे अग्रणी प्रभु ही **नः अध्वरे**-हमारे इस जीवनरूप यज्ञ में **होता**-होता होते हैं। प्रभु की शक्ति से ही जीवन यज्ञ की सब क्रियाएँ चलती हैं। **वाजी सन्**-सब गतियों के स्वामी होते हुए **परिणीयते**-समन्तात् कार्यों में प्राप्त कराये जाते हैं, प्रभु की शक्ति से ही सब गति का सम्भव है। (२) **देवः**-वे प्रभु प्रकाशमय हैं। **देवेषु यज्ञियः**-सूर्य आदि देवों में वे प्रभु ही उपास्य हैं। सूर्य में प्रभु की शक्ति ही तो काम कर रही है, सूर्यादि सब देवों में प्रभु की दीप्ति ही तो दीप्त हो रही है 'तस्य भासा सर्व मिदं विभाति'। सब देव वस्तुतः उस प्रभु से ही देवत्व को प्राप्त करते हैं 'तेन देवा देवतामग्र आयन्'।

भावार्थ—प्रभु ही होता हैं, वे ही वाजी=सब गति के स्रोत हैं, वे ही सब देवों को देवत्व प्राप्त करा रहे हैं। ये सब उस प्रभु की दीप्ति से ही दीप्त हो रहे हैं।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—विराड्गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

देवेषु प्रयः दधत्

परि॑ त्रि॒वि॒ष्ट्य॑ध्व॒रं यात्य॒ग्नी र॒थीरि॑व। आ दे॒वेषु॒ प्रयो॒ दध॑त्॥ २॥

(१) **अग्निः** वे अग्रणी प्रभु **त्रिविष्टि**-तीनों लोकों में व्याप्ति के द्वारा **अध्वरम्**-इस सृष्टि यज्ञ में **परियाति**-सब ओर गति कर रहे हैं। सारी गति के आदि स्रोत प्रभु ही हैं। **रथीः इव** वे रथी के समान हैं। रथवाला व्यक्ति जिस प्रकार शीघ्रता से गतिवाला होता है, उसी प्रकार वे प्रभु शीघ्रता से गतिवाले हैं। (२) वे प्रभु **देवेषु**=इन सब सूर्यादि देवों में **प्रयः**=(प्रयस्-strength to work) कार्य करने की शक्ति को **दधत्**-स्थापित करते हैं। सूर्यादि सब पिण्ड प्रभु की शक्ति से ही उस-उस कार्य को कर रहे हैं।

भावार्थ—सृष्टि यज्ञ के संचालक प्रभु ही हैं।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—निचृद्गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

'वाजपतिः कविः'

परि॒ वाज॑पतिः क॒विर॒ग्निर्ह॒व्यान्य॑क्रमीत्। दध॒द्रत्ना॑नि दा॒शुषे॑॥ ३॥

(१) वे प्रभु **वाजपतिः**-सब शक्तियों के स्वामी हैं। **कविः**=क्रान्तदर्शी, तत्त्वज्ञ हैं। **अग्निः**-सम्पूर्ण सृष्टि को गति देनेवाले हैं prime mover प्रथम संचालक हैं। (२) ये प्रभु **दाशुषे**=आत्मार्पण करनेवाले के लिये **रत्नानि** 'शक्ति ज्ञान' आदि रमणीय वस्तुओं को धारण करते हुए **हव्यानि**-हव आहव में उत्तम, अर्थात् काम क्रोध आदि शत्रुओं से लड़ाई करने में उत्तम उपासकों को **परि अक्रमीत्** प्राप्त होते हैं। वस्तुतः प्रभु ही वह शक्ति व ज्ञान देते हैं जिसके द्वारा यह उपासक इन शत्रुओं को जीत पाता है।

भावार्थ—प्रभु ही शक्ति के स्वामी हैं, ज्ञानस्वरूप हैं। अग्रणी होते हुए हमें शक्ति व ज्ञान आदि रमणीय वस्तुओं को प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

'सृञ्जय व दैववात' में प्रभु का प्रकाश

अ॒यं यः सृञ्ज॑ये पु॒रो दै॑ववा॒ते स॑मि॒ध्यते॑। द्यु॒माँ अ॑मित्र॒दम्भ॑नः॥ ४॥

(१) **अयम्**-यह **यः**-जो प्रभु हैं वे **द्युमान्**=ज्योतिर्मय हैं, सम्पूर्ण ज्ञान के आधार हैं। **अमित्रदम्भनः**=अमित्रों का हिंसन करनेवाले हैं। वस्तुतः ज्ञान को प्राप्त कराके ही प्रभु हमारे काम-क्रोध आदि शत्रुओं का संहार किया करते हैं। इस ज्ञानाग्नि में वासनाओं के सब मल भस्म हो जाते

हैं। (२) ये प्रभु **पुरः** सब से प्रथम **सृञ्जये** (प्राप्तान् शत्रून् जयति इति सृञ्जयः द०) हमारे में प्रविष्ट हो जानेवाले काम क्रोध-लोभ रूप शत्रुओं को पराजित करनेवाले पुरुष में **समिध्यते** दीप्त होते हैं। **दैववाते** (देववातस्य अपत्यम्) उस व्यक्ति में दीप्त होते हैं, जो कि सूर्य, चन्द्र, विद्युत् आदि देवों से प्रेरणा को प्राप्त करता है (देवेभ्यः वातं अस्ति अस्य)। सूर्य से यह गति द्वारा दीप्ति को प्राप्त करने का पाठ पढ़ता है। चन्द्रमा से सदा शान्त सौम्य बनने की शिक्षा लेता है तथा विद्युत् से वासना वृक्षों को भस्म करने का पाठ पढ़ता है। इसी प्रकार सब देवों से प्रेरणा को लेता हुआ यह अपने में प्रभु को दीप्त कर पाता है।

भावार्थ—हम प्राप्त शत्रुओं का नाश करनेवाले 'सञ्जय' बनें, सूर्यादि देवों से प्रेरणा को प्राप्त करनेवाले 'दैववात' हों। ताकि हमारे हृदयों में प्रभु का प्रकाश हो।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—विराड्गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

'तिग्मजम्भ मीढवान्' प्रभु

अस्य घा वीर ईवतोऽग्नेरीशीत मर्त्यः। तिग्मजम्भस्य मीळ्हुषः ॥ ५ ॥

(१) **वीरः** गतमन्त्र के अनुसार शत्रुओं का संहार करनेवाला वीर **मर्त्यः** मनुष्य **घा** ही **अस्य**-इस **ईवतः**-सर्वत्र गमनवाले **अग्नेः**-उस अग्रणी प्रभु के **ईशीत** ऐश्वर्य को प्राप्त करनेवाला होता है। प्रभु के ऐश्वर्य से यह अपने को ऐश्वर्य सम्पन्न बना पाता है। (२) उस प्रभु के ऐश्वर्य से जो कि **तिग्मजम्भस्य** तीक्ष्ण दाढ़ोंवाले हैं, अर्थात् काम क्रोध आदि शत्रुओं को चीर फाड़ डालनेवाले हैं तथा **मीढुषः**-शत्रु विनाश द्वारा हमारे पर सुखों का सेचन करनेवाले हैं। वस्तुतः प्रभु का उपासक भी कामादि शत्रुओं के लिये तिग्म दाढ़ोंवाला बनता है और अपने जीवन का ठीक परिपाक करके सब पर सुखों का सेचन करने का प्रयत्न करता है। यह समाजहित के कार्यों में प्रवृत्त होता है। लोकहित के कार्यों में सदा गतिशील बना रहता है।

भावार्थ—वीर पुरुष उपास्य प्रभु की तरह ही गतिशील, कामादि शत्रुओं का विनाशक तथा सुखों का सेचक बनता है।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—विराड्गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

अर्वन्तम्-अरुषम्

तमर्वन्तं न सानसिमरुषं न दिवः शिशुम्। मर्मृज्यन्ते दिवेदिवे ॥ ६ ॥

(१) **तम्**-उस **अर्वन्तं न** (अर्व killing enemies) शत्रुओं का संहार करनेवाले की तरह **सानसिम्** सम्भजनीय, **दिवः शिशुं न**-द्युलोक के पुत्र सूर्य की तरह **अरुषम्** आरोचमान उस प्रभु को उपासक लोग **दिवे दिवे**-प्रतिदिन **मर्मृज्यन्ते** अपने हृदयों में शुद्ध करने का प्रयत्न करते हैं। (२) उस प्रभु को शुद्ध करने का भाव यह है कि हृदय में उत्पन्न हुई हुई वासनाओं को दूर करते हैं। ये वासनाएँ ही तो वह मलिन आवरण हैं जो कि हमें प्रभु का दर्शन नहीं होने देते। इस प्रभु का दर्शन होने पर सब वासनाओं का संहार हो जाता है और ज्ञान की दीप्ति चमक उठती है।

भावार्थ—ध्यान द्वारा हृदय को परिमार्जित करते हुए हम प्रतिदिन उस प्रभु के प्रकाश को देखने का प्रयत्न करें। प्रभु हमारे सब वासनारूप शत्रुओं का संहार करके हमें दीप्त जीवनवाला बनाते हैं।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—सोमकः साहदेव्यः ॥ छन्दः—निचृद्गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

कुमार साहदेव्य

बोधद्यन्मा हरिभ्यां कुमारः साहदेव्यः। अच्छा न हूत उदरम्॥ ७॥

(१) गतमन्त्र के अनुसार प्रभु के उपासन से वासनाओं को विनष्ट करनेवाला व्यक्ति 'कुमार' है, 'कु', अर्थात् बुराई को 'मार' समाप्त करनेवाला। यह 'साहदेव्य' है, दिव्य गुणों के साथ होनेवालों में उत्तम। यह **कुमारः साहदेव्यः**-कुमार साहदेव्य **यत्** जब **मा**-मुझे (प्रभु को) **हरिभ्याम्**-अपने इन्द्रियाश्वों के द्वारा **बोधत्**-जानता है। इन्द्रियों को विषयों से व्यावृत्त करके यह कुमार प्रभु को देखने का प्रयत्न करता है 'कश्चिद् धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षद् आवृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन्'। उस समय **अच्छा हूतः**-अपने अभिमुख उस कुमार से पुकारा गया मैं **न उत् अरम्**-बाहर नहीं जाता। प्रभु इस कुमार के हृदय में निवास करते हैं। (२) हम (क) कुमार बनें, बुराइयों को मारनेवाले। (ख) साहदेव्य बनें दिव्यगुणों के साथ अपने जीवन को बनानेवाले। (ग) आवृत्तचक्षु होकर प्रभु को देखने का प्रयत्न करें। (घ) प्रभु को अपने अभिमुख पुकारनेवाले हों, प्रभुप्राप्ति की प्रबल कामनावाले हों। ऐसा होने पर अवश्य हमारे हृदयों में प्रभु का निवास होगा।

भावार्थ—बुराइयों को नष्ट करनेवाले, दिव्य गुणों को उत्पन्न करनेवाले बनकर हम प्रभु के दर्शन कर पायें।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—सोमकः साहदेव्यः ॥ छन्दः—निचृद्गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

'पयजता प्रयता' हरी

उत त्या यजता हरी कुमारात्साहदेव्यात्। प्रयता सद्य आ ददे॥ ८॥

(१) प्रभु कहते हैं कि मैं इस **कुमारात्**-बुराइयों को समाप्त करनेवाले **साहदेव्यात्**-दिव्य गुणों से युक्त उपासक के हेतु से **त्या**-उन **यजता**=यज्ञों के करनेवाले **प्रयता**=पवित्र **हरी**=इन्द्रियाश्वों को **उत**-निश्चय से **सद्यः**-शीघ्र ही **आददे**=प्राप्त करता हूँ। (२) प्रभु इस कुमार साहदेव्य को उन इन्द्रियाश्वों को प्राप्त कराते हैं जो कि यज्ञादि उत्तम कर्मों में प्रवृत्त रहते हैं तथा ज्ञानाग्नि में तपकर सदा पवित्र बने रहते हैं। कर्मेन्द्रियाँ यज्ञों में लगी रहती हैं तो ज्ञानेन्द्रियाँ ज्ञान प्राप्ति का साधन बनी रहकर पवित्र बनी रहती हैं।

भावार्थ—प्रभु हमें वे इन्द्रियाँ प्राप्त कराते हैं जो कि यज्ञादि कर्मों में व ज्ञान प्राप्ति में लगी रहती हैं।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—अश्विनौ ॥ छन्दः—निचृद्गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

सोमक

एष वां देवावश्विना कुमारः साहदेव्यः। दीर्घायुरस्तु सोमकः॥ ९॥

(१) हे **देवौ** प्रकाशमय **अश्विनौ**=प्राणापानो! **एषः**-यह उपासक **वाम्**=आपकी साधना करनेवाला **अस्तु**-हो। प्रतिदिन प्राणायाम का अभ्यास करता हुआ यह प्राणापान की शक्ति को बढ़ानेवाला हो। (२) इस शक्ति के बढ़ाने से यह (क) **कुमारः**=सब बुराइयों को विनष्ट करनेवाला हो, (ख) **साहदेव्यः**-दिव्यगुणों से युक्त जीवनवालों में उत्तम हो। (३) **दीर्घायुः**=दीर्घ जीवन को प्राप्त करे और (घ) **सोमकः**=अत्यन्त सोम्य व विनीत स्वभाववाला हो अथवा अपने अन्दर सोम का रक्षण करनेवाला बने।

भावार्थ—प्राणसाधना से हम 'कुमार, साहदेव्य, दीर्घायु व सोमक' बनें।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—अश्विनौ ॥ छन्दः—निचृद्गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

दीर्घ जीवन

तं युवं देवावश्विना कुमारं साहदेव्यम्। दीर्घायुषं कृणोतन ॥ १० ॥

(१) हे **देवौ** प्रकाशमय व ज्ञानवृद्धि के कारणभूत अथवा रोगों को जीतने की कामनावाले (दिव् विजिगीषा) **अश्विनौ**-प्राणापानो! **युवम्**-आप दोनों **तम्** उस **कुमारम्** बुराइयों को समाप्त करनेवाले **साहदेव्यम्**=दिव्य गुणों से युक्त उपासक को **दीर्घायुषं कृणोतन** दीर्घजीवनवाला करो। (२) प्राणसाधना से सोम का रक्षण होता है। इस सोमरक्षण से दीर्घ जीवन प्राप्त होता है।

भावार्थ—प्राणसाधना से बुराइयाँ नष्ट होती हैं, अच्छाइयाँ प्राप्त होती हैं और दीर्घ जीवनवाले हम बनते हैं।

सूक्त का भाव यही है कि हम प्रभु का उपासन करते हैं, तो उत्तम व दीर्घ जीवनवाले बनते हैं। प्रभु का उपासन अब 'इन्द्र' नाम से करते हैं—

[१६] षोडशं सूक्तम्

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

सोमपान करनेवाला इन्द्र

आ सत्यो यातु मघवाँ ऋजीषी द्रवन्त्वस्य हरय उप नः।
तस्मा इदन्धः सुषुमा सुदक्षमिहाभिपित्वं करते गृणानः ॥ १ ॥

(१) **सत्यः** सत्यस्वरूप, **मघवान्**=ऐश्वर्यशाली व (मघ मख) यज्ञोंवाला **ऋजीषी** ऋजुता की प्रेरणा देनेवाला (ऋजु+इष्) कुटिलता को दूर करनेवाला प्रभु **आयातु** हमें प्राप्त हो। **अस्य** इस परमैश्वर्यशाली प्रभु के **हरयः**-इन्द्रियाश्व **नः उपद्रवन्तु**-हमें समीपता से प्राप्त हों। 'प्रभु के इन्द्रियाश्व' का भाव यह है कि वे इन्द्रियाँ, जो कि प्रभु की ओर जानेवाली हैं। (२) **तस्मा** उस प्रभु की प्राप्ति के लिए **इत्** ही **अन्धः**-सोम को **सुषुम**-हम उत्पन्न करते हैं। यह सोम **सुदक्षम्** उत्तम बल को प्राप्त करानेवाला है। हमें बलसम्पन्न बनाकर ही यह सोम प्रभुप्राप्ति का पात्र बनाता है। **इह** इस जीवन में यह प्रभु **गृणानः**-स्तुति किया जाता हुआ **अभिपित्वम्**-हमारे अभिमत की प्राप्ति को **करते** करता है। प्रभु का सच्चा स्तवन यही है कि हम उस प्रभु से उत्पादित इस सोम का रक्षण करनेवाले हों। सोम का पान करते हुए हम भी शक्तिशाली व 'इन्द्र' बनते हैं। इन्द्र बनकर ही तो इन्द्र का उपासन होता है।

भावार्थ—हम इन्द्रियों को वश में करते हुए प्रभु की ओर चलनेवाले बनें। सोमरक्षण द्वारा शक्तिशाली बनकर उस सर्वशक्तिमान् के सच्चे उपासक हों।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—निचृत्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

इन्द्रियाश्वों को विषय-बन्धन से छुड़ाना

अव स्य शूराध्वनो नान्तेऽस्मिन्नो अद्य सवने मन्दध्यै।
शंसात्युक्थमुशनेव वेधाश्चिकितुषे असुर्याय मन्म ॥ २ ॥

(१) हे **शूर** शत्रुओं को शीर्ण करनेवाले प्रभो! **अध्वनः अन्ते न**-जिस प्रकार मार्ग की समाप्ति पर अश्वों को खोलते हैं, उसी प्रकार आप **नः** हमारे **अस्मिन् सवने** इस जीवनयज्ञ में **अद्य**=आज **मन्दध्यै**-आनन्दप्राप्ति के लिए **अव स्य**-(षोऽन्तकर्मणि) इन्द्रियाश्वों को विषयों के

बन्धन से मुक्त करिए। (२) **उशनाः इव**-सर्वहित की कामना करते हुए उपासक के समान यह भक्त **उक्थम्** स्तोत्रों का शंसन करता है। इस प्रभुभक्ति से ही इसकी उदार लोकहितात्मक वृत्ति बनी रहती है। **वेधाः**=यह ज्ञानी बनकर **चिकितुषे**=उस सर्वज्ञ **असुर्याय**=प्राणशक्ति का संचार करनेवालों में उत्तम प्रभु के लिए **मन्म**=मननीय ज्ञान को प्राप्त करता है। जितना जितना ज्ञान प्राप्त करता चलता है, उतना उतना प्रभु के समीप होता जाता है।

भावार्थ—प्रभु हमारी इन्द्रियों को विषयबन्धन से मुक्त करें, ताकि हम जीवनयात्रा ठीक से पूर्ण कर सकें। हम ज्ञानवर्धन करते हुए प्रभु के स्तोता बनें।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

ज्ञान के सात दीपक

कविर्न निण्यं विदथानि साधन्वृषा यत्सेकं विपिपानो अर्चात्।
दिव इत्था जीजनत्सप्त कारूनह्ना चिच्चक्रुर्वयुना गृणन्तः॥ ३॥

(१) **कविः न निण्यम्**-जैसे एक क्रान्तदर्शी पुरुष (piercing sight वाला) अन्तर्हित गूढ़ तत्त्वार्थ को जान लेता है, इसी प्रकार **विदथानि**=ज्ञानों को **साधन्**=सिद्ध करता हुआ, **वृषा** शक्तिशाली पुरुष **यत्** जब **सेकम्**=शरीर में सेचनीय सोम को **विपिपानः**-विशेषरूप से पीता हुआ शरीर में ही वीर्य को सुरक्षित करता हुआ **अर्चात्**-उस प्रभु की उपासना करता है। वस्तुतः वीर्य का रक्षण ही प्रभु का महान् अर्चन है। प्रभु ने यही हमें सर्वोत्तम धातु प्राप्त कराई है। इसे हम शरीर में धारण करते हैं, तो प्रभु का समादर कर रहे होते हैं। (२) **इत्था**-इस प्रकार वीर्यरक्षण द्वारा **सप्त** 'दो कान, दो नासिका-छिद्र, दो आँखें व जिह्वा' इन सातों को **दिवः कारून्** प्रकाश (ज्ञान) उत्पन्न करनेवाला **जीजनत्**-बनाता है और **अह्ना चित्** एक ही दिन में, अर्थात् अतिशीघ्र, **गृणन्तः**-स्तुति करते हुए ये लोग **वयुना चक्रुः**-प्रज्ञानों को करते हैं अपने अन्दर प्रज्ञानों का सम्पादन करते हैं। सुरक्षित वीर्य ज्ञानाग्नि का ईंधन बनाता है। ज्ञानाग्नि की दीप्ति से इनके प्रज्ञान चमक उठते हैं।

भावार्थ—स्वाध्याय में लगने से वीर्यरक्षण सम्भव होता है। वीर्य-रक्षण ही प्रभु का सच्चा आदर है। यह सुरक्षित वीर्य सब ज्ञानेन्द्रियों को शक्तिशाली बनाता है और शीघ्र ही हमारी ज्ञानाग्नि की दीप्ति का कारण बनता है।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

ज्ञान का प्रकाश व वासना विलय

स्व१र्यद्वेदि सुदृशीकमर्कैर्महि ज्योती रुरुचुर्यद्ध वस्तोः।
अन्धा तमांसि दुधिता विचक्षे नृभ्यश्चकार नृतमो अभिष्टौ॥ ४॥

(१) **अर्कैः**-अर्चना के साधनभूत मन्त्रों द्वारा **यत्**=जब **सुदृशीकम्**=उत्तम दर्शनीय **स्वः**-प्रकाश **वेदि**=जाना जाता है, या प्राप्त किया जाता है। **यत्**=जब **ह**-निश्चय से **वस्तोः**-निवास को उत्तम बनाने के उद्देश्य से **महि ज्योतिः**-महनीय व महान् ज्योति में ही **रुरुचुः**-रुचिवाले होते हैं। उस समय **नृतमः**-वह सर्वोत्तम नेता प्रभु **नृभ्यः**=इन उन्नतिपथ पर बढ़नेवाले लोगों के लिए **अभिष्टौ** वासनाओं पर आक्रमण के निमित्त **अन्धा तमांसि** घने अन्धकारों को **दुधिता चकार**=(नाशितानि सा०) नष्ट करते हैं और **विचक्षे**-उन लोगों के लिए विशेषरूप से मार्गदर्शन के लिए होते हैं। (२) प्रभु की उपासना से प्रकाश प्राप्त होता है। इसी से हमारी रुचि ज्ञानप्राप्ति की ओर होती है।

उस समय प्रभु हमारे घने अज्ञानान्धकारों को नष्ट करते हैं। ज्ञान के प्रकाश में वासनान्धकार का विलय हो जाता है।

भावार्थ—उपासक को प्रभु वह ज्ञान का प्रकाश प्राप्त कराते हैं, जिसमें वासनाएँ विलीन हो जाती हैं।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—स्वराट्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

अनन्त प्रभु

व॒वक्ष॒ इन्द्रो॒ अमि॑तमृजी॒ष्यु१॒भे आ प॑प्रौ॒ रोद॑सी महि॒त्वा।
अत॑श्चिदस्य महि॒मा वि रे॑च्य॒भि यो विश्वा॒ भुव॑ना ब॒भूव॑॥ ५ ॥

(१) **ऋजीषी** ऋजुता (सरलता) की प्रेरणा देनेवाले **इन्द्रः** परमैश्वर्यशाली प्रभु **अमितं ववक्षे** असीम वृद्धिवाले होते हैं (वक्ष to grow)। इतनी वृद्धिवाले कि **उभे रोदसी** दोनों द्यावापृथिवी को **महित्वा** अपनी महिमा से **आपप्रौ**-पूरित कर लेते हैं। (२) वस्तुतः **अतः चित्** इन द्यावापृथिवी से भी **अस्य** इन प्रभु की **महिमा** महिमा **विरेचि**-अतिरिक्त होती है। ये द्यावापृथिवी उसकी महिमा को अपने अन्दर समा लेने में समर्थ नहीं होते। 'पादोऽस्य विश्वा भूतानि' ये सब भूत तो उस प्रभु के चतुर्थांश में ही समा जाते हैं। प्रभु तो वे हैं, **यः** जो कि **विश्वा भुवना**-सब भुवनों को **अभिबभूव**-अभिभूत किये हुए हैं। 'एतावान् अस्य महिमा' ये सब भुवन प्रभु की महिमा हैं, 'अतो ज्यायाँश्च पूरुषः' प्रभु इससे बहुत अधिक हैं। प्रभु इस सारे ब्रह्माण्ड को अपने एक देश में लिये हुए हैं। अनन्त हैं वे प्रभु।

भावार्थ—द्यावापृथिवी उस प्रभु की महिमा को प्रकट कर रहे हैं। प्रभु इनसे महान् हैं, ये तो प्रभु के एक देश में ही स्थित हैं।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

प्रभु द्वारा शक्तिकणों का हमारे साथ मेल

विश्वा॑नि श॒क्रो नर्या॑णि वि॒द्वान॒पो रि॑रेच॒ सखि॑भि॒र्निका॑मैः।
अश्मा॑नं चि॒द्ये बि॑भि॒दुर्वचो॑भिर्व्र॒जं गोम॑न्तमु॒शिजो॒ वि व॑व्रुः ॥ ६ ॥

(१) **शक्रः**-सर्वशक्तिमान् प्रभु **विश्वानि** सब **नर्याणि विद्वान्**-नरहित साधनभूत बातों को जानता हुआ **निकामैः**-प्रभुप्राप्ति की प्रबल कामनावाले **सखिभिः** मित्रभूत जीवों के साथ **अपः रिरेच** वीर्यकणों को (आप रेतोभूत्वा) मिलाता है (to join, mix रिच्)। वस्तुतः इन वीर्यकणों से ही सब हित सिद्ध होते हैं। जीवन भवन की नीव ये वीर्यकण ही हैं। (२) **ये** जो उपासक **वचोभिः** स्तुति वचनों द्वारा **अश्मानं चित्** पत्थर के समान दृढ़ भी वासना को **बिभिदुः** विदीर्ण करते हैं, वे **उशिजः**-मेधावी प्रभुप्राप्ति की कामनावाले पुरुष **गोमन्तम्** प्रशस्त इन्द्रियाश्वोंवाले **व्रजम्** बाड़े को **विवव्रुः**-वासना के आच्छादन से रहित करते हैं, अर्थात् इन्द्रियों को वासनाओं से मुक्त करते हैं। अपने को वासनाओं से मुक्त करके ही तो वे वीर्यरक्षण कर पाते हैं। उस वासना को विनष्ट करने का सर्वोत्तम साधन ज्ञानवाणियों द्वारा प्रभु का उपासन है।

भावार्थ—हमारे जीवनों को मंगलमय बनाने के लिए प्रभु हमारे साथ वीर्यकणों को जोड़ते हैं। इन वीर्यकणों के रक्षण के लिए प्रभु की उपासना नितान्त आवश्यक है।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

ज्ञान-जलों का प्रेरण

अपो वृत्रं वव्रिवांसं पराहन्प्रावत्ते वज्रं पृथिवी सचेताः।
प्रार्णांसि समुद्रियाण्यैनोः पतिर्भवञ्छवसा शूर धृष्णो॥ ७॥

(१) **अपः**-रेतःकणों को **वव्रिवांसम्**=आवृत्त कर लेनेवाले **वृत्रम्**-कामरूप इस शत्रु को **परा अहन्**-आप सुदूर विनष्ट करते हो। **सचेताः**=चेतनावाला-समझदार **पृथिवी**=अपनी शक्तियों का विस्तार करनेवाला मनुष्य **ते**=आपके दिये हुए **वज्रम्**-इस क्रियाशीलतारूप वज्र को **प्रावत्** प्रकर्षेण रक्षित करता है। यह इस बात का पूरा ध्यान करता है कि कहीं यह अकर्मण्य न हो जाए। अकर्मण्य होते ही तो वृत्र का आक्रमण होता है और तब वीर्यरक्षण संभव नहीं रहता। (२) हे **शूर** हमारे शत्रुओं को शीर्ण करनेवाले **धृष्णो**-धर्षकशक्ति से युक्त प्रभो! आप **शवसा**=अपने बल द्वारा **पतिः भवन्**-हमारे रक्षक होते हुए **समुद्रियाणि**=ज्ञानैश्वर्य के अधारभूत वेदरूप समुद्रों के **अर्णांसि** ज्ञान जलों को **प्र ऐनो**-प्रकर्षेण प्रेरित करते हैं। आप हमें शक्ति देते हैं व ज्ञान देते हैं। इसी प्रकार आप हमारा रक्षण करते हैं। इस शक्ति व ज्ञान द्वारा ही वृत्र का विनाश सम्भव होता है।

भावार्थ—समझदार पुरुष क्रियाशील बनकर वासना से बचा रहता है। वासना विनाश मे शक्ति व ज्ञान का वर्धन करके यह ज्ञानसमुद्र के रत्नों को पानेवाला होता है।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

अविद्यापर्वत का विदारण

अपो यदद्रिं पुरुहूत दर्दराविर्भुवत्सरमा पूर्व्यं ते।
स नो नेता वाजमा दर्षि भूरिं गोत्रा रुजन्नङ्गिरोभिर्गृणानः॥ ८॥

(१) हे **पुरुहूत** पालक व पूरक है पुकार जिसकी जिसकी प्रार्थना हमारा पालन व पूरण करती है, ऐसे प्रभो! आप **यद्**-जब **अपः**-हमारे वीर्यकणों का लक्ष्य करके **अद्रिम्**-अविद्या पर्वत को **दर्दः** विदीर्ण करते हैं, तो **पूर्व्यम्**=सर्वप्रथम **ते**-आपकी **सरमा**-सब विषयों में चलनेवाली उनका अवगाहन करनेवाली बुद्धि **आविर्भुवत्**-प्रकट होती है। अविद्या विनाश से वीर्य का रक्षण होता है। इससे हमारे में सूक्ष्मबुद्धि का प्रादुर्भाव होता है। (२) **सः**-वे **नः**-हमारे **नेता** प्रणयन करनेवाले आप **भूरिम्**-पालने व पोषण करनेवाले **वाजम्**-बल व अन्न को **आदर्षि** प्राप्त कराते हैं। **अंगिरोभिः** अपने अंगों को रसमय बनानेवाले पुरुषों से **गृणानः**-स्तुति किये जाते हुए आप **गोत्रा**=अविद्यापर्वतों का **रुजन्** विदारण करनेवाले होते हैं।

भावार्थ—हम प्रभु का स्तवन करते हैं। प्रभु हमारे अविद्यापर्वत का विदारण करते हैं और पोषक अन्नों व बलों को प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

मायावान् 'अब्रह्मा व दस्यु' का विनाश

अच्छा कविं नृमणो गा अभिष्टौ स्वर्षाता मघवन्नाधमानम्।
ऊतिभिस्तमिषणो द्युम्नहूतौ नि मायावानब्रह्मा दस्युरर्त॥ ९॥

(१) हे **नृमणः**-(नृभिः मन्यते) उन्नतिपथ पर चलनेवालों से मननीय **मघवन्**=ऐश्वर्यशालिन् प्रभो! आप **अभिष्टौ**-काम-क्रोध आदि शत्रुओं का आक्रमण होने पर **स्वः साता** प्रकाश की

प्राप्ति के निमित्त **नाधमानम्** याचना करते हुए **कविं अच्छा गा:** ज्ञानीपुरुष की ओर प्राप्त होते हैं और **तम्** उसको **ऊतिभि:** रक्षणों के द्वारा **इषण:** उन्नतिपथ पर प्रेरित करते हैं। (२) उन **द्युम्नहूतौ** (द्युम्नस्य धनस्य हूति: यस्यां) धन की पुकारवाले युद्ध में **मायावान्** छल कपटवाला, **अब्रह्मा** अज्ञानी **दस्यु:** विनाश की वृत्तिवाला पुरुष **नि अर्त** विनष्ट होता है (नीचे जाता है, is trampled upon)।

भावार्थ—संसार संग्राम में कवि (ज्ञानी) अन्तत: विजयी होता है। छली, अज्ञानी व विध्वंस की वृत्तिवाला विनष्ट होता है।

ऋषि: —वामदेव: ॥ देवता—इन्द्र: ॥ छन्द: —भुरिक्पङ्क्ति: ॥ स्वर: —पञ्चम: ॥

कुत्स की प्रभुमित्रता

आ दस्युघ्ना मनसा याह्यस्तं भुवत्ते कुत्स: सख्ये निकाम:।
स्वे योनौ नि षदतं सरूपा वि वां चिकित्सदृतचिद्ध नारी॥ १०॥

(१) **दस्युघ्ना** दस्युओं को दास्यव वृत्तियों को हनन करने की कामनावाले **मनसा** मन से **अस्तम्** मेरे इस शरीररूप गृह में आप **आयाहि** आइये। **कुत्स:** यह वासनाओं का संहार करनेवाला व्यक्ति **ते** आपकी **सख्ये**-मित्रता में **निकाम:** नितरां कामनावाला **भुवत्** हो। वस्तुत: जीवन का मुख्य उद्देश्य कामनाओं को विनष्ट करना हो। इस कामनावाला पुरुष प्रभु की मित्रता चाहता है। प्रभु की मित्रता से ही यह वासनाओं का संहार कर पाता है। (२) गृह में निवास करनेवाले पति पत्नी के लिए कहते हैं कि तुम दोनों प्रभु की उपासना से **सरूपा** प्रभु के समान रूपवाले होते हुए **स्वे योनौ निषदतम्** अपने गृह में आसीन होओ। यह **ऋतचित्** सत्य ज्ञान का जीवनों में संचय करनेवाली **नारी**-उन्नतिपथ पर ले चलनेवाली यह वेदवाणी (नृ नये)। **वाम्** आप दोनों को **ह** निश्चय से **विचिकित्सत्** उत्तम निवासवाला करे व आपके रोगों का अपनयन करे। वेदवाणी के अनुसार चलते हुए पति-पत्नी नीरोग व मंगलमय निवासवाले होते हैं।

भावार्थ—प्रभु हमें प्राप्त हों। वेदवाणी के अनुसार चलते हुए हम उत्तम निवासवाले बनें।

ऋषि: —वामदेव: ॥ देवता—इन्द्र: ॥ छन्द: —भुरिक्पङ्क्ति: ॥ स्वर: —पञ्चम: ॥

वातस्य तोद:

यासि कुत्सेन सरथमवस्युस्तोदो वातस्य हर्योरीशान:।
ऋज्रा वाजं न गध्यं युयूषन्कविर्यदहन्पार्याय भूषात्॥ ११॥

(१) हे प्रभो! आप **कुत्सेन** वासनाओं का संहार करनेवाले पुरुष के साथ **सरथं यासि** समान रथ में गतिवाले होते हैं, अर्थात् इसके शरीर रथ में स्थित होते हुए आप इसके सारथि होते हैं। **अवस्यु:** इस कुत्स के रक्षण की आप कामनावाले होते हैं, जो भी वासनाओं का संहार करनेवाला होता है, उसके आप रक्षक होते ही हैं। **वातस्य**-इस गति द्वारा बुराइयों का गन्धन (हिंसन) करनेवाले के आप **तोद:** (guiding, urging, driving) प्रेरक हैं। **हर्यो:** इसकी ज्ञानेन्द्रियों व कर्मेन्द्रियोंरूप अश्वों के आप **ईशा**-स्वामी होते हैं। इसकी इन्द्रियों को आप ही ऐश्वर्य प्राप्त कराते हैं। (२) इस कुत्स के साथ **गध्यं वाजं न**-ग्रहण के योग्य बल की तरह **ऋज्रा** ऋजुगामी इन्द्रियाश्वों को आप **युयूषन्**-जोड़ने की कामनावाले होते हैं इसे उत्तम इन्द्रियाश्व व ग्रहणीय बल आप प्राप्त कराते हैं इनको प्राप्त करके **यद् अहन्**-जिस दिन यह कुत्स **कवि:**-क्रान्तदर्शी ज्ञानी बनता है, तो यह उस समय **पार्याय** इस भवसागर को पार करने के लिए **भूषात्** (प्रभवति)

समर्थ होता है।

भावार्थ—हम वासनाओं के संहार की वृत्तिवाले बनें। प्रभु हमें उत्तम प्रेरणा देंगे इन्द्रियों को ऐश्वर्य युक्त करेंगे। ऋजुगामी इन्द्रियों को व ग्रहणीय बल को प्राप्त करके हम ज्ञानी बनेंगे और भवसागर को पार कर सकेंगे।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

अशुषशुष्ण का निवर्हण

कुत्साय शुष्णमशुषं नि बर्हीः प्रपित्वे अह्नः कुयवं सहस्रा।
सद्यो दस्यून्प्र मृण कुत्स्येन प्र सूरश्चक्रं वृहतादभीके॥ १२॥

(१) हे प्रभो! **कुत्साय**=वासनासंहार की वृत्तिवाले इस उपासक के लिए **अशुषम्**-(अशूषं) जिस से किसी भी सुख का सम्भव नहीं, उस **शुष्णम्**=शोषण करनेवाले कामासुर को आप **नि बर्हीः** विनष्ट करते हैं। **अह्नः प्रपित्वे**-दिन के प्रक्रम में प्रारम्भ में ही **कुयवम्**-कुयव नामक असुर को भी नष्ट करते हैं। 'कुयव' अर्थात् बुराई को हमारे साथ मिलानेवाला। इस बुराई का हमारे साथ सम्पर्क करनेवाली वृत्ति को आप विनष्ट करते हैं। (२) हे प्रभो! आप **कुत्स्येन** वासना विनाश में उत्तम क्रियाशीलता रूप वज्र द्वारा **सद्यः**=शीघ्र ही **सहस्रा**-हजारों **दस्यून्**-दास्यव वृत्तियों को **प्रमृणः**-नष्ट करते हैं। **सूरः**=यह ज्ञानीपुरुष **अभीके**-आपकी समीपता में **चक्रम्** शत्रु सैन्य को **प्रवृहतात्**-छिन्न करनेवाला हो। ज्ञानीपुरुष प्रभु का आत्मतुल्य प्रिय भक्त होता हुआ प्रभु की शक्ति से शक्तिसम्पन्न बनता है और काम-क्रोध लोभ आदि शत्रुओं को विनष्ट कर पाता है।

भावार्थ—हम वासनासंहार के लिए सदा उद्यत रहें। प्रभु के उपासक बनकर प्रभु की शक्ति द्वारा शत्रुसंहार करनेवाले हों।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—स्वराट्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

'पिप्रु, मृगय और शूशुवान्' का संहार

त्वं पिप्रुं मृगयं शूशुवांसमृजिश्वने वैदथिनाय रन्धीः।
पञ्चाशत्कृष्णा नि वपः सहस्रात्कं न पुरो जरिमा वि दर्दः॥ १३॥

(१) हे प्रभो! **त्वम्**-आप **वैदथिनाय**=ज्ञानयज्ञ का विस्तार करनेवाले तथा **ऋजिश्वने** (ऋजुश्वि) सरलता के मार्ग से गति करनेवाले के लिए **पिप्रुम्** (प्रा पूरणे) अपना ही पूरण करनेवाले आत्मम्भरि (-अत्यन्त स्वार्थी) को, **मृगयम्**-(मृग अन्वेषणे) औरों के घरों में ढूँढ़ ढूँढ़ कर सम्पत्ति-हरण करनेवाले को तथा **शूशुवांसम्**=अन्याय्य मार्गों से धनाहरण करके फूले हुए धनाभिमानी को **रंधीः** विनष्ट करते हैं। इनके विनाश का भाव यही है कि इस 'ऋजिश्वा वैदथिन' में आप स्वार्थ, चोरी व धनाभिमान की भावना उत्पन्न नहीं होने देते। (२) इसी प्रकार **पंचाशत्** पचासों **सहस्रा** हजार प्रकार की **कृष्णा**-कालिमा ली हुई पाप- भावनाओं को **निवपः** आप विनष्ट करते हैं। **न** जैसे **जरिमा**-बुढ़ापा **अत्कम्**=रूप को विनष्ट करता है, इसी प्रकार आप **पुरः** असुर पुरियों को **विदर्दः**-विदीर्ण कर देते हैं। इस उपासक के शरीर में काम, क्रोध व लोभ आदि आसुरभाव नहीं पनप पाते। ये इसके जीवन को नरक नहीं बना देते।

भावार्थ—उपासक स्वार्थ, चोरी व धनाभिमान से ऊपर उठता है और असुरों को अपने अन्दर निवासस्थान नहीं बनाने देता।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—स्वराट्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

उपासक की शक्ति

सूर॑ उपा॒के त॒न्वं१॒ दधा॑नो॒ वि यत्ते॒ चेत्य॒मृत॑स्य॒ वर्पः॑।

मृ॒गो न ह॒स्ती तवि॑षीमुषा॒णः सिं॒हो न भी॒म आयु॑धानि॒ बिभ्र॑त् ॥ १४ ॥

(१) **सूरः** ज्ञानीपुरुष **यत्** जब **ते** हे प्रभो! आपके **उपाके** समीप **तन्वं दधानः** शक्तियों के विस्तार को (तन् विस्तारे) **दधानः** धारण करता हुआ होता है, उस समय उस ज्ञानीपुरुष से **अमृतस्य** अमृत आपका **वर्पः** रूप **विचेति**-विशेषरूप से जाना जाता है। उपासना द्वारा यह बहुत कुछ आप जैसा ही बन जाता है। (२) **मृगः न**-यह जैसे आत्मान्वेषण करनेवाला होता है (मृग अन्वेषणे), उसी प्रकार **हस्ती**-प्रशस्त हाथोंवाला होता है सदा उत्तम कर्मों में लगा रहता है। इस प्रकार यह शत्रुओं के **तविषीम्**-बल को **उषाणः**=नष्ट करनेवाला होता है। यह प्रभु का उपासक **आयुधानि बिभ्रत्**-इन्द्रियाँ, मन व बुद्धिरूप अस्त्रों को धारण करता हुआ **सिंहः न** शेर के समान **भीमः**=शत्रुओं के लिए भयंकर होता है।

भावार्थ—एक उपासक प्रभु की शक्ति से शक्तिसम्पन्न बन करके काम क्रोध आदि शत्रुओं के बल को विनष्ट करता है।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—स्वराट्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

प्रभुरूप धन

इन्द्रं॒ कामा॑ वसू॒यन्तो॑ अग्म॒न्त्स्व॑र्मीळ्हे॒ न सव॑ने चका॒नाः।

श्र॒व॒स्यवः॑ शशमा॒नास॑ उ॒क्थैरोको॒ न र॒ण्वा सु॒दृशी॑व पु॒ष्टिः ॥ १५ ॥

(१) **कामाः** प्रभुप्राप्ति की प्रबल कामनावाले **वसूयन्तः**-सब वसुओं को अपनाने की कामना करते हुए उपासक **इन्द्रं अग्मन्** उस परमैश्वर्यशाली प्रभु को प्राप्त होते हैं। ये लोग **न** जैसे **स्वर्मीळ्हे** संग्राम में काम क्रोध आदि शत्रुओं के साथ अध्यात्म संग्राम में उसी प्रकार **सवने** यज्ञों में **चकानाः** (कन् दीप्तौ) उस प्रभु की याचना करते हैं। (२) **श्रवस्यवः** ज्ञान प्राप्ति की कामनावाले होते हैं। **उक्थैः**-स्तोत्रों से **शशमानासः** प्रभु का शंसन करनेवाले होते हैं। वे प्रभु इनके लिए **ओकः न** निवास-स्थान की तरह **रण्वा**-रमणीय होते हैं। प्रभु निवास में ही ये आनन्द का अनुभव करते हैं और **सुदृशी इव पुष्टिः**-शोभन दर्शना लक्ष्मी के समान होते हैं प्रभु ही इनके धन होते हैं। ये प्रभुभक्त प्रवास व भटकने व भूखे मरने आदि कष्टों को नहीं प्राप्त होते।

भावार्थ—हम अध्यात्म संग्रामों व यज्ञों द्वारा प्रभु का उपासन करें। प्रभु हमारे रमणीय गृह व शोभनदर्शना लक्ष्मी होंगे।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

शक्ति व स्पृहणीय धन

तमिद्व॒ इन्द्रं॑ सु॒हवं॑ हुवेम॒ यस्ता च॒कार॒ नर्या॑ पु॒रूणि॑।

यो माव॑ते जरि॒त्रे गध्यं॑ चिन्म॒क्षू वाजं॒ भर॑ति स्पा॒र्हरा॑धाः ॥ १६ ॥

(१) **तम्** उस **इत्**-निश्चय से **वः**-आप सब के **इन्द्रम्** शत्रुओं के विद्रावण करनेवाले **सुहवम्** (शोभन् हवो यस्य) शोभन आह्वानवाले जिनकी प्रार्थना सदा उत्तम है, उन प्रभु को

हुवेम-पुकारते हैं। उन प्रभु को, **यः**=जो **ता**-उन **पुरूणि**=पालक व पूरक **नर्या**=नरहित के कर्मों को **चकार** करते हैं। (२) उन प्रभु को हम पुकारते हैं, **यः**=जो कि **मा-वते जरित्रे**-लक्ष्मी सम्पन्न स्तोता के लिए **गध्यं चित्**=निश्चय से ग्रहण के योग्य **वाजम्** बल को **मक्षु** शीघ्र ही **भरति**-प्राप्त कराते हैं। और जो प्रभु **स्पार्हराधाः** स्पृहणीय धनवाले हैं।

भावार्थ—प्रभु का आराधक प्रभु से शक्ति व स्पृहणीय धन प्राप्त करता है।

ऋषिः —**वामदेवः** ॥ देवता —**इन्द्रः** ॥ छन्दः —**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः　**धैवतः** ॥

संग्राम विजय

ति॒ग्मा यद॒न्तर॒शनि॑ः पता॑ति॒ कस्मि॑ञ्चिच्छूर मुहु॒के जना॑नाम्।

घो॒रा यद॑र्य॒ सम॑ृति॒र्भवा॒त्यध॑ स्मा नस्त॒न्वो॑ बोधि॒ गो॒पाः॥ १७॥

(१) हे **शूर** शत्रुओं का हिंसन करनेवाले प्रभो! **यद्**=जब **कस्मिञ्चित् मुहुके अन्तः** किसी संग्राम में **तिग्मा अशनिः**=तीव्र विद्युत् **पताति**=हमारे पर गिरती है। और **अर्य**=हे स्वामिन्! **यद्** जब **जनानां घोरा समृतिः**=लोगों का भयंकर संग्राम (सं ऋत) होता है। **अध** उस समय **स्मा** निश्चय से **नः तन्वः बोधि**-हमारे शरीरों का आप ध्यान करिए। **गोपाः**-आप ही तो रक्षक हैं। (२) भयंकर से भयंकर संग्रामों में प्रभुस्मरण ही हमें शक्ति देता है और उसी से प्रेरित होकर हम विजयी बनते हैं।

भावार्थ—संग्रामों में प्रभुस्मरण ही हमें शक्ति व उत्साह प्राप्त कराके विजयी बनाता है।

ऋषिः —**वामदेवः** ॥ देवता —**इन्द्रः** ॥ छन्दः —**भुरिक्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः —**पञ्चमः** ॥

अवृकः सखा (निरीह मित्र)

भुवो॑ऽवि॒ता वा॒मदे॑वस्य धी॒नां भुव॒ः सखा॑वृ॒को वाज॑सातौ।

त्वामनु॒ प्रम॑ति॒मा ज॑गन्मोरु॒शंसो॑ जरि॒त्रे वि॒श्वध॑ स्याः॥ १८॥

(१) हे प्रभो! आप **वामदेवस्य**-सुन्दर दिव्य गुणों को प्राप्त करनेवाले पुरुष के **धीनाम्** ज्ञानपूर्वक किये जानेवाले कर्मों के **अविता भुवः**=रक्षक होते हैं। वस्तुतः प्रभु की शक्ति से शक्ति सम्पन्न होकर ही ये अपने कार्यों को कर पाते हैं। आप **वाजसातौ**-इस जीवन संग्राम में हमारे **अवृकः** किसी भी प्रकार के लोभ से रहित **सखा भुवः**=मित्र होते हैं। आपकी मित्रता ही हमें इस संग्राम में विजयी बनाती है। (२) **त्वाम् अनु**=आपकी उपासना के अनुपात में ही **प्रमतिम्**-प्रकृष्ट बुद्धि को **आजगन्म**-प्राप्त हों। इस बुद्धि के अनुसार कार्य करते हुए ही हम विजयी होंगे। हे प्रभो! आप **जरित्रे**-स्तोता के लिए **विश्वध**=सदा **उरु शंसः स्याः**-अत्यन्त कर्त्तव्यों का शंसनवाले होइये। आप से ही कर्त्तव्य ज्ञान को प्राप्त करके हम भटकने से बच पायेंगे।

भावार्थ—प्रभु हमारी बुद्धियों के रक्षक हैं। संग्राम में हमारे सच्चे साथी हैं। प्रभु की उपासना से ही शुद्धबुद्धि प्राप्त होती है और प्रभु ही उपासक के लिए कर्त्तव्य का ज्ञान प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः —**वामदेवः** ॥ देवता —**इन्द्रः** ॥ छन्दः —**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः —**धैवतः** ॥

सदा प्रभुस्तवन

ए॒भिर्नृभि॑रिन्द्र त्वा॒युभि॑ष्ट्वा म॒घव॑द्भिर्मघव॒न्विश्व॑ आ॒जौ।

द्यावो॒ न द्यु॒म्नैर॒भि सन्तो॑ अ॒र्यः क्ष॒पो म॑देम श॒रद॑श्च पू॒र्वीः॥ १९॥

(१) हे **इन्द्र**-शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले प्रभो! **मघवन्**-सब ऐश्वर्योंवाले प्रभो!

त्वायुभिः तेरी प्राप्ति की कामनावाले, अतएव **मघवद्भिः** (मघ ऐश्वर्य, यज्ञ 'मख')' ऐश्वर्यों का यज्ञों में विनियोग करनेवाले **एभिः नृभिः**-इन मनुष्यों के साथ, अर्थात् सदा ऐसे पुरुषों के संग में रहते हुए, **विश्वे आजौ**-सब युद्धों में **अर्यः** शत्रुओं को **अभिसन्तः** अभिभूत करते हुए **क्षपः** रात्रियों में **च** तथा **पूर्वीः शरदः** इन (बह्वीः सा०) जीवन के बहुत वर्षों में **त्वा मदेम** आपको स्तुतियों से प्रीणित करें, अर्थात् हम सदा आपका स्तवन करनेवाले बनें। आपका सच्चा स्तवन यही है कि हम संयोग से उत्तम वृत्तिवाले होते हुए इस जीवन संग्राम में वासनाओं से अभिभूत न हों। (२) वासनाओं को अभिभूत करते हुए हम इस प्रकार दीप्त हों **न** जैसे कि **द्यावः** द्युलोक **द्युम्नैः** ज्योतियों से दीप्त होते हैं। सत्संग ही हमारी इस ज्ञानवृद्धि का कारण बनता है।

भावार्थ—हम प्रभुप्रवण यज्ञशील लोगों के सम्पर्क में अपने ज्ञान को बढ़ाते हुए वासनाओं को विनष्ट करें। प्रभुस्मरण करते हुए जीवनयात्रा में आगे बढ़ें।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—भुरिक्पङ्क्तिः॥ स्वरः—पञ्चमः॥

प्रभु से रक्षणीय

एवेदिन्द्राय वृषभाय वृष्णे ब्रह्माकर्म भृगवो न रथम्।
नू चिद्यथा नः सख्या वियोषदसन्न उग्रोऽविता तनूपाः॥ २०॥

(१) **भृगवः** ज्ञानदीप्त शिल्पी **न**-जैसे **रथम्**-रथ को बनाते हैं, **एवा** इसी प्रकार **इत्** निश्चय से **वृषभाय** शक्तिशाली **वृष्णे** सुखों का वर्षण करनेवाले **इन्द्राय**-परमैश्वर्यशाली प्रभु के लिए **ब्रह्म अकर्म**-स्तुति को करते हैं। यह प्रभुस्तवन ही हमारी जीवनयात्रा की पूर्ति के लिए रथ बन जाता है। (२) हम ब्रह्म (स्तुति व ज्ञान) को इसलिए करते हैं कि वे प्रभु **नः** हमारी **सख्या** मित्रताओं को **नू चित् वियोषत्**-पृथक् नहीं कर देते, अर्थात् इस ज्ञान से ही हमारी प्रभु के साथ मित्रता बनी रहती है। इस ज्ञान से ही वे **उग्रः**-तेजस्वी प्रभु **नः**-हमारे **अविता** रक्षक व **तनूपाः** शरीरों का पालन करनेवाले होते हैं।

भावार्थ—हम ज्ञान व स्तुति द्वारा प्रभु की मित्रता पाकर प्रभु से रक्षणीय होते हैं।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—निचृत्पङ्क्तिः॥ स्वरः—पञ्चमः॥

रथ्यः सदासाः

नू ष्टुत इन्द्र नू गृणान इषं जरित्रे नद्यो३ न पीपेः।
अकारि ते हरिवो ब्रह्म नव्यं धिया स्याम रथ्यः सदासाः॥ २१॥

(१) हे **इन्द्र**-परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **नु**-अब **स्तुतः** स्तुति किये गये आप **नु** निश्चय से **गृणानः** ज्ञान का उपदेश करते हुए, **जरित्रे**-वासनाओं को जीर्ण करनेवाले स्तोता के लिए **इषम्** प्रेरणा को **न**-इस प्रकार **पीपेः** आप्यायित करते हैं, जैसे कि **नद्यः** नदियों को जल से। हम प्रभुस्तवन करते हैं और प्रभु द्वारा प्रेरणाओं से आप्यायित (वृद्ध) होते हैं। (२) हे **हरिवः**-प्रशस्त इन्द्रियाश्वोंवाले प्रभो! **ते**-आपकी प्राप्ति के लिए **नव्यम्** अतिशयेन स्तुत्य **ब्रह्म** ज्ञान **अकारि** हमारे से किया जाता है। प्रशस्तज्ञान को प्राप्त करके ही हम आपकी प्राप्ति के अधिकारी बनते हैं। हम **धिया** ज्ञानपूर्वक कर्मों द्वारा **रथ्यः** उत्तम शरीररूप रथवाले तथा **सदासाः** (सदा+सा 'सन संभक्तौ') सदा सम्भजनशील व (स+दासाः) अपने को आपके प्रति अर्पण करनेवाले बनें।

भावार्थ—हम प्रभु का स्तवन करें। प्रभु हमें ज्ञानोपदेश करते हुए सत्कर्मों की प्रेरणा देंगे।

परिणामतः उत्तम शरीर रथवाले व प्रभु के प्रति अपना अर्पण करनेवाले बनेंगे।

सूक्त का संक्षेप में भाव यही है कि 'इन्द्र' का स्तवन करते हुए हम भी आसुरवृत्तियों का संहार करनेवाले 'इन्द्र' ही बनेंगे। इसी इन्द्र का स्तवन अगले सूक्त में भी है—

[१७] सप्तदशं सूक्तम्

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—पङ्क्तिः॥ स्वरः—पञ्चमः॥

वासना विनाश व ज्ञान प्रवाह

त्वं म॒हाँ इ॑न्द्र॒ तुभ्यं॑ ह॒ क्षा अनु॑ क्ष॒त्रं मं॒हना॑ मन्यत॒ द्यौः।

त्वं वृ॒त्रं शव॑सा जघ॒न्वान्त्सृ॒जः सिन्धूँ॒रहि॑ना जग्रसा॒नान्॥ १॥

(१) हे **इन्द्र** सब शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले प्रभो! **त्वम्** आप **महान्**-पूज्य हैं। **तुभ्यम्**-आपके लिए **ह** निश्चय से **क्षाः**-पृथिवी **मंहना** नानाविध पदार्थों के दान द्वारा **क्षत्रम्**-आपके बल को **अनु मन्यत**-अनुमत करती है। पृथिवी से प्राप्त इन सब पदार्थों में परमात्मा की ही विभूति दृष्टिगोचर होती है। इसी प्रकार **द्यौः**-द्युलोक आपके बल को अनुमत करता है। (२) हे प्रभो! **त्वम्** आप ही **शवसा**-शक्ति द्वारा **वृत्रम्**=ज्ञान की आवरणभूत वासना को **जघन्वान्** नष्ट करते हैं। इस **अहिना**-(आहन्ति) हमारा हनन करनेवाली वासना से **जग्रसानान्**-निगले जाते हुए-विनष्ट किये जाते हुए, **सिन्धून्**=ज्ञानप्रवाहों को **सृजः**=आप उत्पन्न करते हैं।

भावार्थ—द्युलोक व पृथिवी लोक के सब पदार्थों में प्रभु की महिमा दृष्टिगोचर होती है। प्रभु हमारी वासना को विनष्ट करते हैं और हमारे ज्ञान प्रवाहों को उत्पन्न करते हैं।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

चराचर के शासक प्रभु

तव॑ त्वि॒षो जनि॑मन्रेजत॒ द्यौ रेज॒द्भूमि॑र्भि॒यसा॒ स्वस्य॑ म॒न्योः।

ऋ॒घा॒यन्त॑ सु॒भ्व१॒ः पर्व॑तास॒ आर्द॒न्धन्वा॑नि स॒रय॑न्त॒ आपः॑॥ २॥

(१) हे इन्द्र! **तव**-आपकी **त्विषः**=दीप्ति के **जनिमन्**-प्रादुर्भूत होने पर **द्यौः** मस्तिष्क-रूप द्युलोक **रेजत** चमक उठता है। प्रभु की दीप्ति के प्रादुर्भूत होने पर **भूमिः** यह शरीररूप पृथिवी भी **रेजद्** तेजस्विता से दीप्त हो उठती है। (२) इस **स्वस्य** आत्मा के **मन्योः**=क्रोध के **भियसा** भय से **सुभ्वः**-महान् **पर्वतासः**-पर्वत **ऋघायन्त**-काँप उठते हैं। 'पर्वत' शब्द मेघ के लिए भी प्रयुक्त होता है। ये पर्वतरूप मेघ काँप उठते हैं और **धन्वानि**=मरुस्थलों में भी **आपः सरयन्ते**-जलों को प्राप्त कराते हैं और **आर्दन्**=उन मरुस्थलों की प्यास बुझाते हैं (पिपासाह अपीडयन् सा०)

भावार्थ—चेतन जगत् में प्रभु की दीप्ति के प्रादुर्भाव होने पर मस्तिष्क व शरीर दोनों ही दीप्त होते हैं। अचेतन जगत् भी मानो प्रभु के क्रोध के भय से काँप उठता है। मेघ मरुस्थल पर भी वर्षा को करके उस मरुस्थल की प्यास बुझा देते हैं।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

ज्ञानप्रवाह

भि॒नद्गि॒रिं शव॑सा॒ वज्र॑मि॒ष्णन्ना॑विष्कृण्वा॒नः स॑हसा॒न ओजः॑।

वधी॑द् वृ॒त्रं वज्रे॑ण मन्दसा॒नः सर॒न्नापो॒ जव॑सा ह॒तवृ॑ष्णीः॥ ३॥

(१) प्रभु का उपासक **वज्रम्** क्रियाशीलता रूप वज्र को **इष्णान्** अपने में प्रेरित करता हुआ **शवसा** शक्ति द्वारा **गिरिम्** अविद्यापर्वत को **भिनद्**-विदीर्ण करता है और **सहसानः** शत्रुओं का मर्षण करता हुआ **ओजः** ओज को **आविष्कृण्वानः** प्रकट करता है (२) और जब यह **मन्दसानः** (मन्दतेः स्तुतिकर्मणः) प्रभु का स्तवन करता हुआ **वज्रेण** क्रियाशीलतारूप वज्र से **वृत्रम्** ज्ञान की आवरणभूत वासना को **वधीद्**-विनष्ट करता है, तो **हतवृष्णीः** (हतो वृषा आसां) नष्ट हो गया है वृत्तरूप प्रबल शत्रु जिनका ऐसे **अपः** ज्ञानजल **जवसा** वेग से **सरन्** गतिवाले हो उठते हैं। ज्ञान की आवरणभूत वासना का विनाश हुआ और ज्ञानजलों का प्रवाह चला। सरस्वती नदी के जलप्रवाह को इस वृत्र ने ही तो रोका हुआ था। वृत्र के हटते ही वह प्रवाह प्रवाहित हो उठता है।

भावार्थ—क्रियाशीलतारूप वज्र से अविद्यापर्वत का विदारण होकर ज्ञान का प्रवाह प्रवाहित होने लगता है।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

सुवीर-स्वपस्तम्

सुवीरस्ते जनिता मन्यत द्यौरिन्द्रस्य कर्ता स्वपस्तमो भूत्।
य ईं जजान स्वर्यं सुवज्रमनपच्युतं सदसो न भूम ॥ ४ ॥

(१) हे परमात्मन्! **तेजनिता** आपका प्रादुर्भाव करनेवाला व्यक्ति **सुवीरः** उत्तम वीर होता है। **द्यौः मन्यत** यह प्रकाशमय जीवनवाला होता हुआ सदा मननशील होता है। **इन्द्रस्य कर्ता** परमैश्वर्यवाले प्रभु का अपने हृदयों में प्रकाश करनेवाला व्यक्ति **स्वपस्तमः** अत्यन्त उत्तम कर्मों का करनेवाला **भूत्**-होता है। (२) यह उपासक वह बनता है, **यः** जो कि **ईम्** निश्चय से **स्वर्यम्** प्रकाश को प्राप्त करानेवाले **सुवज्रम्**-उत्तम वज्र को क्रियाशीलतारूप वज्र को **जजान** उत्पन्न करता है। यह क्रियाशीलतारूप वज्र **अनपच्युतम्**-मार्ग से भ्रष्ट नहीं होता, अर्थात् यह सदा मार्ग पर चलनेवाला होता है और इसका यह क्रियाशीलतारूप वज्र **सदसः न** इस ब्रह्माण्डरूप सभा के समान **भूम**-व्यापकतावाला होता है, अर्थात् इसकी क्रियाएँ विश्वहित के दृष्टिकोण से की जाती हैं।

भावार्थ—प्रभु के प्रकाश को देखनेवाला वीर होता है, ज्ञानी बनता है, उत्तम कर्मों में लगा रहता है और इसकी क्रियाएँ विश्वहित के दृष्टिकोण से होती हैं।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

'देव, गृणन् व मघवा'

य एक इच्च्यावयति प्र भूमा राजा कृष्टीनां पुरुहूत इन्द्रः।
सत्यमेनमनु विश्वे मदन्ति रातिं देवस्य गृणतो मघोनः ॥ ५ ॥

(१) **यः** जो **एकः इत्** अकेला ही **भूम** इस सम्पूर्ण उत्पन्न ब्रह्माण्ड को **प्रच्यावयति** प्रलयकाल में विनष्ट करता है, जो **कृष्टीनाम्**=सब श्रमशील मनुष्यों का **राजा** दीप्त करनेवाला है, **पुरुहूतः** जिसकी पुकार पालन व पूरण करनेवाली है। **इन्द्रः** जो परमैश्वर्यशाली है। **एनं सत्यं अनु** इस सत्यस्वरूप प्रभु की अनुकूलता में **विश्वे** सब **मदन्ति** हर्ष का अनुभव करते हैं। (२) इस प्रभु की अनुकूलता में सब हर्ष का अनुभव करते हैं, जो कि **देवस्य**-दिव्यवृत्तिवाले **गृणतः**-स्तुति करते हुए **मघोनः** (मघ मख) यज्ञशील पुरुष के **रातिम्**-बन्धु हैं (अ गति शत्रु,

राति-मित्र)-इसके लिए सब कुछ प्राप्त करानेवाले हैं। प्रभु भी 'देव, गृणन् व मघवा' हैं दिव्यगुणों के पुञ्ज, ज्ञानोपदेश करनेवाले व सम्पूर्ण ऐश्वर्यों के स्वामी हैं। जो भी उपासक इस प्रभु जैसा बनने का प्रयत्न करता है, वही आनन्दित होता है।

भावार्थ—प्रभु की अनुकूलता में ही आनन्द है। उतना ही हमारा जीवन आनन्दमय होता है, जितना कि हम दिव्यगुणोंवाले बनते हैं (देव), ज्ञानी स्तोता बनते हैं (गृणन्) और यज्ञशील होते हैं (मघवा)।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

वसुपतिर्वसूनाम्

स॒त्रा सोमा॑ अभवन्न॒स्य॒ विश्वे॑ स॒त्रा मदा॑सो बृह॒तो मदि॑ष्ठाः।
स॒त्राभ॑वो॒ वसु॑पति॒र्वसू॑नां॒ दत्रे॒ विश्वा॑ अधिथा इन्द्र कृ॒ष्टीः॥ ६॥

(१) **विश्वे सोमाः**-सब सोम **सत्रा**=सचमुच सदा **अस्य अभवन्**=इसके होते हैं। प्रभु ही सब सोमों के स्वामी हैं। उपासक को भी इन सोमों की प्राप्ति होती है। **बृहतः**-इस सब दृष्टिकोणों से बढ़े हुए प्रभु के **मदासः**=हर्ष **सत्रा**=सदा **मदिष्ठाः**=अत्यन्त आनन्दकर होते हैं। प्रभु का उपासक भी इन आनन्दों को अनुभव करता हुआ सदा प्रसन्न रहता है। (२) हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! आप **सत्रा**=सचमुच **वसूनां वसुपतिः**=वसुओं के सर्वश्रेष्ठ स्वामी हैं सब धनों के आप मालिक हैं। आप **विश्वाः कृष्टीः**=सब श्रमशील प्रजाओं को **दत्रे**-धन में **अधिथाः**-धारण करते हैं। श्रम करने पर प्रभु से ही हमें धन प्राप्त कराया जाता है।

भावार्थ—प्रभु श्रमशीलों को धन प्राप्त करा कर आनन्दित करते हैं।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—भुरिक्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

अहि-व्रश्चन

त्वमध॑ प्रथ॒मं जाय॑मा॒नोऽमे॒ विश्वा॑ अधिथा इन्द्र कृ॒ष्टीः।
त्वं प्रति॑ प्र॒वत॑ आ॒शया॑न॒महिं॒ वज्रे॑ण मघव॒न्वि वृ॑श्चः॥ ७॥

(१) हे **इन्द्र**=सब शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले प्रभो! **त्वम्**-आप **जायमानः**-प्रादुर्भूत होते हुए **प्रथमम्**=सर्वप्रथम **विश्वाः कृष्टीः**-इन श्रमशील प्रजाओं को **अमे**=(vital air, life-wind) प्राणशक्ति में **अधिथाः**=स्थापित करते हैं। श्रमशील पुरुष ही प्रभु के उपासक हैं। इन्हें प्रभु प्राणशक्ति प्राप्त कराते हैं। (२) हे **मघवन्**=ऐश्वर्यशालिन् प्रभो! **त्वम्**=आप **प्रवतः प्रति**-निम्न मार्गों में **आशयानम्**=निवास करनेवाले **अहिम्**=इस वासनारूप सर्प को **वज्रेण विवृश्चः**-क्रियाशीलतारूप वज्र द्वारा छिन्न-भिन्न कर देते हैं। प्रभु उपासक को क्रियाशील बनाते हैं क्रियाशीलता द्वारा उसकी वासनाओं को विनष्ट करते हैं। वासना ही 'अहि' है (आहन्ति) विनष्ट करनेवाली है। यह निम्न मार्गों में निवास करती है, अर्थात् जब हम उन्नतिपथ पर चलने का निश्चय करते हैं, तो ये सब वासनाएँ स्वयं विलीन हो जाती हैं। इनके विनष्ट करने के लिए क्रियाशीलता ही वज्र बनती है।

भावार्थ—प्रभु का प्रकाश होते ही उपासक शक्ति का अनुभव करता है। क्रियाशील बनकर वासना को विनष्ट कर डालता है।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

शत्रु विनाश व सफलता की प्राप्ति

स॒त्रा॒हणं॒ दाधृ॑षिं॒ तुम्र॒मिन्द्रं॑ म॒हाम॑पा॒रं वृ॑ष॒भं सु॒वज्र॑म्।
ह॒न्ता यो वृ॒त्रं सनि॑तो॒त वाजं॒ दाता॑ म॒घानि॑ म॒घवा॑ सु॒राधाः॑॥ ८॥

(१) हम उस प्रभु का स्तवन करते हैं, जो कि **सत्राहणम्**-सदा शत्रुओं का संहार करनेवाले हैं, **दाधृषिम्** सब शत्रुओं का धर्षण करनेवाले हैं, **तुम्रम्**-शक्तिशाली हैं, **इन्द्रम्** शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले व परमैश्वर्यशाली हैं। **महान्**=महान् हैं, **अपारम्** आदि अन्त रहित हैं उन प्रभु का कोई ओर छोर नहीं। **वृषभम्** सब सुखों का वर्षण करनेवाले व **सुवज्रम्** उत्तम क्रियाशीलतारूप वज्रवाले हैं। (२) ये प्रभु वे हैं, **यः** जो कि **वृत्रं हन्ता**-वासना को विनष्ट करनेवाले हैं। **उत** और **वाजम्** शक्ति को **सनिता** देनेवाले हैं। वासनाविनाश का परिणाम शक्तिप्राप्ति है ही। वे प्रभु **मघानि दाता**-सब ऐश्वर्यों के देनेवाले हैं। **मघवा**-ऐश्वर्यशाली हैं। **सुराधाः**-इन ऐश्वर्यों के द्वारा उत्तम सफलताओं को प्राप्त करानेवाले हैं।

भावार्थ—प्रभु हमें शत्रुओं के विनाश द्वारा वास्तविक शक्ति प्राप्त कराते हैं। उत्तम ऐश्वर्यों को देकर हमें सफल बनाते हैं।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—भुरिक्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

संग्राम विजय

अ॒यं वृ॒तश्चा॑तयते समी॒चीर्य आ॒जिषु॑ म॒घवा॑ शृ॒ण्व एकः॑।
अ॒यं वाजं॑ भरति॒ यं स॒नोत्य॒स्य प्रि॒यासः॑ स॒ख्ये स्या॑म॥ ९॥

(१) **अयम्** ये प्रभु **वृतः** (आवृण्वन्ति) आच्छादित करनेवाली ढक सा लेनेवाली अपार **समीचीः** संगत हुई हुई शत्रु सेनाओं को **चातयते**=विनष्ट करते हैं। ये **मघवा** ऐश्वर्यशाली प्रभु वे हैं, **यः** जो कि **आजिषु**-संग्रामों में **एकः शृण्वे**-अद्वितीय सुने जाते हैं। प्रभुस्मरण होने पर किसी भी शत्रु का बचे रहना सम्भव नहीं। (२) **यम्**=जिस को प्रभु **सनोति**-देते हैं **अयम्** वह व्यक्ति **वाजं भरति**-शक्ति को अपने में भरनेवाला होता है। इसलिए हम भी **अस्य सख्ये**-इसकी मित्रता में **प्रियासः स्याम**=प्रिय हों। प्रभु के मित्र होंगे तो अवश्य ही शक्ति प्राप्त करनेवाले होंगे। शक्ति प्राप्त करके शत्रुओं का संहार करनेवाले होंगे।

भावार्थ—प्रभु के हम मित्र बनें। प्रभु हमें शक्ति देंगे और हमारे शत्रुओं का संहार कर देंगे।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

'राजस व तामस' भावों का विनाश

अ॒यं शृ॑ण्वे॒ अध॒ जय॑न्नु॒त घ्नन्न॒यमु॒त प्र कृ॑णुते यु॒धा गाः।
य॒दा स॒त्यं कृ॑णु॒ते म॒न्युमिन्द्रो॒ विश्वं॑ दृ॒ळ्हं भ॑यत॒ एज॑दस्मात्॥ १०॥

(१) **अयम्**-यह **इन्द्रः**-शत्रुओं का विद्रावण करनेवाला प्रभु **अध** अब **जयन्** विजय करता हुआ **शृण्वे**=सुना जाता है, **उत**-और यह **घ्नन्**-शत्रुओं को मारता हुआ सुन पड़ता है। **उत** और **अयम्**-यह इन्द्र **युधा** युद्ध द्वारा, काम क्रोध आदि शत्रुओं को पराजित करने द्वारा **गाः प्रकृणुते**-ज्ञानवाणियों को हमारे में प्रकाशित करता है। काम क्रोध आदि के पराजय से, आवरण के हट जाने से ज्ञानवाणियों का प्रकाश हो जाता है। (२) इस प्रकार **यदा**-जब यह इन्द्र **सत्यं**

मन्युम्-इस सत्यज्ञान को **कृणुते**=हमारे हृदयों में स्थापित करते हैं, तो **विश्वम्** सब **दृढम्**-अपने स्थान पर स्थित, अचर और **एजत्**=चर संसार **अस्मात्**=इससे **भयते**-भयभीत हो उठता है। इस सत्यज्ञान के सामने राजस भाव जो अत्यन्त 'एजत्'-गतिवाले हैं तथा तामस भाव जो अत्यन्त निश्चल व 'दृढ़' हैं, वे सब के सब विनष्ट हो जाते हैं और मनुष्य सात्त्विक स्थिति में हो जाता है।

भावार्थ—प्रभु हमारे लिये शत्रुओं का पराजय करते हैं। वे हमें वह सत्यज्ञान देते हैं, जिससे सब राजस व तामस भाव नष्ट होकर हमारी सब गुण में स्थिति होती है।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

उन्नति के साधनों का संग्रह

समिन्द्रो गा अंजयत्सं हिरण्या समश्विया मघवा यो ह पूर्वीः।
एभिर्नृभिर्नृतमो अस्य शाकै रायो विभक्ता संभरश्च वस्वः॥ ११॥

(१) **इन्द्रः** वे शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले **मघवा**=ऐश्वर्यशाली प्रभु! **गाः**=ज्ञानेन्द्रियों को **समजयत्**-हमारे लिए विजय करते हैं, **हिरण्या**-हितरमणीय ज्ञान ज्योतियों को **सम्**-(अजयत्) हमारे लिए जीतते हैं **अश्विया**-कर्मेन्द्रियों के समूह को **सम्**=(अजयत्) हमारे लिए विजय करते हैं। वे प्रभु हमारे लिए इनका विजय करते हैं, **यः**=जो **ह**=निश्चय से **पूर्वीः**=इन बहुत-सी शत्रु सेनाओं का पराजय करनेवाले हैं। (२) **शाकैः**=सामर्थ्यों के साथ **नृतमः**=हमें उन्नतिपथ पर ले चलनेवाले वे प्रभु **एभिः नृभिः**-इन उन्नतिपथ पर चलनेवाले मनुष्यों के दृष्टिकोण से **अस्य**-इस **रायः** धन का **विभक्ता**-देनेवाले होते हैं **च**=और **वस्वः**-निवास के लिए सब आवश्यक तत्त्वों के **सम्भरः**-भरण करनेवाले हैं। इन धनों व वसुओं के द्वारा वे प्रभु हमें सब साधनों को प्राप्त कराते हैं। इन साधनों का ठीक प्रयोग करते हुए हम आगे बढ़ जाते हैं।

भावार्थ—प्रभु हमारे लिए ज्ञानेन्द्रियों, कर्मेन्द्रियों, ज्ञानों, धनों व वसुओं को प्राप्त कराते हैं। इनके द्वारा वे हमें उन्नतिपथ पर बढ़ने के योग्य बना देते हैं।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

माता 'वेद' तथा पिता 'प्रभु' का स्मरण

कियत्स्विदिन्द्रो अध्येति मातुः कियत्पितुर्जनितुर्यो जजान।
यो अस्य शुष्मं मुहुकैरियर्ति वातो न जूतः स्तनयद्भिरभ्रैः॥ १२॥

(१) जीव के 'प्रभु' पिता हैं तो यह 'वेद' जीव की माता के समान हैं 'स्तुतामया वरदा वेदमाता प्रचोदयन्तां पावमानी द्विजानाम्'। **इन्द्रः**-एक जितेन्द्रिय पुरुष **कियत् स्वित्**-भला कितना **मातुः अध्येति**-अपनी इस वेदमाता का स्मरण करता है? वेदमाता के स्मरण का भाव उसका अध्ययन करना है। सामान्यतः मनुष्य वेद का अध्ययन न कर अन्य बातों में ही लगा रहता है। पर यह इन्द्र वेदमाता को न भूलकर उसके अध्ययन का व्रत लेता है। (२) यह इन्द्र **कियत्** कितना **पितुः**-उस रक्षक **जनितुः**=उत्पादक प्रभु का स्मरण करता है, **यः जजान**-जिस प्रभु ने इसे उत्पन्न किया है। जो प्रभु **अस्य**-इसके **शुष्मम्**-बल को **मुहुकैः**-बारम्बार **इयर्ति**-प्रेरित करते हैं। **स्तनयद्भिः अभ्रैः**=गर्जते हुए मेघों से **जूतः**=प्रेरित **वातः न**=वायु के समान उसको वे प्रभु बलसम्पन्न कर देते हैं। यह व्यक्ति शक्तिशाली होता है और 'पर्जन्यनिनदोपम' बादल के समान गर्जती हुई इसकी वाणी होती है। यह इन्द्र अपने पिता 'महेन्द्र' से ऐक्य स्थापित करने का प्रयत्न करता है। परन्तु सामान्य मनुष्य प्रभु को प्रायः भूला ही रहता है।

भावार्थ—वेदमाता व पिता प्रभु का अध्ययन व स्मरण करना ही मनुष्य के लिए हितकर है।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

'दुरितानि परासुव'-'भद्रं आसुव'

क्षियन्तं त्वमक्षियन्तं कृणोतीयर्ति रेणुं मघवा समोहम्।
विभञ्जनुरशनिमाँइव द्यौरुत स्तोतारं मघवा वसौ धात्॥ १३॥

(१) गतमन्त्र के अनुसार जो प्रभु का स्मरण करता है उस **त्वम्** (एकम् 'त्व' शब्दः एकवाची) **क्षियन्तम्**-क्षीण होते हुए को **अक्षियन्तम्**-न क्षीण होता हुआ **कृणोति** कर देते हैं। और **मघवा**-वे ऐश्वर्यशाली प्रभु **समोहम्**-मोह की भावना के साथ **रेणुम्** अधोगति के कारणभूत पाप को-राजसी वृत्ति को **इयर्ति**=इस स्तोता से दूर कर देते हैं। (२) **अशनिमान् द्यौः इव** विद्युत्वाले आकाश की तरह ये प्रभु **विभञ्जनुः** स्तोता के सब पापों का भञ्जन करनेवाले हैं। **उत**-और **मघवा**-वे ऐश्वर्यशाली प्रभु **स्तोतारम्**=स्तोता को **वसौ** सब वसुओं में **धात्** स्थापित करते हैं। सब अशुभों का विनाश करके निवास के लिए आवश्यक शुभ वस्तुओं को उसे प्राप्त करते हैं। 'दुरितानि परासुव, भद्रं आसुव'।

भावार्थ—प्रभु स्तोता के पापों को दूर करके उसे सब वसुओं में स्थापित करते हैं। इस प्रकार वे उसे क्षीण नहीं होने देते।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—स्वराट्पङ्क्तिः॥ स्वरः—पञ्चमः॥

सूर्य-चक्र अवर्तक प्रभु

अयं चक्रमिषणत्सूर्यस्य न्येतशं रीरमत्ससृमाणम्।
आ कृष्ण ईं जुहुराणो जिघर्ति त्वचो बुध्ने रजसो अस्य योनौ॥ १४॥

(१) **अयम्**-ये प्रभु **सूर्यस्य चक्रम्**=सूर्य के चक्र को **इषणत्** प्रेरित करते हैं, अर्थात् सूर्य को गति देनेवाले ये प्रभु ही हैं। **ससृमाणम्**-अत्यन्त गति करते हुए **एतशम्** इस अश्व को (सूर्य के अश्व को) **निरीरमत्** ये प्रभु ही नितरां रमण कराते हैं। सूर्य अपनी सात किरणों के कारण 'सप्ताश्व' कहलाता है। उन अश्वों को इस ब्रह्माण्ड में प्रभु ही विविध क्रियाएँ करने में समर्थ करते हैं। (२) यह **कृष्णः**-आकर्षण से आकृष्ट हुआ हुआ, **जुहुराणः** (The moon मा०) चन्द्र **ईम्**-निश्चय से **आजिघर्ति**-(आ ईषदर्थे) कुछ दीप्तिवाला होता है। **त्वचः**-(त्वच् स्पर्श, वायु का यह गुण है) स्पर्श गुणवाले वायु के **बुध्ने**=आधारभूत और **अस्य रजसः**-इस उदक के **योनौ**-उत्पत्ति स्थान इस अन्तरिक्ष में वे प्रभु सूर्य-चक्र को चलाते हैं और इन गति करते हुए सूर्याश्वों को नितरां रमण कराते हैं। वस्तुतः इन सूर्यकिरणों के कारण ही वायु का प्रवाह व जल का मेघरूप से वर्षण सम्भव होता है।

भावार्थ—प्रभु ही सूर्य चक्र को चलाते हैं। इस सूर्य से ही चन्द्रमा को प्रकाश मिलता है। सूर्यकिरणें ही वायुप्रवाह व जलवर्षण का कारण बनती हैं।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—याजुषीपङ्क्तिः॥ स्वरः—पञ्चमः॥

दिन-रात चलनेवाला यज्ञ

असिक्न्यां यजमानो न होता॥ १५॥

(१) **असिक्न्याम्**=रात्रि में भी **यजमानः न**-यज्ञशील की तरह **होता**=वे प्रभु आहुति देनेवाले हैं। उस प्रभु का यह सृष्टियज्ञ दिन-रात चलता है। 'दिन में प्रभु कार्य करते हों और रात्रि में सो जाते हों' ऐसी बात नहीं है। प्रभु का यह सृष्टियज्ञ दिन रात चलता है। दिन में प्रभु सूर्य द्वारा ब्रह्माण्ड को प्रकाश प्राप्त कराते हैं, तो रात्रि में चन्द्रमा की ज्योत्स्ना को करनेवाले हैं। (२) प्रभु का यह सृष्टियज्ञ दिन-रात चलता है।

भावार्थ—प्रभु इस सृष्टियज्ञ के महान् होता हैं।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—स्वराट्पङ्क्तिः॥ स्वरः—पञ्चमः॥

गव्यन्ताः अश्वायन्तः

गव्यन्त इन्द्रं सख्याय विप्रा अश्वायन्तो वृषणं वाजयन्तः।
जनीयन्तो जनिदामक्षितोतिमा च्यावयामोऽवते न कोशम्॥ १६॥

(१) **विप्राः**-विशेषरूप से अपना पूरण करनेवाले, **गव्यन्तः**-उत्तम ज्ञानेन्द्रियों की कामनावाले, **अश्वायन्तः**-उत्तम कर्मेन्द्रियरूप अश्वों की कामनावाले हम उस **इन्द्रम्**-सब इन्द्रियों के अधिष्ठाता प्रभु को **सख्याय**-मित्रता के लिए **आच्यावयामः**=अपने में प्राप्त कराते हैं। **वाजयन्तः**-शक्ति की कामना करते हुए हम उस **वृषणम्**=शक्तिशाली प्रभु को अपने में प्राप्त करानेवाले होते हैं। (२) **जनीयन्तः**-सब प्रकार के विकासों की कामनावाले हम **जनिदाम्**=विकास को देनेवाले **अक्षित ऊतिम्**-अक्षीण रक्षणवाले उस प्रभु को अपने में आगत करते हैं। उसी प्रकार प्रभु को हम अपने में उतारते हैं, **न**-जैसे कि **अवते**=कूप में **कोशम्**=जलोद्धरण पात्र को। दिव्यता को अपने अन्दर अवतीर्ण करके हम भी प्रभु जैसा बनने के लिए यत्नशील होते हैं।

भावार्थ—प्रभु को अपने में धारण करके हम उत्तम ज्ञानेन्द्रियों, कर्मेन्द्रियों, शक्तियों व विकासों को प्राप्त करते हैं। कूएँ में पात्र की तरह हम अपने में दिव्यता के अवतरण के लिए यत्नशील होते हैं।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

त्राता-आपिः

त्राता नो बोधि ददृशान आपिरभिख्याता मर्डिता सोम्यानाम्।
सखा पिता पितृतमः पितॄणां कर्तेमु लोकमुशते वयोधाः॥ १७॥

(१) **ददृशानः**-पालक के नाते सब को देखते हुए आप **नः त्राता बोधि**=हमारे रक्षक होइये। **आपिः** आप मित्र हैं, **अभिख्याता**='प्रकृति व आत्मा' दोनों का ज्ञान देनेवाले हैं। **सोम्यानाम्** सोम्य पुरुषों के **मर्डिता** सुखी करनेवाले हैं। (२) **सखा**=सब के मित्र, **पिता**-पालक हैं। **पितॄणां पितृतमः**=पालकों में पालकतम हैं। **ईम्**=निश्चय से **लोकं कर्ता**=प्रकाश को (आलोक को) करनेवाले हैं, **उ**=तथा **उशते**=आपकी प्राप्ति की कामनावाले पुरुष के लिए **वयोधाः**-उत्कृष्ट जीवन को धारण करनेवाले हैं। प्रकाश प्राप्त कराके आप ही उत्कृष्ट दीर्घजीवन देते हैं।

भावार्थ—हे प्रभो! आप ही रक्षक हैं। प्रकाश को प्राप्त कराके उत्कृष्ट जीवन देते हैं।

ऋषिः वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः —धैवतः ॥

सखा वयोधाः

सखीयतामविता बोधि सखा गृणान इन्द्र स्तुवते वयो धाः।
वयं ह्या ते चकृमा सबाध आभिः शमीभिर्महयन्त इन्द्र॥ १८॥

(१) हे **इन्द्र**-परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **सखीयताम्**-मित्रता की कामनावालों के **अविता बोधि** रक्षक होइये। **सखा**-आप मित्र हैं, वे मित्र जो कि **गृणानः** उपदेश देनेवाले हैं (गृणाति उपदिशति) कर्तव्य मार्ग का ज्ञान देनेवाले हैं। **स्तुवते**-स्तुति करनेवाले के लिए **वयोधाः** उत्कृष्ट जीवन का धारण करते हैं। (२) **वयम्**=हम **हि**-निश्चय से **सबाधः** शत्रुओं के बाधन के साथ होते हुए शत्रुओं का बाधन करते हुए **ते आचकृमा** आपका उपासन करते हैं-आपका आह्वान करते हैं। हे **इन्द्र** शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले प्रभो! **आभिः शमीभिः**-इन शान्तभाव से किये जानेवाले कर्मों द्वारा हम **महयन्तः**-आपका पूजन करनेवाले हों। आपका कर्मों द्वारा पूजन करते हुए हम आपको पुकारें। आपके द्वारा ही तो हम शत्रुओं का बाधन कर सकेंगे।

भावार्थ—हम प्रभु का पूजन करते हैं। प्रभु हमें ज्ञान देते हुए हमारा रक्षण करते हैं।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

भक्तप्रिय प्रभु

स्तुत इन्द्रो मघवा यद्ध वृत्रा भूरीण्येको अप्रतीनि हन्ति।
अस्य प्रियो जरिता यस्य शर्मन्नकिर्देवा वारयन्ते न मर्ताः॥ १९॥

(१) **मघवा**-परमैश्वर्यवाला **इन्द्रः** शत्रुओं का विद्रावक प्रभु **यद्**-जब **ह** निश्चय से **स्तुतः** स्तुत किया जाता है, तो **एकः**-अकेला ही **भूरीणि** अनेक **अप्रतीनि**-अत्यधिक शक्तिशाली **वृत्रा** वासनारूप शत्रुओं को **हन्ति**-विनष्ट करता है। **जरिता**-स्तोता **अस्य प्रियः** इस प्रभु का प्रिय होता है, (२) **यस्य शर्मन्**-जिस प्रभु की शरण में वर्तमान स्तोता को **न किः देवाः** न तो देव और **न मर्ताः** नां ही मनुष्य **वारयन्ते**-रोक पाते हैं। प्रभु की शक्ति से शक्तिसम्पन्न बना हुआ यह स्तोता उन्नतिपथ पर आगे बढ़ता चलता है। इसकी उन्नति को कोई भी रोकनेवाले नहीं होते।

भावार्थ—हम प्रभु के स्तोता बनते हैं। प्रभु हमारे शत्रुओं का संहार करते हैं। प्रभु को भक्त प्रिय होते हैं।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

मघवा-विरप्शी

एवा न इन्द्रो मघवा विरप्शी करत्सत्या चर्षणीधृदनर्वा।
त्वं राजा जनुषां धेह्यस्मे अधि श्रवो माहिनं यज्जरित्रे॥ २०॥

(१) **एवा**-इस प्रकार **इन्द्रः**-शत्रुओं का विद्रावक, **मघवा** ऐश्वर्यशाली, **विरप्शी** विशिष्ट ज्ञानों का देनेवाला प्रभु **नः** हमारे लिए **सत्या करत्**-सत्यज्ञानों को करते हैं। प्रभु वेदवाणी द्वारा सब सत्य ज्ञानों को देते हैं। इस ज्ञान द्वारा ही वे-**चर्षणीधृत्**-सब मनुष्यों का धारण करनेवाले हैं। और **अनर्वा**-हमें न हिंसित होने देनेवाले हैं। ज्ञान ही हमारा रक्षक बनता है 'ब्रह्म वर्म ममान्तरम्'। (२) हे प्रभो! **त्वम्** आप ही **जनुषाम्** सब उत्पन्न प्राणियों के **राजा** नियामक शासक हैं। **अस्मे**-हमारे लिए **श्रवः**-उस ज्ञान को **अधि धेहि** आधिक्येन धारण कराए। उस

ज्ञान को, **यत्**-जिस **माहिनम्**=महनीय ज्ञान को **जरित्रे**=स्तोता के लिए आप धारण करते हैं। वस्तुतः ज्ञान द्वारा ही प्रभु हमारे शत्रुओं का संहार करके हमें उत्कृष्ट जीवनवाला बनाते हैं।

भावार्थ—प्रभु हमें ज्ञान देते हैं। ज्ञान द्वारा शत्रुसंहार के योग्य बनाते हैं। ज्ञान ही प्रभु का सर्वमहान् धन है। भक्त के लिए प्रभु इसे प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—निचृत्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

नव्यं ब्रह्म

नू ष्टुत इन्द्र नू गृणान इषं जरित्रे नद्यो३ न पीपेः।
अकारि ते हरिवो ब्रह्म नव्यं धिया स्याम रथ्यः सदासाः॥ २१ ॥

मन्त्र व्याख्या १६.२१ पर द्रष्टव्य है।

सम्पूर्ण सूक्त यही भाव व्यक्त कर रहा है कि प्रभु ज्ञान देकर हमारे शत्रुओं का विनाश करते हैं। अगले सूक्त में इसी ज्ञान को देनेवाली 'अदिति' (अदीना देवमाता, वेद) का उल्लेख है—

[१८] अष्टादशं सूक्तम्

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रादिती ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

पुराण धर्ममार्ग

अयं पन्था अनुवित्तः पुराणो यतो देवा उदजायन्त विश्वे।
अतश्चिदा जनिषीष्ट प्रवृद्धो मा मातरममुया पत्तवे कः॥ १ ॥

(१) **अयम्**-यह **पन्थाः**-धर्म का मार्ग **अनु-वित्तः**-गुरु-शिष्य परम्परया अनुक्रमेण जाना जाता है। **पुराणः** यह सनातन है-सदा से चला आ रहा है-सृष्टि के प्रारम्भ में प्रभु ने इसका ज्ञान 'अग्नि, वायु, आदित्य व अंगिरा' इन चार ऋषियों को दिया। उनसे अगले ऋषियों ने प्राप्त किया और यह क्रम से चला आया। यह वह मार्ग है, **यतः**=जिससे **विश्वे देवाः**=सब देव **उद् अजायन्त**-उत्कर्षेण प्रादुर्भूत होते हैं। इस मार्ग पर चलने से दिव्य गुणों का विकास होता है। (२) **अतः**=इसी से **चित्**-निश्चयपूर्वक **आजनिषीष्ट**-मनुष्य विकास को प्राप्त हुआ और **प्रवृद्धः**-प्रकृष्ट बुद्धिवाला हुआ। **अमुया**-इस मार्ग पर चलने द्वारा **मातरम्**=इस वेदमाता को **पत्तवे मा कः** पतन के लिए मत कर, अर्थात् वेदमाता द्वारा कहे हुए मार्ग का आक्रमण करता हुआ तू पतन से अपने को बचानेवाला हो। तेरे उत्कर्ष में ही वेदमाता का भी उत्कर्ष है। तेरे आचरण में हीनता के आने से वेद की भी निन्दा होगी कि 'वेद पढ़े हुए ऐसे ही होते हैं?'

भावार्थ—प्रभु ने वेद द्वारा मार्ग का उपदेश दिया है। उस पर चलकर ही हम अपने विकास व उत्कर्ष को सिद्ध करते हैं।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रादिती ॥ छन्दः—पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

वासना संग्राम-तत्त्वज्ञान

नाहमतो निरया दुर्गहैतत्तिरश्चता पार्श्वान्निर्गमाणि।
बहूनि मे अकृता कर्त्वानि युध्यै त्वेन सं त्वेन पृच्छै॥ २ ॥

(१) **अहम्**-मैं **अतः**=गतमन्त्र में वर्णित पुराण धर्ममार्ग से **न**=नहीं **निः अया**-(अयानि) बाहर जाता हूँ। उस पुराण धर्ममार्ग से ही चलता हूँ। **एतत्**-यह पुराणधर्म **दुर्गहः**=कष्टों का नाश करनेवाला है (दुर्ग-हा) अथा 'दुर् गहा'=कठिनता से ग्रहण करने योग्य है 'क्षुरस्य धारा निशिता

दुरत्यया दुर्गं पथस्तत् कवयो वदन्ति'। **तिरश्चता**-टेढ़ी गतिवाले (तिरः अञ्च्) **पार्श्वात्** पासों से सीमाओं से **निरगमाणि**=बाहर होता हूँ। सीमाओं व पासों में न जाकर मध्यमार्ग से चलता हूँ। पक्ष में न गिरते हुए आचरण करना ही तो न्याय है। (२) **मे**-मेरे द्वारा **बहूनि**-बहुत से **कर्त्वानि**-कर्त्तव्य **अकृता**-नहीं किये गये हैं। कितने ही मेरे कर्त्तव्य-कर्म बचे हुए हैं। **त्वेन** एक कर्त्तव्य कर्म के द्वारा तो मैं **युध्यै** वासनाओं के साथ संग्राम करता हूँ। **त्वेन**-तथा एक के द्वारा **संपृच्छै**-(प्रच्छ ज्ञीप्सायाम्) ज्ञानवाणियों को परिप्रश्नों द्वारा जानने का प्रयत्न करता हूँ। मुख्य कर्त्तव्य दो ही हैं—(क) वासनाओं के साथ संग्राम, (ख) ज्ञानवाणियों के तत्त्व का दर्शन।

भावार्थ—मैं अति में न जाकर मध्यमार्ग से चलता हूँ। वासनाओं के साथ संग्राम करता हुआ तत्त्वज्ञान प्राप्त करने का प्रयत्न करता हूँ।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—इन्द्रादिती॥ छन्दः—भुरिक्पङ्क्तिः॥ स्वरः—पञ्चमः॥

वेदमाता का अनुसरण (follower बनना)

प॒रा॒य॒तीं मा॒तर॒मन्व॑चष्ट॒ न नानु॑ गा॒न्यनु॒ नू ग॑मानि।
त्वष्टु॑र्गृ॒हे अ॑पिब॒त्सोम॒मिन्द्रः॑ शत॒ध॒न्यं॑ च॒म्वोः॑ सु॒तस्य॑॥ ३॥

(१) आत्मालोचन करनेवाला पुरुष **परायतीम्**-दूर जाती हुई **मातरम्** इस वेदमाता को **अन्वचष्ट**-देखता है। देखता है कि यह वेदमाता मेरे से दूर और दूर होती जाती है-मैं इसका स्वाध्याय ठीक रूप में नहीं कर रहा। ऐसा देखकर वह निश्चय करता है कि **न न अनुगानि** 'मैं इसके पीछे नहीं जाता' ऐसी बात नहीं। **नू**-निश्चय से **अनुगमानि**-इसके पीछे जाता ही हूँ। मैं इसका अनुसरण अवश्य करता हूँ। (२) इसी उद्देश्य से **त्वष्टुः**-उस निर्माता प्रभु के **गृहे** बनाए हुए इस शरीररूप गृह में **इन्द्रः**-एक जितेन्द्रिय पुरुष **सोमं अपिबत्**-सोम का पान करता है। सोम को शरीर में ही सुरक्षित करता है। इस सुरक्षित सोम से ही सूक्ष्म बुद्धिवाला बनकर वह वेदमाता को समझनेवाला बनता है। उस सोम का इन्द्र पान करता है, जो कि **सुतस्य** सोम का उत्पादन करनेवाले उस निर्माता प्रभु के **चम्वोः** इन द्यावापृथिवी में-मस्तिष्क व शरीर में **शतधन्यम्** शतवर्ष पर्यन्त उत्तम धन को स्थापित करनेवाला है। यह सोम मस्तिष्क में ज्ञानधन की स्थापना करता है, तो शरीर में शक्तिधन की।

भावार्थ—वेदमाता का हमें अनुगमन करना चाहिए। इसके अनुगमन कर सकने के लिए शरीर में सोमरक्षण द्वारा बुद्धि को सूक्ष्म बनाना चाहिए।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—इन्द्रादिती॥ छन्दः—भुरिक्पङ्क्तिः॥ स्वरः—पञ्चमः॥

अलौकिक शक्ति (प्रतिमान का अभाव)

किं स ऋध॑क्कृणव॒द्यं स॒हस्रं॑ मा॒सो ज॒भार॑ श॒रद॑श्च पू॒र्वीः।
न॒ही न्व॑स्य प्रति॒मान॒मस्त्य॒न्तर्जा॒तेषू॒त ये जनि॑त्वाः ॥ ४॥

(१) **किम्**=क्या ही अद्भुत कार्य **सः**=वह व्यक्ति **ऋधक्** सचमुच (truely) **कृणवत्** करता है, **यम्**-जिसको वे प्रभु **सहस्रं मासः**=हजारों महीनों **च**=और **पूर्वीः**-(बह्वीः) बहुत से वर्षों तक **जभार**-धारण करते हैं। प्रभु से धारित यह व्यक्ति प्रभु की शक्ति से शक्ति सम्पन्न होकर अद्भुत कार्यों को कर पाता है। सामान्य मनुष्य के लिए उस प्रकार कार्य को कर सकना सम्भव नहीं होता। (२) **अस्य**-इस प्रभु की शक्ति से शक्ति सम्पन्न बने हुए व्यक्ति का **नु** निश्चय से **जातेषु अन्तः**-उत्पन्न हुए हुओं के अन्दर **उत**=और **ये जनित्वाः** जो भविष्य में होनेवाले हैं, उनमें

प्रतिमानम्-मुकाबिले का **नहि अस्ति**-नहीं होता है। अलौकिक ही इसकी शक्ति होती है, उसकी, जिसे कि प्रभु धारण करते हैं।

भावार्थ—प्रभु से धारित व्यक्ति अद्भुत शक्तिसम्पन्न होता है और सचमुच अलौकिक कार्य कर पाता है।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रादिती ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

वेदमाता की गोद में

अवद्यमिव मन्यमाना गुहाकरिन्द्रं माता वीर्येणा न्यृष्टम्।
अथोदस्थात्स्वयमत्कं वसान आ रोदसी अपृणाज्जायमानः ॥ ५ ॥

(१) 'वेद' माता है। वह अपने सन्तान 'इन्द्र' का भला चाहती हुई उसे सुरक्षित करती है। **अवद्यम्**-पाप को **इव मन्यमाना**-समझती हुई, 'कहीं यह मेरा सन्तान अमंगल से अभिभूत न हो जाए' ऐसा सोचती हुई यह वेदमाता **इन्द्रम्**-इस जितेन्द्रिय पुरुष को **गुहा अकः**-अपनी गोद रूप गुफा में सुरक्षित करती है अपने संवरण में (गुह संवरणे) रखती है। उस इन्द्र को, जो कि **वीर्येण न्यृष्टम्**=वीर्य से निश्चय पूर्वक संगत है। (२) **अथ**=अब, वेदमाता से सुरक्षित हुआ हुआ यह इन्द्र **उद् अस्थात्**-ऊपर उठता है-संसार के विषयों में फँसता नहीं। यह संसार के विषयों में न फँसने से **स्वयम्**-अपने **अत्कम्**-सब को **वसानः**-धारण किये हुए होता है। संसार के विषयों से लिप्त न होने से अपने तेजस्वी रूपवाला होता है। यह **जायमानः**=शक्तियों का विकास करता हुआ **रोदसी**-द्यावापृथिवी को-मस्तिष्क व शरीर दोनों को **आ अपृणात्**=समन्तात् पूरित करता है। मस्तिष्क को ज्ञान-ज्योति से भरता है, तो शरीर को शक्ति से पूर्ण करनेवाला होता है।

भावार्थ—वेदमाता की गोद में सुरक्षित हुआ-हुआ व्यक्ति विषयाश्रान्त न होकर अपने तेजस्वी रूप को धारण करता है दीप्त मस्तिष्क व तेजस्वी शरीरवाला होता है।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रादिती ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

माता की बात सुनना

एता अर्षन्त्यललाभवन्तीर्ऋतावरीरिव संक्रोशमानाः।
एता वि पृच्छ किमिदं भनन्ति कमापो अद्रिं परिधिं रुजन्ति ॥ ६ ॥

(१) **एताः**-ये गतमन्त्र में वर्णित वेदवाणियाँ-वेदमाता की वाणियाँ **अर्षन्ति**=हमें प्राप्त होती हैं। ये हमारे लिए **अलला भवन्तीः**=(अलं वारणं लान्ति) पाप से निवारण की शक्ति प्राप्त कराती हुई होती हैं। **ऋतावरीः इव**=ये हमारे लिए ऋत का-सत्य का रक्षण करनेवाली होती हैं। **संक्रोशमानाः** ये हमें पुकार पुकार कर अवध (पाप) से बचा रही हैं। (२)हे इन्द्र (जितेन्द्रिय पुरुष)! तू **एताः विपृच्छ**=इन से पूछ-इन से यह जानने की कामनावाला हो कि **किं इदं भनन्ति**-क्या यह कह रही हैं। उनके अनुसार ही तू जीवन को बिताने का प्रयत्न कर। ये **आपः**=व्यापक ज्ञानवाली वाणियाँ (आपो अस्मान् मातरः शुन्धयन्तु), वेदवाणी रूप माताएँ, **परिधिम्**=हमें चारों ओर से घेर लेनेवाले **कं अद्रिम्**-किसी अविद्या-पर्वत को **रुजन्ति**-भग्न करती हैं। अविद्या को नष्ट करके ये हमारा कल्याण करती हैं। इन की वाणी को तू सुन। यही तुझे अवध से बचाएगी।

भावार्थ—वेदमाता की बात को हम सुनें। यह सुनना ही हमें पाप में फँसने से बचाएगा। हमारे घेर लेनेवाले अविद्या-पर्वत को विनष्ट करेगा।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रादिती ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

पाप-पुण्य का ज्ञान

किमु ष्विदस्मै निविदो भनन्तेन्द्रस्यावद्यं दिधिषन्त आपः।
ममैतान्पुत्रो महता वधेन वृत्रं जघन्वाँ असृजद्वि सिन्धून् ॥ ७ ॥

(१) **अस्मै** इस वेदमाता के पुत्र के लिए-वेदानुकूल जीवन बितानेवाले के लिए **निविदः** ये निश्चयात्मक ज्ञान देनेवाली वेदवाणियाँ **किं उ अवद्यम्**-'क्या निश्चय से पाप है' इस बात को **स्वित्** निश्चयपूर्वक **भनन्त**-वह देती हैं-प्रतिपादित कर देती हैं। इस प्रकार पाप का ज्ञान देकर उसे पाप से बचाती हुई ये **आपः** व्यापक ज्ञानवाली वेदवाणियाँ **इन्द्रस्य**-इन्द्र का **दिधिषन्ते** धारण करती हैं। पाप-पुण्य का ज्ञान देनेवाली ये वेदवाणियाँ वस्तुतः पापों से बचाकर हमारा कल्याण करती हैं हमें विनाश से बचाती हैं। (२) वेदमाता कहती है कि **मम पुत्रः**-मेरा यह सन्तान, मेरे द्वारा अपना पवित्रीकरण (पुनाति) व त्राण (त्रायते) रक्षण करनेवाला यह मेरा पुत्र **महता वधेन** इस महतीय (महान्) ज्ञानरूप वज्र से **वृत्रं जघन्वान्**-वासना को विनष्ट करनेवाला होकर **एतान् सिन्धून्**-इन ज्ञानप्रवाहों को **वि असृजत्**=विशेषरूप से अपने अन्दर उत्पन्न करता है। वासना ही ज्ञानप्रवाह की प्रतिबन्धिका है। इस वासना के विनाश से ज्ञानप्रवाह फिर से ठीक रूप में होने लगता है। यह ज्ञानप्रवाह सब मलों को क्षरित कर देता है।

भावार्थ—वेदज्ञान हमें पाप पुण्य का ज्ञान देकर पापों से बचाता हुआ हमारा धारण करता है।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रादिती ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

युवति+कुषवा (स्त्री+शराब)

ममच्चन त्वा युवतिः परास ममच्चन त्वा कुषवा जगार।
ममच्चिदापः शिशवे ममृड्युर्ममच्चिदिन्द्रः सहसोदतिष्ठत् ॥ ८ ॥

(१) गतमन्त्र में कहा था कि 'क्या पाप है'? इस बात का वेद ज्ञान देता है। सो प्रस्तुत मन्त्र में सर्वमहान् पापों का उल्लेख करते हैं। हे जीव! **ममच्चन**-मदमस्त अवस्था का अनुभव करती हुई **युवतिः**-एक युवा स्त्री **त्वा**-तुझे **परा आस**-धर्म के मार्ग से परे फेंक देती है। उसके सौन्दर्य से मुग्ध हुआ हुआ तू धर्म से गिर जाता है। इस प्रकार **ममच्चन**-निश्चय से मद (नशे) वाली मद को पैदा करनेवाली 'कुषवा' (कुत्सितः सवो यस्याः) अत्यन्त अशुभ सव (उत्पत्ति) वाली यह शराब (शर+आब) **त्वा** तुझे **जगार**-निगल ही जाती है। व्यभिचार व सुरापान ही ये दो महान् पाप हैं, जो तुझे नरक के गड्ढे में गिरा देते हैं। (२) चाहिए तो यह कि **ममच्चित्** हर्ष को देनेवाले **आपः**-ये जल **शिशवे**-बुद्धि को तीव्र करनेवाले तेरे लिए **ममृड्युः**-सुख को करनेवाले हों। इन सर्वोषध सम्पन्न जलों का प्रयोग करता हुआ (अप्सु मे सोमो अब्रवीदन्तर्विश्वानि भेषजा) **इन्द्रः**-जितेन्द्रिय पुरुष **ममच्चित्**=हर्ष को अनुभव करता हुआ **सहसा**=तुरन्त **उदतिष्ठत्** उठ खड़ा होता है। वह इन विषयों के बन्धन से निकल भागता है। सुरापानादि व्यसनों को तुरन्त छोड़ देता है। वेदमाता की प्रेरणा का यह लाभ होना ही चाहिए।

भावार्थ—स्त्री व शराब हमारे पतन का कारण बनते हैं। हम शराब आदि को छोड़कर जलों का प्रयोग करते हुए अपनी बुद्धि को तीव्र करें और कल्याणभाक् हों।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रादिती ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

व्यंस (अतिप्रबल काम)

ममच्चन ते मघवन्व्यंसो निविविध्वाँ अप हनू जघान।
अधा निविद्ध उत्तरो बभूवाच्छिरो दासस्य सं पिणग्वधेन॥ ९॥

(१) हे **मघवन्**=ऐश्वर्यशालिन् इन्द्र! **ममच्चन**-अत्यन्त मदवाला होता हुआ **व्यंसः** यह अतिप्रबल 'काम' **ते**-तेरे पर **निविविध्वान्**=आक्रमण करता हुआ (प्रविध्यन् सा०) तुझे बाणों से पीड़ित करता हुआ, **हनू**-तेरे हनुओं को **अपजघान**=आहत करके नष्ट कर डालता है, अर्थात् तुझे खाने के चस्के में डाल देता है। यह जिह्वा का आस्वाद हमारे सब पतनों का कारण बनता है। (२) **अधा**=अब **निविद्धः**-इस विषयानुराग से निश्चयेन विद्ध हुआ-हुआ **उत्तरः बभूवान्**-इन विषयों से ऊपर उठने का प्रयत्न करता हुआ तू हे इन्द्र! **दासस्य**-इस विनष्ट करनेवाले 'काम' नामक असुर के **शिरः** सिर को **वधेन**=वज्र से **संपिणक्**=पीस डाल। काम के सिर को कुचल करके ही यह उत्तर बनता है-आगे बढ़नेवाला होता है।

भावार्थ—अत्यन्त प्रबल इस 'काम' का विध्वंस करके हम 'उत्तर' बनें, उत्कृष्ट मार्ग पर चलनेवाले हों।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रादिती ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

वेदमाता का आदर्श पुत्र

गृष्टिः ससूव स्थविरं तवागामनाधृष्यं वृषभं तुम्रमिन्द्रम्।
अरीळ्हं वत्सं चरथाय माता स्वयं गातुं तन्व इच्छमानम्॥ १०॥

(१) **गृष्टिः**-(गृणाति) ज्ञानोपदेश करनेवाली यह वेदवाणी रूप गौ, **माता** हमारे जीवनों का निर्माण करनेवाली **वत्सम्**=सन्तान रूप बछड़े को **ससूव**=जन्म देती है, जो **वत्स स्थविरम्**-स्थिर वृत्ति का होता है-चञ्चल स्वभाव का नहीं होता। **तवागाम्**-प्रवृद्ध बलवाला, **अनाधृष्यम्**-शत्रुओं से न धर्षण करने योग्य, **वृषभम्**-सब पर सुखों का वर्षण करनेवाला, **तुम्रम्**-शत्रुओं का हिंसक, **अरीढम्**-(रिह-आस्वादने) स्वादों से ऊपर उठा हुआ, **इन्द्रम्**-जितेन्द्रिय होता है। (२) यह वेदमाता ऐसे वत्स को जन्म देती है, जो कि **चरथाय**=सदा गति के लिए होता है-क्रियाशील होता है और **तन्वे**-शक्तियों के विस्तार के लिए **स्वयं गातुम्**-अन्य निरपेक्ष गमन को **इच्छमानम्**-चाहता है। यह औरों पर आश्रित होकर जीने की कामना नहीं करता। यह परवशता का अभाव ही इसे उन्नत करनेवाला बनता है

भावार्थ—वेद के अनुसार जीवन बनानेवाला व्यक्ति स्थिरवृत्ति तथा अपराजित गतिवाला बनने की कामना करता है।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रादिती ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

वेदमाता का पुत्र को उपदेश

उत माता महिषमन्ववेनदमी त्वा जहति पुत्र देवाः।
अथाब्रवीद् वृत्रमिन्द्रो हनिष्यन्त्सखे विष्णो वितरं वि क्रमस्व॥ ११॥

(१) **उत**-और **माता**=यह वेदमाता अपने सन्तान को **महिषम्**-(मह पूजायाम्) पूजा की वृत्तिवाला **अन्ववेनत्** चाहती है। वेद इसे प्रभुप्रवण बनाता है वेदमाता अपने इस पुत्र को समझाती

हुई कहती है कि हे **पुत्र** अपने को पवित्र बनाकर अपना रक्षण करनेवाले वत्स! **अमी** वे **देवा:** देव **त्वा**-तुझे **जहति** छोड़ चले जा रहे हैं। जितना जितना तू प्रभु से दूर हो रहा है उतना उतना ही इन देवों से परित्याग हो रहा है। उपासक को ही दिव्यगुण प्राप्त होते हैं। (२) माता के इस उपदेश को सुनकर **अथ**-अब **इन्द्र:**-यह जितेन्द्रिय पुरुष **वृत्रं हनिष्यन्**-वासना को नष्ट करने की कामनावाला होता हुआ **अब्रवीत्**-प्रभु से प्रार्थना करता है कि हे **सखे** मित्र **विष्णो** सर्वव्यापक प्रभो! **वितरं विक्रमस्व** आप अत्यन्त इन वासनाओं पर आक्रमण करनेवाले होइये। आपने ही तो इन वासनाओं को विनष्ट करना है।

भावार्थ—वेदमाता अपने सन्तान को यही उपदेश देती है कि तू प्रभु का उपासक बन। तभी तू दिव्य गुणों का अधिष्ठान बनेगा तथा वासनाओं को विनष्ट कर पाएगा।

ऋषि:—वामदेव:॥ देवता—इन्द्रादिती॥ छन्द:—त्रिष्टुप्॥ स्वर:—धैवत:॥

प्रभुविस्मरण का परिणाम

कस्ते॑ मा॒तरं॑ वि॒धवा॑मचक्रच्छ॒युं कस्त्वाम॑जिघांस॒च्चर॑न्तम्।

कस्ते॑ दे॒वो अधि॑ मार्डी॒क आ॑सी॒द्यत्प्राक्षि॑णाः पि॒तरं॑ पाद॒गृह्य॑॥ १२॥

(१) हे जीव! **यत्**-जब तू **पितरम्**-अपने पिता को **पादगृह्य**=पाँव से पकड़कर **प्राक्षिणा:** नष्ट कर देता है, अर्थात् जब तू अपने पिता प्रभु को बिलकुल भुला देता है, तो **क: ते** वे प्रजापति प्रभु तेरी **मातरम्**-माता को **विधवाम्**-विधवा **अचक्रत्**-कर देते हैं, अर्थात् अवैदिक जीवनवाले सन्तान के पिता पुत्र के कार्यों से शोकातुर होकर शीघ्र ही चले जाते हैं। (२) वे **क:** प्रजापति **शयुं चरन्तम्** अजगर की भान्ति कुटिल मार्ग से गति करते हुए **त्वाम्** तुझे **अजिघांसत्** समाप्त करना चाहते हैं। प्रतिक्षण की कुटिलता कभी दीर्घ जीवन को नहीं होने देती। (३) हे जीव! तुझे यह बिलकुल भूल ही गया कि वे **क: देव:**-प्रकाशमय प्रजापति **ते** तेरे लिए **अधि मार्डीक** अतिशयित सुख के निमित्त **आसीत्**-थे। प्रभु के सम्पर्क में तो तुझे आनन्द ही आनन्द था। प्रभु विमुख होकर तूने कितना अपना अकल्याण कर लिया। अपने पिताजी की भी मृत्यु का तू कारण बना। अपने जीवन को भी कुटिल बनाकर तूने असमय में ही समाप्त कर लिया। यही मंगल का मार्ग है कि तू प्रभुस्मरणपूर्वक अपने कर्त्तव्य कर्मों के करने में प्रवृत्त रहे।

भावार्थ—प्रभु का विस्मरण पतन व अमंगल का मूल है।

ऋषि:—वामदेव:॥ देवता—इन्द्रादिती॥ छन्द:—स्वराट्पङ्क्ति:॥ स्वर:—पञ्चम:॥

दुर्गति

अव॑र्त्या॒ शुन॑ आ॒न्त्राणि॑ पेचे॒ न दे॒वेषु॑ विविदे मर्डि॒तार॑म्।

अप॑श्यं जा॒याममही॑यमाना॒मधा॑ मे श्ये॒नो मध्वा जभार॥ १३॥

(१) गतमन्त्र के प्रकरण में ही कहते हैं कि प्रभु को भूल जाने पर मैं **अवर्त्या** जीवनोपाय के अभाव में गरीबी में **शुन: आन्त्राणि** कुत्ते की आंतों को **पेचे** पकानेवाला बना। कुत्ते की आंतों को ही पकाकर मुझे अपनी भूख मिटानी पड़ी। कितनी भयंकर दरिद्रता में मैं पड़ा! (२) **देवेषु** सूर्य आदि देवों में किसी भी देव को **मर्डितारम्**-सुख देनेवाला **न विविदे** मैंने नहीं पाया। पाप के परिणामस्वरूप देवों की भी प्रतिकूलता हो जाती है। पापी पर आधिदैविक आपत्तियाँ भी आ पड़ती हैं। (३) मैंने इस पापवृत्ति के परिणामस्वरूप **जायाम्**-अपनी पत्नी को भी **अमहीयमानाम्** निरादृत होती हुई को तथा मेरा ही निरादर करती हुई को **अपश्यम्**-देखा। इससे अधिक दुर्गति

क्या हो सकती है? (४) इस स्थिति से घबराकर व भयभीत होकर जब मैंने प्रभु का स्मरण किया, तो **अधा**=तब उस **श्येनः**=गतिशील प्रभु ने **मे**=मेरे लिए **मधु आजभार**=मधु को प्राप्त कराया। प्रभुकृपा से मेरा जीवन अतिशयेन मधुर बना गया। अवर्ति समाप्त हो गई। सब देव अनुकूल हो गए। पत्नी भी उचित सम्मान को प्राप्त करती हुई मुझे उचित आदर देनेवाली हुई। इस प्रकार जीवन की सब कटुता कट गयी और माधुर्य का अनुभव हुआ।

भावार्थ=प्रभुविस्मरण से उत्पन्न दुर्गति प्रभुस्मरण से ही दूर होती है और जीवन मधुर बन जाता है।

सारे सूक्त में जीवन को वैदिक बनाने पर बल दिया गया है। प्रभुस्मरण जीवन को वैदिक जीवन बनाने में बड़ा सहायक है। प्रभु ने ही तो वासनाओं का विनाश करना है—

[१९] एकोनविंशं सूक्तम्

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

देवों द्वारा प्रभु का संभजन

एवा त्वामिन्द्र वज्रिन्नत्र विश्वे देवासः सुहवास ऊमाः।
महामुभे रोदसी वृद्धमृष्वं निरेकमिद् वृणते वृत्रहत्ये॥ १॥

(१) हे **वज्रिन् इन्द्र**=क्रियाशीलता रूप वज्रवाले शत्रु विद्रावक प्रभो! **अत्र**=इस जीवन में **सुहवासः**=सदा उत्तम पुकारवाले=आपको पुकारनेवाले **ऊमाः**=वासनाओं से अपना बचाव करनेवाले **विश्वे देवासः**=सब देव **त्वाम्**=आपको ही **वृणते**=संभक्त करते हैं। आपका ही भजन करते हुए वस्तुतः वे देव बन पाते हैं। (२) **एवा**=इसी प्रकार **उभे रोदसी** ये दोनों द्यावापृथिवी ब्रह्माण्डवासिनी सब प्रजाएँ, **महाम्**=महान्, **वृद्धम्**=सब गुणों के दृष्टिकोण से बढ़े हुए **ऋष्वम्** दर्शनीय **एकम्**=अद्वितीय आपको **इत्**=ही **वृत्रहत्ये**=वासनाविनाश के निमित्त **निःवृणते** पूर्ण रूप से भजती हैं। वस्तुतः प्रभु भजन ही हमें वासनाओं के आक्रमण से बचाता है।

भावार्थ—प्रभु का उपासन हमें वासनाओं के विनाश के लिए समर्थ करता है। सारा ब्रह्माण्ड इस प्रभु को ही रक्षा के लिए पुकारता है।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

प्रभु द्वारा देवों को सत्यमार्ग पर ले चलना

अवासृजन्त जिव्रयो न देवा भुवः सम्राळिन्द्र सत्ययोनिः।
अहन्नहिं परिशयानमर्णः प्र वर्तनीररदो विश्वधेनाः॥ २॥

(१) हे प्रभो! गतमन्त्र के अनुसार जब देव आपका सम्भजन करते हैं, तो वे **जिव्रयः न**=जिस प्रकार आयुष्य में बड़े हैं, उसी प्रकार **देवाः**=देववृत्तिवाले ये पुरुष **अवासृजन्त**=विषयों से पृथक् किये जाते हैं। प्रभु इन बड़ी उमरवाले दिव्यवृत्तिवाले पुरुषों को विषयों के आक्रमण से बचाते हैं। आचार्य (दयानन्द) ने यहाँ 'जिव्रय' का अर्थ 'दृढ़ जीवनाः' दृढ़ जीवनवाले ऐसा किया है। प्रभु इन दृढ़ जीवनवाले देवपुरुषों को विषयवासनाओं से आक्रान्त नहीं होने देते। हे **इन्द्र**=शत्रुविद्रावक प्रभो! आप ही **सम्राट् भुवः**=इन 'जिव्रि देवों' के सम्राट् होते हैं, आप ही इनके जीवन को दीप्त करते हैं। **सत्ययोनिः**=आप ही सत्य के उत्पत्ति स्थान हैं। आप ही के द्वारा इनके जीवन में सत्य की उत्पत्ति होती है। (२) आप ही **अर्णः**=ज्ञान-जल के **परिशयानम्**=चारों ओर रहनेवाले ज्ञानजल को आवृत कर लेनेवाले इस **अहिम्**=वासनारूप वृत्त को **अहन्**=नष्ट करते हैं और आप

ही **विश्वधेना:** सब के प्रीणित करनेवाले **वर्तनी:** मार्गों को **प्र अरदः** विलेखित करते हैं (chalk out)। वासनाओं को विनष्ट करके आप ही इन्हें उत्तम मार्गों पर ले चलते हैं।

भावार्थ—देववृत्ति के पुरुष प्रभु का उपासन करते हैं। प्रभु इन्हें विषयों से पृथक् करते हैं। इनके अन्दर सत्य को उत्पन्न करते हैं। वासना को विनष्ट करके इन्हें सर्वभूतहित के मार्ग पर चलाते हैं।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता -इन्द्रः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

काम का संहार

अतृ॑प्णुवन्तं॒ विय॑तमबु॒ध्यमबु॑ध्यमानं सुषुपा॒णमि॑न्द्र।
स॒प्त प्रति॑ प्र॒वत॑ आ॒शया॑न॒महिं॒ वज्रे॑ण॒ वि रि॑णा अप॒र्वन्॥ ३॥

(१) हे **इन्द्र**-शत्रुविद्रावक प्रभो! आप **सप्त** सात **प्रवतः प्रति**-निम्नमार्गों में **आशयानम्** निवास करनेवाले **अहिम्**-इस वासनात्मक वृत्त को **वज्रेण** क्रियाशीलता रूप वज्र द्वारा **अपर्वन्** अपर्व रूप में (Without a joint) **विरिणाः** नष्ट कर देते हैं। इस वासना को इस रूप में नष्ट कर देते हैं कि इसका एक भी पर्व (जोड़) बचता नहीं। यह वासना ही तो सातों मर्यादाओं को तोड़कर हमें निम्नमार्ग की ओर ले जानेवाली है। 'सप्त मर्यादा: कवयस्ततक्षुः'। शरीर में प्रतितित (स्थापित) सात ऋषि इन मर्यादाओं का पालन करते हैं। आहि वृत्र वासना इनका विनाश करती है। प्रभुकृपा से क्रियाशील बनकर हम इन वासनाओं को विनष्ट करते हैं। (२) यह **अहि अतृप्णुवन्तम्**-कभी न तृप्त होनेवाला है 'न जातु कामः कामानापभोगेन शाम्यति'। **वियतम्** सब संयमों का तोड़नेवाला-उच्छृङ्खल है। **अबुध्यम्**-इसको समझना बड़ा कठिन है, 'मनसि ज' है न जाने कब इसका आक्रमण हो जाता है। **अबुध्यमानम्** ज्ञान को विनष्ट करनेवाला है 'ज्ञानिनो नित्यवैरिणा'। **सुषुपाणम्**-सुला सा देनेवाला है चेतना को विनष्ट करनेवाला है। इसको नष्ट करके प्रभु हमारा कल्याण करते हैं।

भावार्थ—अत्यन्त प्रबल इस काम को प्रभु ही हमें क्रियाशीलता रूप वज्र देकर विनष्ट करते हैं।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—भुरिक्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

पर्वत ककुभ् भेदन

अक्षो॑दय॒च्छव॑सा॒ क्षाम॑ बु॒ध्नं वार्ण॒ वात॒स्तवि॑षीभि॒रिन्द्रः॑।
दृ॒ळ्हान्यौ॑भ्नादु॒शमा॑न॒ ओजोऽवा॑भिनत्क॒कुभः॒ पर्व॑तानाम्॥ ४॥

(१) **न** जिस प्रकार **वातः** वायु **वाः** जल को **तविषीभिः** बलों के द्वारा क्षुब्ध कर देता है, इसी प्रकार **इन्द्रः** वे परमैश्वर्यशाली प्रभु **शवसा**-बल के द्वारा **क्षाम बुध्नम्** (क्षामान्य बुध्नं च) पृथिवी व इस आकाश (अवकाश-अन्तरिक्ष) को **अक्षोदयत्** संपिष्ट कर देते हैं। सारे ब्रह्माण्ड को प्रभु अपने वश में किये हुए हैं। प्रभु इस ब्रह्माण्ड के प्रभव हैं, तो वे अप्यय भी हैं इसे उत्पन्न करते हैं, तो इसे विनष्ट भी करते हैं। (२) इसी प्रकार हम सब जीवों के लिए **ओजः** शक्ति को **उशमानः** चाहते हुए वे प्रभु **दृढा**-आसुरभावों के दृढ़ किलों को भी **न्यौभ्नात्**-नष्ट करनेवाले हैं। 'काम क्रोध लोभ' के शरीर, मन व बुद्धि में बने हुए दुर्गों को प्रभु नष्ट कर डालते हैं। वे प्रभु **पर्वतानाम्**-अविद्या पर्वतों के **ककुभः** शिखरों को **अवाभिनत्**-विदीर्ण कर देते हैं।

भावार्थ—जड़ जगत् में प्रभु पृथिवी व अन्तरिक्ष को हिला डालनेवाले हैं। चेतन जगत् में वे प्रभु काम-क्रोध-लोभ के किलों को विनष्ट करते हैं और अविद्यापर्वतों का विदारण करते हैं।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

ऊर्मिवध

अभि प्र दद्रुर्जनयो न गर्भं रथाइव प्र ययुः साकमद्रयः।
अतर्पयो विसृत उब्ज ऊर्मीन्त्वं वृताँ अरिणा इन्द्र सिन्धून्॥ ५॥

(१) **जनयः**-माताएँ **न**-जैसे **गर्भम्**=अपने गर्भोत्पन्न बालक की **अभि**=ओर **प्रदद्रुः**-प्रकर्षेण जाती हैं, **इव**=जैसे **रथाः**=रथ लक्ष्य स्थान की ओर जाते हैं, इसी प्रकार **अद्रयः**=उपासक लोग **साकम्** प्रभु के साथ गतिवाले होते हैं। (२) इन **विसृतः**-(विशेषेण सरन्ति) विशिष्ट गतिवाले पुरुषों को **अतर्पयः** हे प्रभो! आप प्रीणित करते हैं। इनकी **ऊर्मीन्**-(शुष्टित्पपासे शोकमोहे जरामृत्यू सुदूर्मयः) भूख-प्यास, शोक-मोह, जरा-मत्यु रूप ऊर्मियों को-लहरों को **उब्जः**-विनष्ट करते हैं (अवधीः सा०) हे **इन्द्र**=शत्रुविद्रावक प्रभो! **त्वम्**=आप इन **वृतान्**-वासना से आवृत हुए-हुए **सिन्धून्**-ज्ञानजलों को **अरिणाः**=फिर से प्रवाहित करते हैं।

भावार्थ—हम प्रभु की ओर जाते हैं तो (क) प्रभु स्व-उत्तमताओं को प्राप्त कराके हमें प्रीणित करते हैं, (ख) हमारी भूख-प्यास आदि भौतिक वृत्तियों को नष्ट करते हैं-हमें साँसारिक विषयों की भूख नहीं लगी रहती हम तृष्णा से ऊपर उठ जाते हैं। (ग) हमारे ज्ञानजलों का प्रवाह ठीक रूप में होने लगता है।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—भुरिक्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

तुर्वीति व वय्य के लिए

त्वं महीमवनिं विश्वधेनां तुर्वीतये वय्याय क्षरन्तीम्।
अरमयो नमसैजदर्णः सुतरणाँ अकृणोरिन्द्र सिन्धून्॥ ६॥

(१) **त्वम्**-हे प्रभो! आप इस **महीम्**=अतिशयेन महत्त्वपूर्ण **अवनिम्**=रक्षा करनेवाली **विश्वधेनाम्**-सब का प्रीणन करनेवाली वेदवाणी को **नमसा**=नमन के साथ **अरमयः**-रमणयुक्त करते हैं। उस वेदवाणी को, जो कि **तुर्वीतये**-त्वरा से शत्रुओं का असन (क्षेपण) करनेवालों के लिए तथा **वय्याय**=कर्मतन्तु का विस्तार करनेवाले के लिए **एजत् अर्णः क्षरन्तीम्**-वासनाओं को कम्पित करके दूर करनेवाले ज्ञानजल को क्षरित करती है। वस्तुतः इस तुर्वीति और वय्य को प्रभुकृपा से ही ज्ञान का यह जल प्राप्त होता है। (२) हे इन्द्र! आप इस तुर्वीति और वय्य के लिए **सिन्धून्** ज्ञानसमुद्रों को **सुतरणान्**=खूब तैरने योग्य अगाध ज्ञान -बल युक्त **कृधि**-करते हैं।

भावार्थ—हम त्वरा से वासनाओं को परे फेंकनेवाले तुर्वीति बनें। निरन्तर कर्मतन्तु का विस्तार करनेवाले वय्य बनें। प्रभु हमें वेदवाणी द्वारा ज्ञान-जल प्राप्त कराएँगे।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

शत्रुहिंसिका सेनाओं के समान 'वेदवाणियाँ'

प्राग्रुवो नभन्वो३न वक्वा ध्वस्रा अपिन्वद्युवतीर्ऋतज्ञाः।
धन्वान्यज्राँ अपृणक्तृषाणाँ अधोगिन्द्रः स्तर्यो३ दंसुपत्नीः॥ ७॥

(१) **नभन्वः**=शत्रुओं का संहार करनेवाली **वक्वाः न**=सेनाओं के समान **ध्वस्राः**-सब

बुराइयों का ध्वंस करनेवाली, **युवतीः**-अच्छाइयों का हमारे साथ मिश्रण करनेवाली, **ऋतज्ञाः** ऋत के ज्ञानवाली या ऋत को प्रादुर्भूत करनेवाली (जन्) **अग्रुवः** इन ज्ञाननदियों को **इन्द्रः** वे प्रभु **प्र अपिन्वत्** प्रपूरित करते हैं। (२) इन ज्ञाननदियों के प्रवाहों द्वारा **धन्वानि**-मरुस्थलों को, **तृषाणान् अज्रान्** प्यासे खेतों को, **अपृणक्**-(अ पूरयत्) पूरित करते हैं। हमारे वे जीवन, जो कि उत्तम सद्गुणों के बीजों के प्रादुर्भाव से रहित थे, उन्हें सद्गुणों के अंकुरित करने के द्वारा शोभायमान कर देते हैं। इन **दंसुपत्नीः**-दमनशील पुरुष की उत्तम रक्षिका **स्तर्यः**-निवृत्त प्रसवा गौ के समान हुई हुई वेदवाणीरूप गौओं को **इन्द्रः**=जितेन्द्रिय पुरुष ही **अधोक्** दोहता है। जितेन्द्रिय पुरुष ही इन ज्ञानवाणियों को समझ पाता है।

भावार्थ—ये वेदवाणियाँ शत्रुहिंसिका सेनाओं के समान हैं। ये हमारे निर्गुण जीवनों को सगुण बना देती हैं। इन वेदवाणी रूप गौओं का दोहन जितेन्द्रिय पुरुष ही कर पाता है।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

वासनाविनाश व ज्ञानप्रवाह

पूर्वीरुषसः शरदश्च गूर्ता वृत्रं जघन्वाँ असृजद्वि सिन्धून्।
परिष्ठिता अतृणद्बद्बधानाः सीरा इन्द्रः स्रवितवे पृथिव्या॥ ८॥

(१) **पूर्वीः उषसः** बहुत उषाकालों तक **शरदः च**-और वर्षों तक **गूर्ताः**-वासनाओं से निगीर्ण की गई (निगली गयी) **सिन्धून्**=ज्ञाननदियों को, **इन्द्रः**-वे प्रभु, **वृत्रं जघन्वान्** वासना को विनष्ट करके **वि असृजत्**-विशेषेण सृष्ट कर देते हैं-उनके प्रवाहों को फिर से चला देते हैं। (२) **परिष्ठिताः** वासना जिनके चारों ओर स्थित हुई है, **बद्बधानाः** जो वासना से बध्यमान हुए हैं, ऐसे **सीराः** ज्ञानप्रवाहों को **इन्द्रः** वे प्रभु **पृथिव्या** इस शरीररूप पृथ्वी के हेतु से **स्रवितवे** प्रवाहित होने के लिए **अतृणत्**-विद्ध करता है (अविध्यत्)। आवरणभूत वासनाओं को विद्ध करके यह ज्ञानप्रवाहों को प्रवाहित करता है।

भावार्थ—प्रभु वासना को विनष्ट करके ज्ञान को प्रवाहित करते हैं। यह ज्ञान ही इस शरीर रूप पृथिवी को सत्य, शिव व सुन्दर बनाता है।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

उखच्छित्

वम्रीभिः पुत्रमग्रुवो अदानं निवेशनाद्धरिव आ जभर्थ।
व्य१न्धो अख्यदहिमाददानो निर्भूदुखच्छित्समरन्त पर्व॥ ९॥

(१) हे **हरिवः** प्रशस्त इन्द्रियाश्वोंवाले प्रभो! आप **वम्रीभिः**-विषयवासनारूप चींटियों से **अदानम्** खाये जाते हुए **अग्रुवः पुत्रम्**=इस वेदवाणी रूप नदी के पुत्र वेदवाणी के अपनानेवाले वेदवाणी द्वारा अपना पवित्रीकरण व त्राण (पुनाति त्रायते) करनेवाले को **निवेशनात्** विषयों के अभिनिवेश से विषयों के प्रति वासना से **आजभर्थ**-बाहर खींच लाते हैं। (२) आपकी कृपा से **अंधः** तत्त्व को न देखनेवाला भी यह **अहिम्**-इस वासनारूप सर्प को **वि अख्यत्** विशेषरूप से देखने लगता है। **आददानः**-वेदवाणी द्वारा ज्ञान प्राप्त करता हुआ यह **निर्भूत्** वासनाओं से बाहर हो जाता है। **उखच्छित्**-यह इस पेट रूप ऊखा का छेदन करनेवाला बनता है पेटू न बनकर बड़ा मितभुक् होता है, परिणामतः इसके **पर्व समरन्त**=सब जोड़ संगत हो जाते हैं। वासनाओं के कारण शरीर में आ गयी सब शिथिलताएँ दूर हो जाती हैं।

भावार्थ—मनुष्य को वासनाएँ खा जाती हैं। ज्ञान द्वारा इनका विनाश होता है। मनुष्य मितभुक् बनता है और दृढ़ अंगों (पर्वों) वाला होता है।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

करणों व कर्मों का ज्ञान

प्र ते पूर्वाणि करणानि विप्राविद्वाँ आह विदुषे करांसि।
यथायथा वृष्ण्यानि स्वगूर्तापांसि राजन्नर्याविवेषीः ॥ १० ॥

(१) हे **विप्र**=हमारा विशेषरूप से पूरण करनेवाले प्रभो . **ते**=आपके **पूर्वाणि** पालन व पूरण करनेवाले **करणानि** करणों को **आविद्वान्**=सम्यग् जानता हुआ यह पुरुष **विदुषे**-एक समझदार व्यक्ति के लिए **करांसि**-करने योग्य कर्मों को **प्र आह**=प्रकर्षेण कहता है। एक ज्ञानी पुरुष (आचार्य) समझदार शिष्य के लिए बतलाता है कि प्रभु ने किस प्रकार 'इन्द्रियाँ, मन व बुद्धि' रूप सुन्दर करण (साधन) दिये हैं। इनका ठीक प्रयोग करते हुए इन यज्ञादि व ज्ञानप्राप्ति के कर्मों को करना चाहिए। (२) वह आचार्य विद्यार्थी को बतलाता है कि **यथा यथा**=जिस जिस प्रकार, **राजन्**=सम्पूर्ण संसार के शासक प्रभो! आप **वृष्ण्यानि**=सुखों के वर्षण करने में उत्तम **स्वगूर्ता**-आत्मतत्त्व को उद्गूर्ण करनेवाले-आत्मतत्त्व की ओर ले जानेवाले **नर्या**=नरहितकारी **अपांसि**=कर्मों को **अविवेषीः**-व्याप्त करते हैं। उन कर्मों का उपदेश करके आचार्य विद्यार्थी को वैसे ही कर्म करने के लिए प्रेरित करते हैं।

भावार्थ—आचार्य विद्यार्थी को प्रभु से प्राप्त कराए गये करणों का संकेत करते हुए कर्तव्य कर्मों का ज्ञान दे। सामान्यतः वे कर्म सुखवर्धक, आत्मतत्त्व की ओर ले जानेवाले तथा नरहितकारी हों।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—निचृत्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

स्तुतः गृणानः

नू ष्टुत इन्द्र नू गृणान इषं जरित्रे नद्यो३ न पीपेः।
अकारि ते हरिवो ब्रह्म नव्यं धिया स्याम रथ्यः सदासाः ॥ ११ ॥

मन्त्र-व्याख्या १६.२१ पर अर्थ द्रष्टव्य है।

अगले सूक्त का भी यही विषय है—

[२०] विंशं सूक्तम्

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

संग्राम में विजय करानेवाले प्रभु

आ न इन्द्रो दूरादा न आसादभिष्टिकृदवसे यासदुग्रः।
ओजिष्ठेभिर्नृपतिर्वज्रबाहुः सङ्गे समत्सु तुर्वणिः पृतन्यून् ॥ १ ॥

(१) **इन्द्रः**-शत्रु विद्रावक प्रभु **नः**-हमें **दूरात्**-दूर से **आयासत्**=प्राप्त हों। और **नः**-हमें **आसात्**-समीप से भी (आ-यासत्) प्राप्त हों। **अभिष्टिकृत्**-ये प्रभु हमारे शत्रुओं पर आक्रमण करनेवाले हैं। **अवसे**=हमारे रक्षण के लिए होते हैं। **उग्रः**=तेजस्वी हैं। (२) ये **नृपतिः**=मनुष्यों के रक्षक **वज्रबाहुः**-बाहुओं में वज्र को लिये हुए प्रभु-निरन्तर गतिशील प्रभु (वज् गतौ) **समत्सु**-संग्रामों में **संगे**=शत्रुओं के साथ टक्कर होने पर **पृतन्यून्**-उन आक्रान्ता शत्रुओं को

तुर्वणिः त्वरा से पराजित करनेवाले हैं (तुद् वन्) अथवा हिंसित करनेवाले हैं (तुर्व हिंसायाम्)। वस्तुतः प्रभु ही हमारे शत्रुओं को विनष्ट करते हैं।

भावार्थ—वे तेजस्वी प्रभु हमें प्राप्त हों। वे ही शत्रुओं का विनाश करके हमारा रक्षण करते हैं।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

अवसे राधसे च

आ न इन्द्रो हरिभिर्यात्वच्छार्वाचीनोऽवसे राधसे च।
तिष्ठाति वज्री मघवा विरप्शीमं यज्ञमनु नो वाजसातौ॥ २॥

(१) **इन्द्रः** शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले प्रभु **नः** हमें **हरिभिः** उत्तम इन्द्रियाश्वों के साथ **अर्वाचीनः** अभिमुख प्राप्त होनेवाले होकर **आयातु**-आएँ। वे प्रभु हमारे **अवसे** रक्षण के लिए हों **च** और **राधसे** कार्यों में सफलता के लिए हों। प्रभु द्वारा प्राप्त इन उत्तम इन्द्रियाश्वों से ही तो हम जीवनयात्रा को पूर्ण कर पाएँगे। (२) वे **वज्री**-क्रियाशीलता रूप वज्रवाले, **मघवा** ऐश्वर्यशाली, **विरप्शी** महान् व सब विज्ञानों का उपदेश देनेवाले वे प्रभु **वाजसातौ**-शक्ति को प्राप्त कराने के निमित्त **नः**-हमारे **इमं यज्ञं अनु**-इस जीवनयज्ञ को लक्ष्य करके **तिष्ठाति**-स्थित होते हैं। प्रभु के रक्षण से ही यह यज्ञ निर्विघ्न पूर्ण होता है। प्रभुकृपा के बिना यज्ञ की पूर्ति सम्भव नहीं है।

भावार्थ—प्रभु हमें उत्तम इन्द्रियाश्वों के साथ प्राप्त हों। वे ही हमारा रक्षण करते हैं, वे ही हमें सफल बनाते हैं। वे ही इस जीवनयज्ञ को पूर्ण कराते हैं।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

यज्ञों के पूरक प्रभु

इमं यज्ञं त्वमस्माकमिन्द्र पुरो दधत्सनिष्यसि क्रतुं नः।
श्वघ्नीव वज्रिन्त्सनये धनानां त्वया वयमर्य आजिं जयेम॥ ३॥

(१) हे **इन्द्र**-परमैश्वर्यसम्पन्न प्रभो! **त्वम्**-आप **अस्माकम्** हमारे **इमं यज्ञम्** इस जीवन यज्ञ को **पुरः** आगे और आगे **दधत्**=धारण करने के हेतु से **नः** हमारे लिए **क्रतुम्** शक्ति को **सनिष्यसि** अवश्य देंगे ही। आपसे दी हुई इस शक्ति द्वारा ही हम जीवन यज्ञ को पूर्ण कर पाते हैं। (२) हे **वज्रिन्** क्रियाशीलता रूप वज्रवाले प्रभो! **श्वघ्नी इव**-एक कितव (जुआरी) की तरह **वयम्** हम **त्वया** आपके साहाय्य से **अर्यः** आपके स्तोता होते हुए **आजिम्** स्पर्धा के लक्ष्य को (युद्ध को) **जयेम**-जीत जाएँ और **धनानां सनये**-धनों की प्राप्ति के लिए हों। 'श्वघ्नी इव' यह हीनोपमा है। जैसे एक कितव विजयी होकर धनों को प्राप्त करता है, हम आपके स्तवन से क्रियाशील होते हुए धनों का विजय करनेवाले बनें। इस जीवन संघर्ष में स्पर्धा करते हुए हम आगे बढ़ें, विजयी बनें और धनों को प्राप्त हों।

भावार्थ—प्रभु से शक्ति प्राप्त करके हम यज्ञों को पूर्ण कर पाते हैं। आपका स्तवन करते हुए हम संग्राम में विजयी हों और धनों को प्राप्त करें।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

सोम का पान

उशन्नु षु णः सुमना उपाके सोमस्य नु सुषुतस्य स्वधावः।
पा इन्द्र प्रतिभृतस्य मध्वः समन्धसा ममदः पृष्ठ्येन॥ ४॥

(१) हे **स्वधावः**=आत्मधारण शक्तिवाले प्रभो! **उ नः उ**-निश्चय से हमारे **उशन्**-हित की कामना करते हुए आप **सुमनाः**=हमें (शोभनं मनो यस्मात्) शोभन मन को प्राप्त कराते हुए **उपाके**-सदा हमारे समीप होते हुए **नु**-अब **सुषुतस्य**=उत्तमता से उत्पन्न किये गये **प्रतिभृतस्य**=आपके अंग में प्राप्त कराए गये **मध्वः**-जीवन को मधुर बनानेवाले **सोमस्य**-सोम का **पाः**=पान करते हैं। इस सोमशक्ति को शरीर में ही सुरक्षित करते हैं। इस रक्षित वीर्य से ही हमारे सब अंग पुष्ट होते हैं। इसी से नीरोगता प्राप्त होकर जीवन मधुर बनता है। (२) हे **इन्द्र**-सब शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले प्रभो! आप इस **पृष्ठ्येन**=जीवन के आधारों में उत्तम आधारभूत (पृष्ठ back bone) **अन्धसा**-इस सोम द्वारा **संममदः**-हमारे जीवनों को आनन्दित करते हैं। यह सुरक्षित सोम ही जीवन का सर्वोत्तम आधार है। यही हमें 'नीरोग, निर्मल व दीप्त' जीवनवाला बनाता है। इस सोम को हम प्रभुस्मरण द्वारा ही, वासनाओं से बचकर, शरीर में सुरक्षित करते हैं।

भावार्थ—प्रभुस्मरण से सोम शरीर में सुरक्षित होता है। सुरक्षित सोम जीवन का उत्तम आधार बनता है।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

वृक्षा न पक्वः

वि यो र॑र॒प्श ऋषि॑भि॒र्नवे॑भिर्वृ॒क्षो न प॒क्वः सृण्यो॒ न जेता॑।
मर्यो॒ न योषा॑म॒भि मन्य॑मा॒नोऽच्छा॑ विवक्मि पुरुहू॒तमिन्द्र॑म्॥ ५॥

(१) मैं **पुरुहूतम्**=पालक व पूरक है पुकार जिसकी-जिसकी आराधना हमारा पालन व पूरण करती है, उस **इन्द्रम्**-परमैश्वर्यशाली प्रभु को **अच्छा**-लक्ष्य करके **विवक्मि**-स्तुति शब्दों का उच्चारण करता हूँ। **यः**-जो प्रभु **नवेभिः**=(नव् गतौ) गतिशील-क्रियाशील, **ऋषिभिः**-तत्त्वद्रष्टा पुरुषों से **विररप्शे**-विविध रूपों में स्तुति किया जाता है। वस्तुतः प्रभु का उपासन इसी में है कि हम क्रियाशील बनें और तत्त्वदर्शन के लिए यत्नशील हों। (२) वे प्रभु (क) **वृक्षः न पक्वः**=पके हुए फलोंवाले वृक्ष के समान हैं। जिस प्रकार परिपक्व वृक्ष मधुरतम फलों को देनेवाला है, इसी प्रकार वे प्रभु हमारे लिए हितकर मधुर फलों को प्राप्त कराते हैं। (ख) **सृण्वः न जेता**=आयुध (सृणि=अंकुश) कुशल पुरुष की तरह वे विजेता हैं। जैसे अंकुश-प्रहार प्रवीण आधोरण (=महावत) मदमत्त हाथी को भी वशीभूत करनेवाला है, उसी प्रकार वे प्रभु सारे ब्रह्माण्ड के वशीभूत करनेवाले हैं। प्रभु का स्मरण हमारी प्रबल वासनाओं को भी कुचल देनेवाला है। (२) वे प्रभु **मर्यः न योषां अभिमन्यमानः**=एक मनुष्य जिस प्रकार पत्नी का आदर करता है, इसी प्रकार हम जीवों का आदर करनेवाले हैं। हमारी उत्तम इच्छाओं को पूर्ण करना ही हमारा आदर है-प्रभु हमारी सब हितकर इच्छाओं को पूर्ण करते हैं। प्रभु पति हैं, हम पत्नी के रूप में।

भावार्थ—प्रभु परिपक्व वृक्ष की तरह हमारे लिए मधुर फलों को देनेवाले हैं। आयुध-कुशल पुरुष की तरह हमारी वासनाओं को पराजित करनेवाले हैं। प्रभु पति हैं, हम पत्नी के रूप में।

सूचना—यहाँ हम अन्तिम उपमाएँ में रहस्यवादी कविताओं के बीज को पाते हैं।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

स्वतवान् ऋष्वः

गि॒रिर्न यः स्वत॑वाँ ऋ॒ष्व इन्द्रः॑ स॒नादे॒व सह॑से जा॒त उ॒ग्रः।
आद॑र्ता॒ वज्रं॒ स्थवि॑रं॒ न भी॒म उ॒द्नेव॒ कोशं॒ वसु॑ना॒ न्यृ॑ष्टम्॥ ६॥

(१) **गिरिः न** पर्वत के समान **यः**=जो **स्व-तवान्**-प्रवृद्ध आत्मशक्तिवाला है, **ऋष्वः** दर्शनीय व महान् है, वह **इन्द्रः**-शत्रुओं का विद्रावण करनेवाला प्रभु **सनात् एव** सदा से ही **उग्रः** तेजस्वी **सहसे**=शत्रुओं के मर्षण के लिये **जातः**-प्रादुर्भूत हुआ है। हृदयों में प्रभु का प्रकाश होने पर सब काम क्रोध आदि शत्रुओं का विनाश हो जाता है। (२) वे प्रभु **स्थविरम्** अति स्थूल (-विशाल) **वज्रम्**-क्रियाशीलता रूप वज्र को **आदर्ता**-आदृत करते हैं। उस क्रियाशीलता रूप वज्र को, जो कि **उद्ना**-पानी से **कोशं इव**-कोश की तरह **वसुना**=सब वसुओं से **न्यृष्टम्** नितरां संगत है। जब इस प्रकार क्रियाशीलता को हम अपनाते हैं, तो प्रभु के प्रिय बनते हैं। वे प्रभु **न भीमः** हमारे लिए भयंकर नहीं होते। प्रभु हमारे शत्रुओं के लिए ही भयंकर होते हैं। वस्तुतः प्रभु को हृदयों में प्रादुर्भूत करके ही हम शत्रुओं का विनाश कर पाते हैं। तब हमारी आत्मशक्ति बढ़ती है, हम दर्शनीय जीवनवाले तेजस्वी बनते हैं और शत्रुओं का मर्षण करते हैं।

भावार्थ—हृदयों में प्रभु को प्रादुर्भूत करके हम शत्रु का विनाश कर पाते हैं। क्रियाशील बनकर हम प्रभु के प्रिय बनते हैं।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—स्वराट्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

न वर्ता-न आमरीता

न यस्य वर्ता जनुषा न्वस्ति न राधस आमरीता मघस्य।
उद्वावृषाणस्तविषीव उग्रास्मभ्यं दद्धि पुरुहूत रायः ॥ ७॥

(१) हे प्रभो! **यस्य** जिन आपका **वर्ता**-निवारण करनेवाला आपको अपने कार्यों से रोकनेवाला **जनुषा**=जन्म से-स्वभाव से ही **नु**-निश्चयपूर्वक **न अस्ति**-नहीं है। हे प्रभो! आपके **राधसः**-कार्यों को सिद्ध करनेवाले **मघस्य**-ऐश्वर्य का **आमरीता न**-विनाश करनेवाला कोई नहीं। आपकी शक्ति अप्रतिहत है-आपका ऐश्वर्य अनन्त है। (२) हे **तविषीवः** बलवन् प्रभो! **उग्र**-तेजस्विन् **पुरुहूत**-बहुतों से पुकारे जानेवाले प्रभो! **उद्वावृषाणः**=अत्यन्त धनों का वर्षण करते हुए आप **अस्मभ्यम्**-हमारे लिए **रायः** इन दान देने योग्य धनों को **दद्धि**-दीजिए। इन धनों को दान में विनियुक्त करते हुए तपस्वी जीवनवाले हम भी हे प्रभो! आपके ही समान तेजस्वी बनने का यत्न करें।

भावार्थ—प्रभु अनन्तशक्ति व अनन्त-ऐश्वर्यवाले हैं। प्रभु हमें कार्यसाधक धनों को प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

समिथेषु प्रहावान्

ईक्षे रायः क्षयस्य चर्षणीनामुत व्रजमपवर्तासि गोनाम्।
शिक्षानरः समिथेषु प्रहावान्वस्वो राशिमभिनेतासि भूरिम्॥ ८॥

(१) हे प्रभो! आप **चर्षणीनाम्**=श्रमशील मनुष्यों के **रायः** धनों के तथा **क्षयस्य** गृहों के **ईक्षे**=देखनेवाले हैं। आप इस बात का ध्यान करते हैं कि श्रमशील मनुष्य को आवश्यक धन व गृह की कमी न रहे 'उसका योगक्षेम ठीक से चलता जाये' इस बात का ध्यान प्रभु करते हैं। **उत**=और आप इन श्रमशील मनुष्यों के **गोनां व्रजम्**-इन्द्रियों के समूह को **अपवर्ता असि** विषयों से अपावृत्त करनेवाले हैं। इन की इन्द्रियों को आप विषय-वासनाओं से आक्रान्त नहीं होने देते। (२) हे प्रभो! आप **शिक्षानरः**-शिक्षा द्वारा-ज्ञान द्वारा प्रजाओं को आगे ले चलनेवाले हैं (नृ

नये)। **समिथेषु** काम क्रोध आदि से संग्राम होने पर आप ही **प्रहावान्**=इन शत्रुओं पर आक्रमण करनेवाले अस्त्रोंवाले हैं। इस प्रकार हमारा ज्ञान बढ़ाकर तथा काम-क्रोध आदि को विनष्ट करके आप **भूरिम्**-बहुत अधिक अथवा भरण-पोषण के लिए पर्याप्त **वस्वः राशिम्**=धनराशि को **अभिनेता असि**=प्राप्त करानेवाले हैं।

भावार्थ—प्रभु श्रमशील मनुष्य को योगक्षेम से वञ्चित नहीं करते। इनकी इन्द्रियों को विषयों से आक्रान्त नहीं होने देते। भरण-पोषण के लिए पर्याप्त धन प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—स्वराट्पङ्क्तिः॥ स्वरः—पञ्चमः॥

पापविनाशक प्रभु

कया तच्छृण्वे शच्या शचिष्ठो यया कृणोति मुहु का चिदृष्वः।
पुरु दाशुषे विचयिष्ठो अंहोऽथा दधाति द्रविणं जरित्रे॥ ९॥

(१) **तत्**=वे प्रभु **कया**-किसी अद्भुत (अनिर्वचनीय) अथवा आनन्दमय **शच्या**-प्रज्ञान व कर्म से **शृण्वे**=सुने जाते हैं-प्रसिद्ध हैं। **शचिष्ठः**-अत्यन्त शक्तिशाली व प्रज्ञानवाले हैं। वह **ऋष्वः**-महान् प्रभु **यया**=जिस शक्ति द्वारा **मुहु**=फिर फिर **काचित्**=(कानिचित्) किन्हीं कर्मों को **कृणोति**=करते हैं। सृष्टि के उत्पत्ति, धारण व प्रलय रूप कर्म प्रभु अपनी इसी शची (शक्ति व प्रज्ञान) द्वारा करते हैं। (२) ये प्रभु **दाशुषे**=आत्मसमर्पण करनेवाले के लिए **अंहः**-पाप को **पुरु**-अत्यन्त **विचयिष्ठः**=विनष्ट करनेवाले हैं। **अथा**-और अब, पाप को विनष्ट करके, ये प्रभु **जरित्रे**-स्तोता के लिए **द्रविणम्**-धन को **दधाति**-धारण करते हैं।

भावार्थ—प्रभु अद्भुत शक्ति व प्रज्ञानवाले हैं। वे महान् प्रभु स्तोता के पापों को विनष्ट करके उसके लिए आवश्यक धन प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

'न हिंसित होने देनेवाले' प्रभु

मा नो मर्धीरा भरा दद्धि तन्नः प्र दाशुषे दातवे भूरि यत्ते।
नव्ये देष्णे शस्ते अस्मिन्त उक्थे प्र ब्रवाम वयमिन्द्र स्तुवन्तः॥ १०॥

(१) हे प्रभो! **नः**=हमें **मा मर्धीः**=काम-क्रोध आदि से नष्ट मत होने दीजिए। **आभरा**=हमारा सब प्रकार से भरण करिए। **नः**=हमारे लिए **तत्**=उस धन को **भूरि**=बहुत **प्रदद्धि**=दीजिए, **यत्**=जो **ते**-आपका धन **दाशुषे**=आत्मसमर्पण करनेवाले के लिए **दातवे**=देने के लिए है। जो धन आप दाश्वान् पुरुष को देते हैं, वह धन हमें दीजिए। (२) हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **नव्ये**=अत्यन्त स्तुत्य, **देष्णे**-दान में प्रेरित करनेवाले **शस्ते**=प्रशस्त **अस्मिन्**=इस **ते**=आपके **उक्थे**=स्तोत्र में **वयम्**=हम **प्रब्रवाम**=आपके नामों व गुणों का उच्चारण करें। यह प्रभु के नामों का उच्चारण हमें प्रशस्त जीवनवाला बनाता है। इस से हमारे अन्दर धन को देने की वृत्ति बनती है। प्रभु हमें देते हैं और इसीलिए देते हैं कि हम धन को देनेवाले बनें। वस्तुतः देनेवाले बनकर ही हम प्रभु का **स्तुवन्तः**=स्तवन करनेवाले होते हैं। कोई भी व्यक्ति धन को न देनेवाला प्रभु का स्तोता नहीं बन पाता है।

भावार्थ—प्रभु हमें सब धन देते हैं और इस प्रकार हमें हिंसित नहीं होने देते।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—निचृत्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

रथ्यः सदासाः

नू ष्टुत इन्द्र नू गृणान इषं जरित्रे नद्यो३ न पीपेः।
अकारि ते हरिवो ब्रह्म नव्यं धिया स्याम रथ्यः सदासाः ॥ ११ ॥

मन्त्र व्याख्या १९.११ पर द्रष्टव्य है।

सूक्त का भाव यही है कि प्रभु हमें हिंसित नहीं होने देते। अगले सूक्त का प्रारम्भ इन्हीं शब्दों से होता है कि प्रभु हमें रक्षा के लिए प्राप्त हों—

[२१] एकविंशं सूक्तम्

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—भुरिक्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

'सधमाद्' प्रभु

आ यात्विन्द्रोऽवस उप न इह स्तुतः सधमादस्तु शूरः।
वावृधानस्तविषीर्यस्य पूर्वीर्द्यौर्न क्षत्रमभिभूति पुष्यात् ॥ १ ॥

(१) **इन्द्रः**-वे परमैश्वर्यशाली प्रभु **इह** यहाँ **नः** हमें **उप आयातु**-समीपता से प्राप्त हों। **अवसे** वे हमारे रक्षण के लिए हों। **स्तुतः** स्तुति किये गये वे प्रभु **सधमाद अस्तु** हमें अपने साथ आनन्द को प्राप्त करानेवाले हों। **शूरः**-हमारे सब शत्रुओं को वे शीर्ण करें। (२) **वावृधानः** वे प्रभु हमें अत्यन्त बढ़ानेवाले हों। **यस्य**-जिन प्रभु के **तविषीः** बल **पूर्वीः** हमारा पालन व पूरण करनेवाले हैं, वे प्रभु **द्यौः न** प्रकाशमय ज्ञान की तरह **अभिभूति क्षत्रम्**-शत्रुओं को अभिभूत करनेवाले बल को **पुष्यात्** हमारे में पुष्ट करें। इन ज्ञानों व बलों को देकर ही वे प्रभु हमारा वर्धन करते हैं।

भावार्थ—प्रभु हमें प्राप्त होते हैं। वे प्रभु ही हमारा रक्षण करते हैं। रक्षण के लिए वे हमें ज्ञान तथा शक्ति देते हैं।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—भुरिक्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

'तुविद्युम्न तुविराधस्' प्रभु का सम्पर्क

तस्येदिह स्तवथ वृष्ण्यानि तुविद्युम्नस्य तुविराधसो नॄन्।
यस्य क्रतुर्विदथ्यो३ न सम्राट् साह्वान्तरुत्रो अभ्यस्ति कृष्टीः ॥ २ ॥

(१) **तस्य** उस **तुविद्युम्नस्य**-महान् ज्ञानवाले **तुविराधसः** महान् सम्पत्ति व ऐश्वर्यवाले प्रभु के **वृष्ण्यानि** बलों को **नॄन्** प्राप्त करानेवाले (ले चलनेवाले) मरुतों (प्राणों) को **इत्** निश्चय से **इह** इस जीवन में **स्तवथ**-स्तुत करो। **यस्य क्रतुः**-जिस प्रभु का कर्म **विदथ्यः सम्राट् न** ज्ञान में उत्तम शासक के समान है। ज्ञानी शासक जैसे प्रजाओं का नियन्त्रण करता है, इसी प्रकार वे प्रभु सब प्रजाओं का नियन्त्रण कर रहे हैं। उस प्रभु का कर्म **साह्वान्**-सब शत्रुओं का पराभव करनेवाला है। **तरुत्रः**-हमें भवसागर से तरानेवाला है। **कृष्टीः** सब प्रजाओं को **अभि अस्ति** अभिभूत करनेवाला है। कोई भी उस प्रभु के शासन का उल्लंघन नहीं कर पाता। (२) इस प्रभु के बलों को अपने में धारण करने के लिए आवश्यक है कि हम प्राणों की साधना करें। ये **मरुत्** प्राण ही हमें प्रभु के समीप प्राप्त करानेवाले हैं। प्राणसाधना से चित्तवृत्ति का निरोध होकर इस चित्त का प्रभु में स्थापन होता है। इस निरुद्ध मन से ही प्रभु का साक्षात्कार व सम्पर्क प्राप्त

होता है 'मनीषिणो मनसा पृच्छतेदु'। प्रभु के साथ सम्पर्क होने पर हम भी 'तुविद्युम्न तुविराधम्' बनेंगे। उसी समय शत्रुओं का पराभव करके हम भवसागर को तैरनेवाले बनेंगे।

भावार्थ—प्राणसाधना द्वारा हम निरुद्ध चित्तवृत्तिवाले बनकर प्रभुसम्पर्क को प्राप्त करें।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—स्वराट्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

'व्यापक विभूतियोंवाले' प्रभु

आ यात्विन्द्रो दिव आ पृथिव्या मक्षू समुद्रादुत वा पुरीषात्।
स्वर्णरादवसे नो मरुत्वान्परावतो वा सदनादृतस्य ॥ ३ ॥

(१) **इन्द्रः**-वे परमैश्वर्यशाली प्रभु **दिवः**=द्युलोक से **आयातु**=हमें प्राप्त हों। जब हम शरत् की अमावस्या के दिन द्युलोक को अनन्त नक्षत्रों से जगमगाता देखते हैं, तो उस रचयिता का स्मरण हो उठना स्वाभाविक है। यही द्युलोक से प्रभु की प्राप्ति का भाव है। ये प्रभु **पृथिव्याः आ (यातु)**-पृथिवी से हमें प्राप्त हों। विविध वनस्पतियों को जन्म देनेवाली यह पृथिवी सचमुच प्रभु का स्मरण कराती है। अनन्त प्रकार के फूलों की गन्ध उस प्रभु की गन्ध क्यों न देगी! **मक्षू**=शीघ्र ही वे प्रभु **समुद्रात्** इस अन्तरिक्ष से हमें प्राप्त हों **उत वा**-और अथवा वे प्रभु **पुरीषात्**-अन्तरिक्षस्थ मेघों के जल से हमें प्राप्त हों। अन्तरिक्ष में गति करते हुए मेघ एक सहृदय पुरुष को प्रभु का स्मरण कराते ही हैं। इन से बरसनेवाला जल सारी पृथिवी को आप्लावित करता हुआ हृदय में प्रभु के भाव को जागरित करता है। (२) वह **मरुत्वान्**=मरुतों (प्राणों) वाले प्रभु, प्राणसाधना द्वारा साक्षात्कार करने योग्य प्रभु, **अवसे**-हमारे रक्षण के लिए हमें **स्वर्णराद्**='स्वः' प्रकाशमान सूर्य है 'नर' नेता जिसका, उस द्युलोक से प्राप्त हों। **वा**=अथवा **परावतः**=अत्यन्त सुदूर **ऋतस्य सदनात्**-ऋत के सदन से-उदक के स्थान अन्तरिक्ष से हमें प्राप्त हों। द्युलोकस्थ सूर्य अपनी किरणों द्वारा हमारे में प्राणशक्ति का संचार करता हुआ हमारा रक्षण करता है। इसी प्रकार अन्तरिक्ष से प्राप्त होनेवाले ये मेघजल हमारे लिए अमृतत्व (नीरोगता) को प्राप्त कराते हैं। इस प्रकार प्रभु सूर्य व वृष्टिजलों द्वारा हमारा रक्षण करते हैं। इस सारी प्रक्रिया का विचार करते हुए उस प्रभु की अद्भुत महिमा का ध्यान आता है, यही प्रभु की प्राप्ति है।

भावार्थ—'द्युलोक, अन्तरिक्ष, पृथिवी व मेघस्थ जल' ये सब हमें प्रभुमहिमा का स्मरण कराते हैं।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

शक्ति व वृद्धि का साधनभूत 'धन'

स्थूरस्य रायो बृहतो य ईशे तमु ष्टवाम विदथेष्विन्द्रम्।
यो वायुना जयति गोमतीषु प्र धृष्णुया नयति वस्यो अच्छ ॥ ४ ॥

(१) हम **तं इन्द्रम्**-उस परमैश्वर्यशाली प्रभु को **उ**=ही **विदथेषु**=ज्ञानयज्ञों में **स्तवाम्** स्तुत करते हैं, **यः**-जो **स्थूरस्य**-(huge) बहुत अधिक अथवा शक्तिसम्पन्न **बृहतः**-वृद्धि के कारणभूत **रायः** ऐश्वर्य के **ईशे**-स्वामी हैं। हम प्रभु का स्तवन करते हैं, तो प्रभु हमें उस ऐश्वर्य को प्राप्त कराते हैं, जो कि हमारी शक्ति व वृद्धि का कारण बनता है। (२) उस प्रभु का हम स्तवन करते हैं **यः** जो कि **वायुना** प्राणों द्वारा **गोमतीषु**-प्रशस्त इन्द्रियोंवाले संग्रामों में **जयति**-विजय प्राप्त करता है। काम-क्रोध-लोभ के साथ चलनेवाले अध्यात्मसंग्राम में प्रभु ही हमें इस प्राणसाधना द्वारा विजय प्राप्त कराते हैं। इस विजय के परिणामस्वरूप सब इन्द्रियाँ प्रशस्त बनती हैं। इसलिए इन

संग्रामों को 'गोमती' नाम दिया गया है। **धृष्णुया**-शत्रुधर्षक बल द्वारा वे प्रभु **वस्यः अच्छ** उत्कृष्ट वसुओं (धनों) की ओर **प्र नयति**-हमें ले चलते हैं। काम क्रोध आदि शत्रुओं का धर्षण करके ही हम वास्तविक धन (वसु) को प्राप्त करते हैं।

भावार्थ—प्रभु ही हमें शक्ति व वृद्धि के साधनभूत धन को प्राप्त कराते हैं। प्रभु ही हमें आध्यात्मिक संग्राम में विजयी बनाकर वसुमान् बनाते हैं।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

उपासना के लाभ

उप यो नमो नमसि स्तभायन्नियर्ति वाचं जनयन्यजध्यै।
ऋञ्जसानः पुरुवार उक्थैरेन्द्रं कृण्वीत सदनेषु होता॥ ५॥

(१) **यः**-जो प्रभु **नमसि** हमारे नमन करने पर नम्रतापूर्वक उपासना करने पर **नमः** हमारी नम्रता की भावना को **उप स्तभायन्**-थामते हैं, अर्थात् हम प्रभु का उपासन करते हैं, तो प्रभु हमें नम्र बनाए रखते हैं। जो प्रभु **यजध्यै**-यज्ञ करने के लिए **इयर्ति**-हमें प्रेरित करते हैं, **वाचं जनयन्** वेदवाणी को हमारे में प्रादुर्भूत करते हैं। वस्तुतः वेदवाणी द्वारा ही प्रभु हमें यज्ञों की प्रेरणा देते हैं। (२) वे प्रभु **ऋञ्जसानः**-हमारे जीवनों को सद्गुणों से अलंकृत करते हैं (ऋञ्ज् to decorate)। **उक्थैः**-स्तोत्रों द्वारा **पुरुवारः**-अत्यन्त वरण के योग्य हैं। इस प्रभु को **होता** त्यागपूर्वक अदन करनेवाला व्यक्ति **सदनेषु**-यज्ञगृहों में **आकृण्वीत**-उपासित करे। इस प्रभु की उपासना ने ही तो हमारे जीवन को सुभूषित करना है।

भावार्थ—हम प्रभु की उपासना करें। प्रभु हमें नम्र बनाएँगे, वेदवाणी द्वारा यज्ञों की प्रेरणा देंगे और हमारे जीवनों को सद्गुणों से मण्डित करेंगे।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

संवरणेषु वह्निः

धिषा यदि धिषण्यन्तः सरण्यान्त्सदन्तो अद्रिमौशिजस्य गोहे।
आ दुरोषाः पास्त्यस्य होता यो नो महान्त्संवरणेषु वह्निः॥ ६॥

(१) **धिषण्यन्तः**-बुद्धि की प्राप्ति की कामना करते हुए **यदि**-यदि **धिषा** (Hymn) स्तोत्रों द्वारा **सरण्यान्** उस प्रभु की ओर गतिवाले होते हैं और **औशिजस्य**-(Devoted to) प्रभुप्राप्ति की प्रबल कामनावाले के **गोहे**-घर में **अद्रिम्**-उस उपासनीय प्रभु का **सदन्तः** उपासन करते हैं उसकी उपासना में बैठते हैं, तो ये प्रभु **आ (यातु)**-अवश्य हमें प्राप्त होते हैं। (२) वे प्रभु हमें प्राप्त होते हैं, जो कि **दुरोषाः**-(दुर-उष् दाहे) सब बुराइयों को दग्ध करनेवाले हैं। **पास्त्यस्य**-शरीरगृह को उत्तम बनानेवाले के **होता**-सब कुछ देनेवाले हैं। **यः**-जो **नः** हमारे लिए **महान्** पूजनीय हैं। **संवरणेषु**-शत्रु सम्बन्धी निरोधों में काम-क्रोध आदि के आक्रमणों में **वह्निः**-हमें पार पहुँचानेवाले हैं। प्रभु ही हमारे लिए इन शत्रुओं का पराजय करते हैं।

भावार्थ—बुद्धिप्राप्ति की कामना से हम प्रभुस्तवन करते हुए प्रभु की ओर चलें सदा प्रभुप्राप्ति की प्रबल कामनावाले होकर प्रभु की उपासना करें। प्रभु हमारी सब बुराइयों को दग्ध कर देंगे और हमें शत्रुओं से पार ले जानेवाले होंगे।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—भुरिक्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

प्रभु से प्राप्त शक्ति के जीवन में परिणाम

स॒त्रा यदीं॑ भार्व॒रस्य॒ वृष्णः॒ सिष॑क्ति॒ शुष्मः॑ स्तुव॒ते भरा॑य।
गुहा॒ यदी॑मौशि॒जस्य॒ गोहे॒ प्र यद्धि॒ये प्राय॑से॒ मदा॑य ॥ ७ ॥

(१) **यद्**-जब **ईम्**-निश्चय से **भार्वरस्य**=सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का भरण करनेवाले **वृष्णः**-शक्तिशाली प्रभु का **शुष्मः**=बल **स्तुवते**=स्तुति करनेवाले के लिए **सिषक्ति**-सेवन करता है, अर्थात् जब स्तोता को प्रभु का बल प्राप्त होता है, तो **सत्रा**=सचमुच **भराय**=यह उसके भरण के लिए होता है। (२) **यद्**-जब **ईम्**-निश्चय से **औशिजस्य**=प्रभुप्राप्ति की प्रबल कामनावाले के **गोहे**-इस शरीरगृह में **गुहा**-हृदयरूप गुहा में प्रभु का निवास होता है, तो प्रभु इस औशिज के (भराय-) भरण के लिए होते हैं। **यत्**-जो **प्रधिये**=प्रकृष्ट बुद्धि के लिए होते हैं। 'प्र अयसे' प्रकृष्ट गमन के लिए होते हैं और **मदाय**-हर्ष के लिए होते हैं।

भावार्थ—स्तवन से प्राप्त बल हमारा भरण करता है-यह हमारी बुद्धि, गति व हर्ष के लिए होता है।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

अविद्या का विनाश

वि यद्वरां॑सि॒ पर्व॑तस्य वृ॒ण्वे पयो॑भिर्जि॒न्वे अ॒पां जवां॑सि।
वि॒दद्गौ॒रस्य॑ गव॒यस्य॒ गोहे॒ यदी॒ वाजा॑य सु॒ध्यो॒३॒॑ वह॑न्ति ॥ ८ ॥

(१) **यद् ई**=जब निश्चय से **सुध्यः**=उत्तम ध्यानशील पुरुष **वाजाय**-शक्तिप्राप्ति के लिए **वहन्ति**=उस प्रभु को धारण करते हैं, तो वे प्रभु (क) **यत्**-जो **पर्वतस्य**=अविद्यापर्वत के **वरांसि**-आवरणों को **विवृण्वे**=खोल डालते हैं-अविद्या के आवरणों को हटा देते हैं। (ख) **पयोभिः**-वेदवाणीरूप गौ के ज्ञानदुग्धों से **अपाम्**-कर्मों के **जवांसि**-वेगों को **जिन्वे**-प्रीणित करते हैं ज्ञान देकर हमारे कर्मों के वेग को बढ़ा देते हैं। (ग) और हमें **गौरस्य**-शुद्ध हृदयवाले **गवयस्य**-(गौः-इन्द्रियाँ) उत्तम इन्द्रियोंवाले के **गोहे**=घर में **विदत्**-प्राप्त कराते हैं, अर्थात् वे प्रभु हमें शुद्ध हृदय व प्रशस्तेन्द्रिय बनाते हैं। यह सब सत्य है (सत्रा) (२) उपासना के तीन लाभ हैं, (क) अविद्या पर्वत का विदारण होता है, (ख) ज्ञान के अनुसार कर्मशीलता की वृद्धि होती है और (ग) हम शुद्धहृदय प्रशस्तेन्द्रिय बनते हैं।

भावार्थ—समझदार पुरुष शक्तिप्राप्ति के लिए प्रभु की उपासना करते हैं। इससे अज्ञान नष्ट होता है, ज्ञानपूर्वक कर्म की वृत्ति बढ़ती है और हम शुद्धहृदय प्रशस्तेन्द्रिय बनते हैं।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

सब धनों के दाता प्रभु

भ॒द्रा ते॒ हस्ता॒ सुकृ॑तो॒त पा॒णी प्र॑य॒न्तारा॑ स्तुव॒ते राध॑ इन्द्र।
का ते॒ निष॑त्तिः॒ किमु॒ नो म॑मत्सि॒ किं नोदु॑दु हर्ष॑से॒ दात॒वा उ॑ ॥ ९ ॥

(१) हे **इन्द्र**-परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **ते हस्ता**-आपके हाथ **भद्रा**-हमारा कल्याण करनेवाले हैं **उत**=और **सुकृता**-हमारे लिए शुभ ही शुभ करनेवाले हैं। आपके **पाणी**-ये रक्षक हाथ **स्तुवते**-स्तोता के लिए **राधः प्रयन्तारा**=कार्यसाधक धनों के देनेवाले हैं। (२) हे प्रभो! **ते**

निषत्तिः आपकी उपासना **का** अद्भुत आनन्द देनेवाली है। आप **नः** हमें **उ** निश्चय से **किं ममत्सि** क्या ही अद्भुत आनन्द देते हैं। **उत् उत् उ** और निश्चय से **नः** हमारे लिए **दातवा उ** देने के लिए ही **किं हर्षसे** आप क्या ही आनन्दित होते हैं? पिता पुत्र के लिए आवश्यक धनों प्राप्त कराता हुआ आनन्दित होता ही है।

भावार्थ—प्रभु हमारा कल्याण करते हैं। हमारे लिए आवश्यक धनों को देते हैं। प्रभु की उपासना हमारे लिए आनन्द का कारण बनती है।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—भुरिक्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

दिव्यरक्षण की प्राप्ति

एवा वस्व इन्द्रः सत्यः सम्राड्ढन्ता वृत्रं वरिवः पूरवे कः।
पुरुष्टुत क्रत्वा नः शग्धि रायो भक्षीय तेऽवसो दैव्यस्य॥ १०॥

(१) **एवा** इस प्रकार **इन्द्रः** वे परमैश्वर्यशाली प्रभु **वस्वः** सब वसुओं के **सम्राट्** सम्राट हैं। **सत्यः** सत्यस्वरूप हैं। **वृत्रं हन्ता**-उपासक की वासना को विनष्ट करनेवाले हैं। **पूरवे** अपना पालन व पूरण करनेवाले के लिए **वरिवः** सब वरणीय धनों को **कः** करनेवाले हैं। (२) हे **पुरुष्टुत** जिन आपकी स्तुति पालन व पूरण करनेवाली है, वे आप **नः** हमारे लिए **क्रत्वा** (क्रतुना) यज्ञों के हेतु से **रायः शग्धि** धनों को दीजिए। **ते** आपके **दैव्यस्य** अलौकिक सत्र सूर्य, चन्द्र, तारे आदि देवों से प्राप्त होनेवाले **अवसः** रक्षण का **भक्षीय** मैं सेवन करनेवाला बनूँ। आपके दिव्यरक्षण का पात्र बनूँ।

भावार्थ—प्रभु ही सब ऐश्वर्यों के स्वामी हैं। वे हमें यज्ञों के लिए धनों को प्राप्त कराते हैं। प्रभु ही हमारी वासनाओं को विनष्ट करते हैं और हमें दिव्यरक्षण प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—निचृत्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

स्तोता के लिए प्रेरणा देनेवाले प्रभु

नू ष्टुत इन्द्र नू गृणान इषं जरित्रे नद्यो३ न पीपेः।
अकारि ते हरिवो ब्रह्म नव्यं धिया स्याम रथ्यः सदासाः॥ ११॥

मन्त्र की व्याख्या २०.११ पर द्रष्टव्य है।

सम्पूर्ण सूक्त इस बात का प्रतिपादन करता है कि प्रभु उन्नति के लिए आवश्यक धन देते हैं। इसी उन्नति के उद्देश्य से प्रभु हमें शक्तियों को प्राप्त कराते हैं—

तृतीयोऽनुवाकः

[२२] द्वाविंशं सूक्तम्

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

ज्ञान-स्तुतिवृत्ति-दृढ़ शरीर

यन्न इन्द्रो जुजुषे यच्च वष्टि तन्नो महान्करति शुष्म्या चित्।
ब्रह्म स्तोमं मघवा सोममुक्था यो अश्मानं शवसा बिभ्रदेति॥ १॥

(१) **यत्** जब **इन्द्रः**-वह परमैश्वर्यशाली प्रभु **नः**-हमारे प्रति **जुजुषे** प्रीतिवाला होता है, अर्थात् जब हम उसके निर्देशों के अनुसार चलते हुए उसे प्रसन्न कर पाते हैं, **यत् च वष्टि** और

जब वे प्रभु चाहते हैं, **तत्**-तब वे **शुष्मी**-बलवान् **महान्**-पूज्य प्रभु **नः** हमारे लिए **चित्** निश्चय से **ब्रह्म** ज्ञान को तथा **स्तोमम्** इन स्तुतिमन्त्रों को **आकरति**-सर्वथा करते हैं। हमें इनका ज्ञान देते हैं। इनके अनुसार आचरण करते हुए हम निरन्तर आगे बढ़ते हैं। (२) **मघवा** वे सर्वेश्वर्योंवाले प्रभु **सोमम्**-सोम को वीर्यशक्ति को तथा इसके रक्षण के साधनभूत **उक्था**-स्तुति वचनों को हमारे लिए करते हैं। इन स्तुति वचनों से हम वासनाओं से बचे रहकर सोम का रक्षण करनेवाले होते हैं। हम उस प्रभु का स्मरण करते हैं, जो कि **अश्मानम्**-इस वज्रतुल्य दृढ़ शरीर को **शवसा**-बल के साथ **बिभ्रत्**-धारण करते हुए **रंति**=हमें प्राप्त होते हैं। हम प्रभु का स्मरण करेंगे तो हमारा शरीर वज्रतुल्य दृढ़ शक्तिशाली बनेगा।

भावार्थ—हम प्रभु के प्रिय बनें। प्रभु हमें ज्ञान, स्तुति की वृत्ति व दृढ़शरीर प्राप्त कराएँगे।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

चतुरश्रि वज्र (ऋग्-यजु-साम-अथर्व रूप ज्ञानवज्र)

वृषा वृषन्धिं चतुरश्रिमस्यन्नुग्रो बाहुभ्यां नृतमः शचीवान्।
श्रिये परुष्णीमुषमाण ऊर्णां यस्याः पर्वाणि सख्याय विव्ये ॥ २ ॥

(१) वे प्रभु **वृषा**-शक्तिशाली हैं। 'चतुर् अश्रिम्'=ऋग् यजु साम अथर्व रूप चार धाराओंवाले **वृषन्धिम्** शक्ति का आधान करनेवाले वज्र को **अस्यन्** शत्रुओं पर फेंकते हुए वे प्रभु **उग्रः** अत्यन्त तेजस्वी हैं। प्रभु हमारे काम क्रोध आदि शत्रुओं पर इस ज्ञानरूप वज्र को प्रहृत करते हैं। यह ज्ञानरूप वज्र 'ऋग् यजु साम अथर्व' रूप चार धाराओंवाला है। इससे चारों दिशाओं से आक्रमण करनेवाले शत्रुओं का विनाश होता है। ये प्रभु **बाहुभ्याम्**=अभ्युदय व निःश्रेयस के लिए किये गये प्रयत्नों द्वारा (बाह प्रयत्ने) **नृतमः**-हमें अत्यन्त आगे ले चलनेवाले हैं। **शचीवान्**-ये शक्ति व प्रज्ञानवाले हैं। हमें शक्ति प्राप्त कराते हैं और हमारे प्रज्ञान को सिद्ध करते हैं। (२) ये प्रभु **श्रिये**-हमारे जीवन की शोभा के लिए **परुष्णीम्**-पञ्चपर्वोंवाली अविद्या को **उषमाणः** दग्ध करनेवाले हैं। उस परुष्णी को प्रभु दग्ध करते हैं, जो कि **ऊर्णाम्** हमारे ज्ञान पर परदे के रूप में आ जाती है-हमारे ज्ञान को ढक देती है। उस परुष्णी को प्रभु दग्ध करते हैं, **यस्याः**-जिसके **पर्वाणि**=पर्वों को-जोड़ों को **सख्याय** जीव की प्रभु के साथ मित्रता की सिद्धि के लिए **विव्ये** सीं डालते हैं (Sew)। इस प्रकार प्रभु अविद्या को संवृत करके हमारे लिए ज्ञानप्रकाश को विवृत करते हैं। इस ज्ञानप्रकाश को प्राप्त जीव ही प्रभु का मित्र बनता है।

भावार्थ—प्रभु हमारे अविद्यापर्वत को विदग्ध करके हमें उन्नतिपथ पर ले चलते हैं।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

देवतमः देवः (देवाधिदेव)

यो देवो देवतमो जायमानो महो वाजेभिर्महद्भिश्च शुष्मैः।
दधानो वज्रं बाह्वोरुशन्तं द्याममेन रेजयत्प्र भूम ॥ ३ ॥

(१) **यः**-जो प्रभु **देवः**-प्रकाशमय हैं, **देवतमः** सर्वाधिक प्रकाशमय हैं। जो **वाजेभिः**-अपनी गतियों द्वारा **जायमानः** सर्वत्र प्रादुर्भूत हो रहे हैं-सभी जगह प्रभु की रचना का महत्त्व प्रकट हो रहा है। **च**-और जो प्रभु **महद्भिः शुष्मैः**-महान् बलों से **महः**-महान् व पूज्य हैं। (२) ये प्रभु **बाह्वोः** भुजाओं में **उशन्तम्**-चमकते हुए **वज्रम्**=वज्र को **दधानः**-धारण किये हुए हैं। ये वज्रधारी प्रभु **अमेन** बल से **द्याम्**-द्युलोक को तथा **भूम**=इस पृथिवीलोक को **प्र रेजयत्**-अत्यन्त

दीप्त करनेवाले होते हैं। ये सारा द्युलोक तथा पृथ्वीलोक प्रभु की शक्ति से ही शक्ति-सम्पन्न हो रहा है उसी से दीप्त हो रहा है 'तस्य भासा सर्वमिदं बिभाति'।

भावार्थ—प्रभु ही महान् देव हैं। प्रभु ही सारे ब्रह्माण्ड का शासन कर रहे हैं। वे ही सम्पूर्ण लोकों को दीप्त करनेवाले हैं।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

सर्वशासक प्रभु

विश्वा रोधांसि प्रवतश्च पूर्वीर्द्यौर्ऋष्वाज्जनिमन्रेजत क्षाः।
आ मातरा भरति शुष्म्या गोर्नृवत्परिज्मन्नोनुवन्त वाताः॥ ४॥

(१) **विश्वा रोधांसि**=सब उन्नत प्रदेश, अर्थात् पर्वत आदि **च** तथा **पूर्वीः**-ये अनेक **प्रवतः** निम्न प्रदेश, अर्थात् समुद्र आदि **द्यौः**-द्युलोक **क्षाः**-यह पृथिवीलोक **ऋष्वात् जनिमन्** उस महान् प्रभु से प्रादुर्भूत होने पर **रेजत**=दीप्त हो उठते हैं। प्रभु की दीप्ति से ये सब दीप्त हो रहे हैं। क्या पर्वतों में, क्या समुद्र में, क्या द्युलोक में और क्या पृथिवीलोक में सर्वत्र उस प्रभु की महिमा का प्रकाश है। (२) शुष्मी वह बलवान् प्रभु ही **आ गोः** इस समन्तात् गमनशील सूर्य के **मातरा** माता पितृभूत इन द्यावापृथिवी को **आभरति**-सब प्रकार से धारित व पोषित करते हैं। **नृवत्**=मनुष्यों की तरह **वाताः** ये वायुएँ भी उस प्रभु से ही प्रेरित हुई हुई **परिज्मन्**-अन्तरिक्ष में **नोनुवन्त**-शब्दायमान हो रही हैं। मानो उस प्रभु का ही गायन कर रही हों। प्रभु मनुष्यों को भी प्रेरित कर रहे हैं 'भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया'। वायु आदि सब देव भी उस प्रभु से प्रेरित हो रहे हैं। इन सब में प्रभुमहिमा का ही प्रकाश हो रहा है।

भावार्थ—प्रभु ही सब लोकों को गति दे रहे हैं।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

प्रभु के महान् कर्म

ता तू त इन्द्र महतो महानि विश्वेष्वित्सवनेषु प्रवाच्या।
यच्छूर धृष्णो धृषता दधृष्वानहिं वज्रेण शवसाविवेषीः॥ ५॥

(१) हे **इन्द्र** सब बल के कर्मों को करनेवाले प्रभो! **महतः**-महान् **ते**-आपके **ता** वे कर्म **तु** तो **महानि** महान् हैं। **इत्**-निश्चय से आपके वे महान् कर्म **विश्वेषु सवनेषु**-सब यज्ञों में **प्रवाच्या**-प्रकर्षेण शंसनीय होते हैं। (२) हे **धृष्णो** शत्रुओं का धर्षण करनेवाले **शूर** शत्रुओं का शीर्ण करनेवाले इन्द्र! **दधृष्वान्**-सब लोकों का धारण करनेवाले आप **धृषता वज्रेण** इस धर्षण करनेवाले वज्र द्वारा **शवसा**=अपने बल से **अहिम्**-इस आहन्ता वृत्र को इस विनाशक वासना को **अविवेषीः**-(वधकर्मा) समाप्त कर देते हैं। प्रभु की शक्ति से ही वासना का विध्वंस होता है। इस वासना के विध्वंस द्वारा ही प्रभु सब लोकों का धारण करते हैं।

भावार्थ—प्रभु के कर्म महान् व स्तुत्य हैं। प्रभु ही हमारे धारण के लिए वासना का विध्वंस करते हैं।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

गौवें व नदियाँ

ता तू ते सत्या तुविनृम्ण विश्वा प्र धेनवः सिस्रते वृष्ण ऊध्नः।
अधा ह त्वद् वृषमणो भियानाः प्र सिन्धवो जवसा चक्रमन्त॥ ६॥

(१) हे **तुविनृम्ण**=अनन्त बलवाले प्रभो! **ते**=आपके **तु**=तो **ता**=वे **विश्वा**=सब कर्म **सत्या**=सत्य हैं। **वृष्णः**=शक्तिशाली आप से **भियानाः**=भयभीत हुई हुई ही **धेनवः**=गायें **ऊध्नः**=अपने ऊधसों से **प्रसिस्रते**=दूध को प्रकर्षेण स्नुत करती हैं। प्रभु की व्यवस्था से ही ये गौवें दूध दे रही हैं। (२) **अधा ह**=और निश्चय से **वृषमणः**=सब काम्य पदार्थों के वर्षणपरक मनवाले **त्वद्**=आप से **भियानाः**=भयभीत होते हुए ही **सिन्धवः**=ये समुद्र **जवसा**=वेग से **प्रचक्रमन्त**=प्रकृष्ट गतिवाले होते हैं। प्रजापालन के हेतु से होनेवाले ये सब कार्य प्रभु के शासन से ही हो रहे हैं। हमारे पीने के लिए गायें दूध दे रही हैं, नदियाँ जलों को प्राप्त करा रही हैं। इन दूध व जलों के सेवन से ही हमें महान् बल प्राप्त होता है हम भी 'तुविनृम्ण' बनते हैं।

भावार्थ—प्रभु ने हमारे पान के लिये दूध व जल की व्यवस्था की है। यही हमारी शक्ति के वर्धन का कारण बनती है।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

ज्ञाननदी का पुनः प्रवाह

अत्राह ते हरिवस्ता उ देवीरवोभिरिन्द्र स्तवन्त स्वसारः।
यत्सीमनु प्र मुचो बद्बधाना दीर्घामनु प्रसितिं स्यन्दयध्यै॥ ७॥

(१) हमारे जीवन में ज्ञाननदियों का प्रवाह वृत्र (=वासना) से बद्ध हो जाता है। प्रभुकृपा से ही वह वृत्रबन्धन टूटता है और ज्ञाननदियों का प्रवाह फिर से बहने लगता है। इस प्रवाह के चलने पर हम प्रभु का स्तवन करनेवाले बनते हैं। हे **इन्द्र**=वृत्र (वासना) का विनाश करनेवाले प्रभो! **यत्**=जब **सीम्**=निश्चय से **बद्बधानाः**=वासना से बद्ध की जाती हुई इन ज्ञाननदियों को **अनुप्रमुचः**=आप अनुक्रमेण मुक्त करते हैं, **दीर्घां प्रसितिं अनु**=एक लम्बे बन्धन (रोक) के बाद इन्हें फिर **स्यन्दयध्यै**=प्रवाहित करनेवाले होते हैं। **अत्र अह**=इस समय निश्चय से हे **हरिवः**=प्रशस्त इन्द्रियाश्वोंवाले-इन अश्वों को हमें प्राप्त करानेवाले प्रभो! **ताः देवीः**=वे दिव्य ज्ञानजलोंवाली **स्वसारः**=आत्मतत्त्व की ओर ले चलनेवाली (स्व+सृ) ज्ञाननदियाँ **अवोभिः**=रक्षणों के हेतु से **ते उ स्तवन्त**=आपका ही स्तवन कराती हैं। (२) वासना का परदा पड़ जाने पर ज्ञान आवृत हो जाता है-हम प्रभु को भूल जाते हैं। प्रभुकृपा से जब यह आवरण हटता है, तभी ज्ञान का प्रवाह ठीक से फिर बहने लगता है। इस ज्ञानप्रवाह में हमारा जीवन शुद्ध हो जाता है और हम प्रभु का दर्शन करने योग्य बनते हैं। हमारी चित्तवृत्ति संसार के विषयों में न फँसकर फिर से प्रभुप्रवण हो उठती है।

भावार्थ—वासना के बन्धन से बद्ध हो गई ज्ञाननदी को प्रभु ही, वासना-विनाश द्वारा, फिर से प्रवाहित करते हैं।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—भुरिक्पङ्क्तिः॥ स्वरः—पञ्चमः॥

शशमान की शमी-शुशुमान की शक्ति

पिपीळे अंशुर्मद्यो न सिन्धुरा त्वा शमी शशमानस्य शक्तिः।
अस्मद्र्यक्शुशुचानस्य यम्या आशुर्न रश्मिं तुव्योजसं गोः॥ ८॥

(१) हे प्रभो! **अंशुः**=ज्ञान रश्मियों को प्राप्त करानेवाला यह सोम **पिपीडे**=(Cover, wrap) हमारे से शरीर में ही संवृत (सुरक्षित) किया गया है। सोम को हमने शरीर में व्याप्त करने का प्रयत्न किया है। यह शरीर में ही सोम का प्रवाह **मद्यः**=हर्षजनक **सिन्धुः न**=नदी के

प्रवाह के समान है। (२) हे प्रभो! इस प्रकार सोम को शरीर में सुरक्षित करने पर **शशमानस्य** आपका स्तवन करनेवाले का **शमी**-कर्म तथा **शुशुचानस्य** अपने को पवित्र करने वाले की **शक्तिः** शक्ति **त्वा** आपको **अस्मद्र्यक् आयम्याः** हमारी ओर बाँधनेवाली हो। सोमरक्षण से मैं सदा आपका स्तवन करता हुआ कर्म करूँ तथा अपने को पवित्र बनाता हुआ शक्तिसम्पन्न बनूँ। ऐसा बनकर ही मैं आपको प्राप्त करनेवाला हो सकूँगा। इस प्रकार मैं आपको अपने में बाँधनेवाला बनूँ, **न** जैसे कि **आशुः** एक स्फूर्तिसम्पन्न नियन्ता **गोः** शीघ्रगामी अश्व के **तुव्योजसम्**-बड़े बलवाली बहुत दृढ़, **रश्मिम्** लगाम को संयत करता है। प्रभु का सदा स्मरण बनाये रखने के लिए सदा सावधान रहने की आवश्यकता है। जरा प्रमत्त हुए और प्रभु से दूर हुए उसी प्रकार जैसे कि सारथि जरा प्रमत्त हुआ और लगाम की पकड़ ढीली हुई।

भावार्थ—हम सोम का रक्षण करें। इससे हम ज्ञान प्राप्त करके प्रभुस्मरणपूर्वक कर्म करेंगे तथा पवित्र जीवनवाले होकर शक्तिशाली होंगे। ऐसे बनकर ही हम प्रभुप्राप्ति के पात्र होंगे।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—स्वराट्पङ्क्तिः॥ स्वरः—पञ्चमः॥

वासनाविनाशक बल

अस्मे वर्षिष्ठा कृणुहि ज्येष्ठा नृम्णानि सत्रा सहुरे सहांसि।
अस्मभ्यं वृत्रा सुहनानि रन्धि जहि वधर्वनुषो मर्त्यस्य॥ ९॥

(१) हे **सहुरे** शत्रुओं का मर्षण करनेवाले प्रभो! **अस्मे** हमारे लिए **वर्षिष्ठा** प्रवृद्ध **ज्येष्ठा** प्रशस्त **सहांसि**-शत्रुओं को कुचलनेवाले **नृम्णानि** बलों को **सत्रा** सदा **कृणुहि** करिए। प्रभु हमें अत्यन्त प्रशस्त बलों को प्राप्त कराएँ, उन बलों को जिनसे कि हम काम क्रोध आदि शत्रुओं को कुचल सकें। (२) हे प्रभो! आप **अस्मभ्यम्**-हमारे लिए **वृत्रा** इन ज्ञान की आवरणभूत वासनाओं को **सुहनानि** सुगमता से नष्ट करने योग्य रूप में **रन्धि** (वशं नय) वशीभूत करिए। हम इन वासनाओं को इस प्रकार वश में करें कि वे हमारे से सुगमता से नष्ट की जा सकें। हे प्रभो! आप **वनुषः मर्त्यस्य** हिंसक मनुष्य के **वधः** आयुध को **जहि** नष्ट करिए। हम हिंसक मनुष्य के आयुध का शिकार न हो जाएँ।

भावार्थ—प्रभु हमें वह बल दें, जिससे कि हम वासना को विनष्ट कर सकें।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

चित्र वाज=ज्ञानयुक्त बल

अस्माकमित्सु शृणुहि त्वमिन्द्रास्मभ्यं चित्राँ उप माहि वाजान्।
अस्मभ्यं विश्वा इषणः पुरन्धीरस्माकं सु मघवन्बोधि गोदाः॥ १०॥

(१) हे **इन्द्र** परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **त्वम्** आप **इत्** निश्चय से **अस्माकम्** हमारी प्रार्थना को **सुशृणुहि** अच्छी प्रकार सुनिए। हम इस योग्य हों कि हमारी प्रार्थना आप से सुनी जाये। आप **अस्मभ्यम्** हमारे लिए **चित्रान्** अद्भुत **वाजान्** बलों को **उपमाहि** दीजिये। 'चित्रान्' का भाव 'चित्+र' 'ज्ञान को देनेवाले' यह भी है। हमारे बल ज्ञान से युक्त हों। (२) आप **अस्मभ्यम्**-हमारे लिए **विश्वाः**-सब **पुरन्धीः** पालक व पूरक बुद्धियों को **इषणः** प्रेरित करिए। हमें वह बुद्धि प्राप्त हो, जो कि हमें पालनात्मक व पूरणात्मक कर्मों में लगाये रखे। हे **मघवन्** परमैश्वर्यवाले प्रभो! आप **अस्माकम्** हमारे **गोदाः** उत्तम इन्द्रियों व ज्ञान की वाणियों को देनेवाले **सु बोधि** अच्छी प्रकार (भव) होइये। आपकी कृपा से हमें उत्तम इन्द्रियाँ व ज्ञान

की वाणियाँ प्राप्त हों।

भावार्थ—प्रभु हमें ज्ञान व शक्ति दें, उत्तम बुद्धि दें-उत्तम इन्द्रियाँ व ज्ञान की वाणियाँ प्राप्त कराएँ।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—निचृत्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

ज्ञानरूप वज्र

नू ष्टुत इन्द्र नू गृणान इषं जरित्रे नद्यो३ न पीपेः।
अकारि ते हरिवो ब्रह्म नव्यं धिया स्याम रथ्यः सदासाः॥ ११ ॥

मन्त्र की व्याख्या १९.११ पर द्रष्टव्य है।

सूक्त का भाव यही है कि प्रभु हमें ज्ञानरूप चार धाराओंवाला वज्र प्राप्त कराते हैं। यह वज्र चतुर्दिक् आक्रमणों से हमारा रक्षण करता है। अगले सूक्त में भी ज्ञानधन की प्राप्ति का उल्लेख है—

[२३] त्रयोविंशं सूक्तम्

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः ॥

पवित्र-अन्न, पवित्र धन

कथा महामवृधत्कस्य होतुर्यज्ञं जुषाणो अभि सोममूधः।
पिबन्नुशानो जुषमाणो अन्धो ववक्ष ऋष्वः शुचते धनाय॥ १ ॥

(१) **कस्य होतुः**=किस होता के **यज्ञं जुषाणः**-यज्ञ से प्रीणित होते हुए **कथा** किस अद्भुत प्रकार से **महाम्**-(मह पूजायाम्) इस पूजा की वृत्तिवाले होता को **अवृधत्**-वे प्रभु बढ़ाते हैं। यह उपासक **सोमममभि** सोमशक्ति का लक्ष्य करके शरीर में सोमोत्पादन के निमित्त **ऊधः** गौ के ऊधस् से प्राप्य दूध को **पिबन्**=पीता है और **उशानः**=चाहता हुआ **अन्धः**-सोम्य अन्न का **जुषमाणः**-सेवन करता है। यहाँ दूध के स्थान पर ऊधस् शब्द का प्रयोग इस बात का संकेत करता है कि यह ताजा ही दूध-धारोष्ण दूध पीता है तथा 'उशानः' शब्द का प्रयोग इस बात का संकेत कर रहा है कि भोजन को यह प्रसन्नतापूर्वक ही खाता है। इससे इसके अन्दर उत्तम सोम आदि धातुओं का निर्माण होता है। प्रभु इस दूध व उत्तम अन्न द्वारा ही इस उपासक का वर्धन करते हैं। (२) **ऋष्वः**-वे महान् प्रभु इस उपासक को **शुचते**-पवित्र मार्गों से कमाये जानेवाले **धनाय**-धन के लिए ही **ववक्षे**=(वहति-प्रापयति) ले चलते हैं। इस पवित्र धन द्वारा इसका जीवन पवित्र ही बनता है। जीवन में अवनति का कारण अपवित्र आहार व अपवित्र धन ही होता है। आहार व धन की पवित्रता उसके उत्त्थान का साधन बनती है। यह व्यक्ति यज्ञ आदि उत्तम कर्मों से प्रभु को प्रीणित करनेवाला बनता है।

भावार्थ—हम धारोष्ण दूध का प्रयोग करें और सात्त्विक अन्न का प्रसन्नतापूर्वक सेवन करें। पवित्र साधनों से धनार्जन करते हुए यज्ञादि उत्तम कर्म करें। यही प्रभु की प्राप्ति करने का मार्ग है।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः ॥

सुमति की प्राप्ति

को अस्य वीरः सधमादमाप समानंश सुमतिभिः को अस्य।
कदस्य चित्रं चिकिते कदूती वृधे भुवच्छशमानस्य यज्योः॥ २ ॥

(१) **कः** कोई एक **वीरः**-काम क्रोध आदि शत्रुओं का विनाशक व्यक्ति ही **अस्य** इस प्रभु के **सधमादम्** सम्पर्क के आनन्द को **आप**-प्राप्त होता है। प्रभुप्राप्ति का आनन्द वीरपुरुष ही प्राप्त करता है। (२) **कः**-कोई वीर ही **अस्य**-इस प्रभु की **सुमतिभिः** कल्याणी मतियों से **समानंश** (संगच्छते सा०) संगत होता है। उस प्रभु की उपासना करता हुआ उस अन्तःस्थित प्रभुप्रेरणा को सुनता हुआ विरल पुरुष ही सद्बुद्धिवाला बनता है। (३) **कत्** कभी ही **अस्य** इस प्रभु का **चित्रम्**-वह अद्भुत ज्ञानैश्वर्य **चिकिते**-जाना जाता है। **कद्**-कभी ही **ऊती** वे प्रभु रक्षण द्वारा **शशमानस्य** स्तवन करनेवाले **यज्योः**-यज्ञशील पुरुष की **वृधे भुवत्**-वृद्धि के लिए होते हैं। प्रभु ज्ञान देकर ही हमारा रक्षण करते हैं। इस को प्राप्त करने के लिए हमें ध्यान द्वारा प्रभु के सम्पर्क को प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिए।

भावार्थ—हम वीर बनें। ध्यान द्वारा प्रभु के सम्पर्क के आनन्द का अनुभव करें। हमें प्रभु से कल्याणी मति व ज्ञान प्राप्त होगा। यह ज्ञान हमारा रक्षक होगा।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

प्रभु के अद्भुत दान व रक्षण

कथा शृणोति हूयमानमिन्द्रः कथा शृण्वन्नवसामस्य वेद।
का अस्य पूर्वीरुपमातयो ह कथैनमाहुः पपुरिं जरित्रे॥ ३॥

(१) **इन्द्रः** वह परमैश्वर्यशाली प्रभु **हूयमानम्** (आह्वयमानम्) प्रार्थना करते हुए को **कथा** किस अद्भुत प्रकार से **शृणोति**-सुनता है। उपासक की प्रार्थनाओं को पूर्ण करने का प्रभु का प्रकार अद्भुत ही है। **कथा**=किस प्रकार **शृण्वन्** इसकी प्रार्थना को सुनता हुआ **अस्य** इस उपासक के **अवसाम्**-रक्षणों को **वेद**-जानता है, प्रभु के रक्षण का प्रकार भी अद्भुत ही होता है। (२) **काः** क्या ही अद्भुत **ह**-निश्चय से **अस्य**=इस परमात्मा के **पूर्वीः**-पालन व पूरण करनेवाले **उपमातयः**=दान हैं। **कथा**=किस प्रकार **एनम्**-इस परमात्मा को **जरित्रे**-स्तोता के लिए **पपुरि** पालन व पूरण करनेवाला **आहुः**=कहते हैं?

भावार्थ—प्रभु आराधक की प्रार्थना को सुनते हैं। उसका रक्षण करते हैं। उस प्रभु के दान अद्भुत हैं। स्तोता के प्रभु पालक होते हैं।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

द्रविण की प्राप्ति

कथा सबाधः शशमानो अस्य नशदभि द्रविणं दीध्यानः।
देवो भुवन्नवेदा म ऋतानां नमो जगृभ्वाँ अभि यज्जुजोषत्॥ ४॥

(१) **सबाधः** (स बाध) काम क्रोध आदि शत्रुओं का बाधन करनेवाला, **शशमानः** प्रभु का शंसन करनेवाला **दीध्यानः** ज्ञान से दीप्त होनेवाला व्यक्ति **कथा**-किस अद्भुत प्रकार से **अस्य**-इस प्रभु के **द्रविणम्**-धन को **अभिनशत** आभिमुख्येन प्राप्त होता है। (२) **देवः** वे प्रकाशमय प्रभु **मे**-मेरे लिए **ऋतानाम्**-ऋतों के-यज्ञों के व ठीक मार्ग के **नवेदाः** ('न' अतिशादवाश्वी सा०) अतिशयेन ज्ञापक **भुवत्** होते हैं। उस समय ज्ञापक होते हैं, **यत्** जब कि वे हमारे **नमः**-नमन को (नमस्कार को) **जगृभ्वान्**-ग्रहण करनेवाले वे प्रभु **अभि जुजोषत्** हमारे प्रति प्रीति वाले होते हैं। अतिशयेन प्रसन्न हुए-हुए वे प्रभु हमारे लिए ऋत का ज्ञान देनेवाले होते हैं।

भावार्थ—हम प्रभु का शंसन करते हुए प्रभु के धन को प्राप्त करते हैं। हम प्रभु के प्रति नमनवाले होते हैं, प्रभु हमारे लिए ऋत का ज्ञान देते हैं।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—भुरिक्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

प्रभु की मित्रता में काम की पवित्रता

कथा कदस्या उषसो व्युष्टौ देवो मर्तस्य सख्यं जुजोष।
कथा कदस्य सख्यं सखिभ्यो ये अस्मिन्कामं सुयुजं ततस्त्रे ॥ ५ ॥

(१) **कथा**-किस अद्भुत प्रकार से **कत्**-कब **अस्याः उषसः व्युष्टौ**-इस उषा के उदय होते ही उषा के निकलते ही **देवः**=प्रकाशमय प्रभु **मर्तस्य**=मनुष्य की **सख्यं जुजोष**-मित्रता को प्रीतिपूर्वक सेवन करते हैं? **कथा**=किस प्रकार **कत्**=कब **सखिभ्यः**=हम मित्रों के लिए **अस्य सख्यम्**-इसकी मित्रता होती है? (२) **ये**=जो हम लोग **अस्मिन्**-इस प्रभु में **सुयुजम्**-सदा उत्तम कर्मों में लगनेवाली **कामम्**-इच्छा को **ततस्त्रे**-विस्तृत करते हैं (वितेनिरे सा०) जब हम प्रभु की मित्रता को प्राप्त करते हैं, तो हमारे अन्दर सदा 'धर्माविरुद्ध काम' का विस्तार होता है। धर्म के प्रतिकूल सब कामनाएँ विनष्ट हो जाती हैं।

भावार्थ—उषा का उदय होते ही हम प्रभु का स्मरण करें। इससे हमारी इच्छाएँ पवित्र बनेंगी।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—भुरिक्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

प्रभु की मित्रता में

किमादमत्रं सख्यं सखिभ्यः कदा नु ते भ्रात्रं प्र ब्रवाम।
श्रिये सुदृशो वपुरस्य सर्गाः स्वर्१ण चित्रतममिष आ गोः ॥ ६ ॥

(१) **किं आत्**-क्या ही **सखिभ्यः**=हम मित्रों के लिए **सख्यम्**-आपकी मित्रता **अमत्रम्**-शत्रुओं का अभिभव करनेवाली होती है (शत्रूनभिभावुकम् सा०)। **कदा नु**=कब निश्चय से **ते**=आपके **भ्रात्रम्**-भ्रातृत्व को **प्रब्रवाम**-हम कह सकेंगे? (२) **अस्य सुदृशः**-इस उत्तम दर्शनीय प्रभु के **सर्गाः**-उद्योग **श्रिये**-हमारी शोभा की वृद्धि के लिए होते हैं। इस **गोः**-सदा गतिशील प्रभु का **स्वः न**=सूर्य के समान **चित्रतमः**=अत्यन्त अद्भुत दीप्तिवाला **वपुः**=शरीर **आ इषे**=समन्तात्, सब से चाहने योग्य होता है। हम जितना-जितना प्रभु की प्रेरणा में चलेंगे, उतना-उतना ही अधिक और अधिक शोभावाले बन पाएँगे। हम अपने इस शरीर को प्रभु का शरीर बनाएँ। ऐसा करने से यह सूर्य के समान दीप्तिवाला बनेगा। हृदय में प्रभु को आसीन करते ही यह शरीर प्रभु का शरीर बन जाता है।

भावार्थ—प्रभु की मित्रता में हम सब शत्रुओं का अभिभव करनेवाले होंगे। हमारा शरीर सूर्य के समान दीप्तिवाला बनेगा।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः ॥

द्रोहवृत्ति का विनाश

द्रुहं जिघांसन्ध्वरसमनिन्द्रां तेतिक्ते तिग्मा तुजसे अनीका।
ऋणा चिद्यत्र ऋणया न उग्रो दूरे अज्ञाता उषसो बबाधे ॥ ७ ॥

(१) **ध्वरसम्**-हिंसिका **अनिन्द्राम्**=इन्द्र (प्रभु) के स्मरण से रहित **द्रुहम्**-द्रोहवृत्ति को **जिघांसन्** नष्ट करना चाहता हुआ उपासक **तुजसे**-इस द्रोहवृत्ति के विनाश के लिए **तिग्मा**

अनीका अपने पहले से तीव्र आयुधों को **तेतिक्ते** अत्यन्त तीव्र करता है। इन्द्रियाँ, मन व बुद्धि ही आयुध हैं। इनको तीव्र बनाने से हम अशुभ वृत्तियों का विध्वंस कर पाते हैं। इन द्रोह आदि वृत्तियों के प्रबल होने पर हम प्रभुस्मरण से दूर हो जाते हैं। ये वृत्तियाँ 'अनिन्द्रा' हैं। (२) **यत्र** जिन उषाओं में **ऋणा चित्** निश्चय से ऋण होते हैं जिन उषाओं में हम ऋणों के बोझ से दबे होते हैं, **ऋणयाः** ऋण को नष्ट करनेवाला (यातिर्वधकर्मा सा०) **उग्रः** वह तेजस्वी प्रभु **नः** हमारी **उषसः** उन उषाओं को **अज्ञाताः** हमारे से अननुभूत रूप में ही **दूरे बबाधे** सुदूर रोक देते हैं। हम ऋण के बोझवाली उषाओं का अनुभव करनेवाले नहीं होते, अर्थात् हम सब ऋणों को (पितृ ऋण, ऋषि-ऋण, देव ऋण व मानव ऋण) उतारनेवाले होते हैं।

भावार्थ—प्रभुस्मरण हमें इस योग्य बनाता है कि हम द्रोह की वृत्ति से ऊपर उठते हैं और अपने सब ऋणों को उतारनेवाले बनते हैं।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—इन्द्र ऋतदेवो वा॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

बोध व पवित्रता देनेवाला वेदज्ञान

ऋतस्य हि शुरुधः सन्ति पूर्वीर्ऋतस्य धीतिर्वृजिनानि हन्ति।
ऋतस्य श्लोको बधिरा ततर्द कर्णा बुधानः शुचमान आयोः॥ ८॥

(१) **ऋतस्य**-सत्य वेदज्ञान की **पूर्वीः**-पालन व पूरण करनेवाली सनातन वाणियाँ **हि** निश्चय से **शुरुधः** (शुग् रुधः) हमारे सब शोकों को दूर करनेवाली **सन्ति** हैं। हमारे जीवनों को उत्तम बनाकर ये हमारे शोकों को दूर करती हैं। **ऋतस्य धीतिः** सत्य वेदज्ञान का धारण **वृजिनानि** हमारे सब पापों को **हन्ति** नष्ट करता है। यह ज्ञान हमें पवित्र बनाता है। (२) **ऋतस्य श्लोकः** उस सत्य वेदज्ञान की स्तुतिरूप वाणी **बधिरा कर्णा** बहिरे कानों को भी **ततर्द** छेद डालती है, यह सब पर उत्तम प्रभाव पैदा करती है। यह **आयोः** मनुष्य का **बुधानः** ज्ञान बढ़ानेवाली व **शुचमानः**-उसे शुचि जीवनवाला बनानेवाली है।

भावार्थ—सत्य वेदज्ञान सृष्टि के आरम्भ में दिया गया है। यह हमारे जीवन को बोधमय व पवित्र बनाता है।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—इन्द्र ऋतदेवो वा॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

वेदज्ञान का जीवन पर यह पूर्ण प्रभाव

ऋतस्य दृळ्हा धरुणानि सन्ति पुरूणि चन्द्रा वपुषे वपूंषि।
ऋतेन दीर्घमिषणन्त पृक्ष ऋतेन गाव ऋतमा विवेशुः॥ ९॥

(१) **ऋतस्य** सत्य वेदज्ञान के **धरुणानि**-धारण **दृढा सन्ति** बहुत दृढ़ हैं। वेदज्ञान से हमारा दृढ़ धारण होता है। इस वेदज्ञान द्वारा हम वासनाओं से अपने को बचा पाते हैं। ये वेदज्ञान के धरुण **पुरूणि** हमारा पालन व पूरण करनेवाले हैं। **चन्द्रा** ये धरुण हमारे लिए आह्लादजनक होते हैं। **वपुषे** (वप् to sow) अपने अन्दर इस सत्य वेदज्ञान के बीज को बोनेवाले के लिए ये वपूंषि (वप् to beget) सब अच्छाइयों को जन्म देनेवाले हैं। (२) **ऋतेन** इस सत्य वेदज्ञान द्वारा **दीर्घ पृक्षः** सब अन्धकार का विदारण करनेवाले (पृच् संपर्के) प्रभु सम्पर्क को **इष्णन्त** चाहते हैं। वेदज्ञान से प्रभु सम्पर्क प्राप्त होता है, जो प्रभु सम्पर्क सब अन्धकार का विदारण करनेवाला होता है। **ऋतेन** इस सत्य वेदज्ञान से **गावः** इन्द्रियाँ **ऋतम्**-उस सत्यस्वरूप प्रभु में **आविवेशुः** प्रवेश करती हैं। इन्द्रियाँ विषय प्रवणता को छोड़कर प्रभु-चर्चा व ध्यान में लगती हैं।

भावार्थ—वेदज्ञान हमारा धारण करता है-हमारे में उत्तमताओं को विकसित करता है। इस वेदज्ञान से इन्द्रियाँ प्रभु में प्रवेश करती हैं।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्र ऋतदेवो वा ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

वेदज्ञान द्वारा प्रभु का संभजन

ऋतं येमान ऋतमिद्वनोत्यृतस्य शुष्मस्तुरया उ गव्युः।
ऋताय पृथ्वी बहुले गभीरे ऋताय धेनू परमे दुहाते॥ १०॥

(१) **ऋतं येमानः**-सत्य वेदज्ञान को अपने अन्दर धारण करता हुआ (नियच्छन्) **इत्** निश्चय से **ऋतम्**-उस सत्यस्वरूप प्रभु को **वनोति**-भजता है। इस **ऋतस्य**=सत्यस्वरूप प्रभु का **शुष्मः** शत्रुशोषक बल **उ**=निश्चय से **तुरया**=शीघ्र ही **गव्युः**=हमारे साथ प्रशस्त इन्द्रियों को जोड़नेवाला है। वेदज्ञान से हम प्रभु का सम्पर्क प्राप्त करते हैं। प्रभुसम्पर्क से प्राप्त शक्ति हमारी इन्द्रियों को प्रशस्त बनाती है। (२) **ऋताय**-इस सत्य वेदज्ञान के लिए **पृथ्वी**=द्यावापृथिवी मस्तिष्क व शरीर **बहुले**=बहुत उत्तम वसुओं को लानेवाले तथा **गभीरे**-गम्भीर ज्ञानवाले होते हैं। सत्य वेदज्ञान का शरीर पर यह परिणाम होता है कि यह सब वसुओं से परिपूर्ण होता है तथा मस्तिष्क गम्भीर ज्ञानवाला बनता है। **ऋताय**-सत्य वेदज्ञान के लिए ही **धेनू**=ज्ञान व शक्ति से प्रीणित करनेवाले **परमे**-उत्कृष्ट द्यावापृथिवी-मस्तिष्क व शरीर **दुहाते**-प्रपूरण करनेवाले होते हैं। वेदज्ञान को अपनाने से मस्तिष्क व शरीर ज्ञान व शक्ति से परिपूर्ण होकर हमारा प्रीणन करनेवाले होते हैं।

भावार्थ—वेदज्ञान हमें प्रभु को प्राप्त कराता है। इससे मस्तिष्क ज्ञान से परिपूर्ण होता है, तो शरीर शक्ति से।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—निचृत्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

स्तुतः गृणानः

नू ष्टुत इन्द्र नू गृणान इषं जरित्रे नद्यो३ न पीपेः।
अकारि ते हरिवो ब्रह्म नव्यं धिया स्याम रथ्यः सदासाः॥ ११॥

मन्त्र की व्याख्या २२.११ पर द्रष्टव्य है।

सूक्त का भाव यही है कि वेदज्ञान हमारे जीवन को सुन्दर बनाता है। 'स्तुति किये प्रभु सब वसुओं को प्राप्त कराते हैं' इस भाव से अगले सूक्त का प्रारम्भ होता है—

[२४] चतुर्विंशं सूक्तम्

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

इन्द्रियों के रक्षक प्रभु

का सुष्टुतिः शवसः सूनुमिन्द्रमर्वाचीनं राधस आ ववर्तत्।
ददिर्हि वीरो गृणते वसूनि स गोपतिर्निष्षिधां नो जनासः॥ १॥

(१) **का**-क्या अद्भुत **सुष्टुतिः**=यह उत्तम स्तुति है, जो कि **शवसः सूनुम्**-बल के पुत्र बल के पुतले बल के पुञ्ज सर्वशक्तिमान् उस **इन्द्रम्**=परमैश्वर्यशाली प्रभु को **अर्वाचीनम्**-हमारे अभिमुख **राधसे** सम्पत्ति के लिए **आववर्तत्**=आवृत्त करती है। हम प्रभु का स्तवन करते हैं-स्तुति द्वारा प्रभु को अपने अभिमुख करते हैं, अभिमुखीभूत प्रभु हमारे लिए कार्यसाधक धनों को प्राप्त कराते हैं। (२) **वीरः**-सब शत्रुओं को कम्पित करके दूर करनेवाले प्रभु **गृणते**-स्तोता के

लिए **हि**-निश्चयपूर्वक **वसूनि ददिः**-वसुओं को देते हैं। सब धनों को प्राप्त करानेवाले प्रभु हैं। (३) हे **जनासः** लोगो! **सः** वे प्रभु **नः**-हमारे में से **निष्षिधाम्** वासनाओं के निषेध करनेवालों के **गोपतिः**-इन्द्रियों के रक्षक हैं। प्रभुस्मरण द्वारा हम वासनाओं का निषेध करते हैं। ऐसा करने पर प्रभु हमारी इन्द्रियों का रक्षण करते हैं।

भावार्थ—स्तुति द्वारा प्रभु को हम अपने अभिमुख करें। वे प्रभु हमें आवश्यक धन प्राप्त कराते हैं। हमारी इन्द्रियों का रक्षण करते हैं। प्रभुस्मरण से इन्द्रियवृत्तियाँ ठीक बनी रहती हैं।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—भुरिक्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

ब्रह्मण्यते-सुष्वये

स वृ॒त्रह॑त्ये॒ हव्यः॒ स ईड्यः॒ स सुष्टु॑त॒ इन्द्रः॑ स॒त्यरा॑धाः।

स याम॒न्ना म॒घवा॒ मर्त्या॑य ब्रह्मण्य॒ते सुष्व॑ये॒ वरि॑वो धात्॥ २॥

(१) **सः**-वे प्रभु **वृत्रहत्ये**-वासनारूप वृत्र के विनाश के निमित्त **हव्यः** पुकारने योग्य हैं। **सः**-वे प्रभु ही **ईड्यः**-स्तुति के योग्य हैं। **सुष्टुतः** उत्तम स्तुति किये गये **सः** वे **इन्द्रः** प्रभु **सत्यराधाः** सत्य धनवाले हैं वास्तविक ऐश्वर्यवाले हैं। (२) **सः**-वे **मघवा** परमैश्वर्यवाले प्रभु **यामन्**-जीवनयात्रा में उस **मर्त्याय**-मनुष्य के लिए **वरिवः** धन को **आधात्**-धारण करते हैं, जो कि **ब्रह्मण्यते** ज्ञानवाणियों की कामनावाला होता है और **सुष्वये**-सोम का सम्पादन करता है सोम को अपने अन्दर उत्पन्न करता है इस सोमरक्षण द्वारा ही वस्तुतः वह अपनी ज्ञानाग्नि को दीप्त कर पाता है।

भावार्थ—हम प्रभु का स्मरण करते हैं-प्रभु हमारी वासना का विनाश करते हैं। प्रभु ही जीवनयात्रा की पूर्ति के लिए सत्यधन को प्राप्त कराते हैं। हम ज्ञानप्राप्ति की कामनावाले बनें और सोम का सम्पादन करें-प्रभु हमारे लिए धन प्राप्त कराएँगे।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

परस्पर त्याग से उत्तम सन्तान की प्राप्ति

तमिन्नरो॒ वि ह्व॑यन्ते समी॒के रि॑रि॒क्वांस॑स्त॒न्वः॑ कृण्वत॒ त्राम्।

मि॒थो यत्त्या॒गमु॒भया॑सो॒ अग्म॒न्नर॑स्तो॒कस्य॒ तन॑यस्य सा॒तौ॥ ३॥

(१) **नरः** युद्ध में शत्रु के प्रति आगे बढ़नेवाले लोग **समीके**-संग्राम में **तं इत्** उस प्रभु को ही **विह्वयन्ते**-विशेषरूप से पुकारते हैं। प्रभु की शक्ति से शक्तिसम्पन्न होकर ही वे विजयी बनते हैं। (२) **रिरिक्वांसः**-तप द्वारा सब मलों का विरेचन करनेवाले पुरुष प्रभु को ही **तन्वः** शरीर का **त्राम्** रक्षक **कृण्वत** करते हैं। प्रभुस्मरण के साथ जीवन को तपस्वी बनाते हुए हम प्रभु को ही अपना शरीर रक्षक बनाते हैं। (२) एक घर में **यत्**-जब **उभयासः नरः** दोनों लोग, अर्थात् पति-पत्नी **मिथः** परस्पर **त्यागं अग्मन्** त्याग को प्राप्त होते हैं, जब 'पति' पत्नी के लिए तथा 'पत्नी' पति के लिए अधिक से अधिक त्याग करने को तैयार होता है तो वे **तोकस्य**-पुत्रों के तथा **तनयस्य**-पौत्रों के **सातौ**-लाभ को प्राप्त करते हैं। उनके उत्तम सन्तान होते हैं।

भावार्थ—जीवनसंग्राम में प्रभुस्मरण द्वारा प्रभु को अपना रक्षक बनाएँ। परस्पर त्यागवृत्ति से चलते हुए हम उत्तम सन्तानों को प्राप्त करें।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

प्रभुस्मरण व वासनासंग्राम में विजय

क्रतूयन्ति क्षितयो योग उग्राशुषाणासो मिथो अर्णसातौ।
सं यद्विशोऽववृत्रन्त युध्मा आदिन्नेम इन्द्रयन्ते अभीके॥ ४॥

(१) हे **उग्र**-तेजस्विन् प्रभो! **आशुषाणासः**-शीघ्रता से कार्यों में व्याप्त होनेवाले **क्षितयः**-मनुष्य **योगे**-आपकी प्राप्ति के निमित्त **क्रतूयन्ति**=यज्ञादि कर्मों की कामनावाले होते हैं। **मिथः**-परस्पर **अर्णसातौ**-ज्ञानजल की प्राप्ति के निमित्त भी ये **क्रतूयन्ति**-यज्ञादि कर्मों की कामना करते हैं। (२) **यद्**-जब **विशः**-प्रजाएँ **सं अववृत्रन्त**-शत्रुओं से समन्तात् घिर जाती हैं तो **युध्माः**-उन वासनारूप शत्रुओं से युद्ध करनेवाले ये **नेमे**-कई सौभाग्यशाली लोग **आत् इत्**-शीघ्र ही **अभीके** संग्राम में **इन्द्रयन्ते**-उस परमैश्वर्यशाली प्रभु की कामनावाले होते हैं। प्रभु द्वारा ही तो वे संग्रामों में विजयी होते हैं।

भावार्थ—प्रभुप्राप्ति के निमित्त तथा ज्ञानप्राप्ति के निमित्त यज्ञादि कर्मों में प्रवृत्त होना आवश्यक है। वासनासंग्राम में प्रभुस्मरण ही हमें विजयी बनाता है।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

उपासना से सम्पर्क तक

आदिद्ध नेम इन्द्रियं यजन्त आदित्पक्तिः पुरोळाशं रिरिच्यात्।
आदित्सोमो वि पपृच्यादसुष्वीनादिज्जुजोष वृषभं यजध्यै॥ ५॥

(१) गतमन्त्र के अनुसार जब वासनाओं के साथ संग्राम प्रारम्भ होता है **आत् इत् इ**-तभी निश्चय से **नेमे** कई सौभाग्यशाली लोग **इन्द्रियं यजन्ते**=उस शक्ति के पुञ्ज (इन्द्रियं वीर्यं बलम्) प्रभु का उपासन करते हैं। **आत् इत्**-तभी **पक्तिः**=अपना ठीक परिपाक करनेवाला यह साधक **पुरोडाशम्** (मस्तिष्को वै पुरोडाशः तै० ३।२८।७) मस्तिष्क को **रिरिच्यात्**=सब अशुभ विचारों से रिक्त करके पवित्र करता है। प्रभु की उपासना के समान जीवन को पवित्र करनेवाली अन्य वस्तु नहीं है। (२) **आत् इत्**-अब मस्तिष्क के पवित्र होने पर यह **सोमः**=सौम्य स्वभाव का पुरुष **असुष्वीन्**=यज्ञ आदि न करने की भावनाओं को **विपपृच्यात्**-अपने से पृथक् करता है। **आत् इत्**-इन अयज्ञिय भावनाओं को दूर करने के बाद यह **वृषभं यजध्यै**-उस शक्तिशाली प्रभु का यजन करने के लिए **जुजोष**-प्रीतिवाला होता है। उस प्रभु के साथ सम्पर्क को प्राप्त करता है।

भावार्थ—कुछ ही लोग शक्तिशाली प्रभु का उपासन करते हैं। वे मस्तिष्क को कुविचारों से शून्य कर पाते हैं। अयज्ञिय भावों को अपने से पृथक् करते हैं और उस शक्तिशाली प्रभु का सम्पर्क प्राप्त करते हैं।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—स्वराट्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

प्रभुप्राप्ति के सोम का सवन

कृणोत्यस्मै वरिवो य इत्थेन्द्राय सोममुशते सुनोति।
सध्रीचीनेन मनसाविवेनन् तमित्सखायं कृणुते समत्सु॥ ६॥

(१) **यः** जो **अस्मै इन्द्राय**-इस परमैश्वर्यशाली प्रभु के लिए **इत्था**-सचमुच **वरिवः**=पूजा

को **कृणोति**-करता है। वह **उशते** सदा हमारे हित की कामनावाले प्रभु के लिए **सोमम्** सोम को **सुनोति**-अपने अन्दर उत्पन्न करता है—इस सोम (वीर्य) के रक्षण से ही तो ज्ञानदीप्ति होकर प्रभु की प्राप्ति होती है। (२) यह **सध्रीचीनेन मनसा (सह अञ्चति)** प्रभु के साथ विचरनेवाले मन से **अविवेनन्**-हमारे हित की कामना से कभी पृथक् न होनेवाले **तं इत्** उस प्रभु को ही **समत्सु**-इन जीवन संग्रामों में **सखायम्**-मित्र **कृणुते** करता है। इस प्रभु की मित्रता द्वारा ही तो सब संग्रामों में विजय प्राप्त होती है। हम अपने मन को प्राणायाम आदि द्वारा विषयों से विनिवृत्त करके प्रभु के साथ मिलाएँगे तभी इस प्रभु की मित्रता को पा सकेंगे। समीचीन मन ही हमें प्रभु का सम्पर्क प्राप्त कराता है।

भावार्थ—प्रभु की उपासना करें। उसकी प्राप्ति के लिए सोम का रक्षण करें। विषयव्यावृत्त मन द्वारा प्रभु को मित्र बनाकर वासनासंग्राम में विजयी बनें।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

शत्रुशोषक बल की प्राप्ति

य इन्द्राय सुनवत्सोममद्य पचात्पक्तीरुत भृज्जाति धानाः।
प्रति मनायोरुचथानि हर्यन्तस्मिन्दधद् वृषणं शुष्ममिन्द्रः॥ ७॥

(१) **यः** जो **इन्द्राय** उस प्रभु की प्राप्ति के लिए **अद्य**-आज **सोमं सुनवत्** सोम का सवन करता है इस सोम से ज्ञानाग्नि को दीप्त करके प्रभु का दर्शन करता है। **पक्तीः** पाँच ज्ञानेन्द्रियों से होनेवाले पाँच ज्ञान के ओदनों को **पचात्**-पकाता है (पञ्चौदनः पञ्चधा विक्रमताम्)। **उत** और इन ज्ञानौदनों के परिपाक के साथ **धानाः** धारणशक्तियों को **भृज्जातिः** परिपक्व करता है। (२) इस **मनायोः**-विचारशील पुरुष के (मन्, इ)-विचारपूर्वक कर्मों को करनेवाले के **उचथानि** स्तोत्रों को **प्रतिहर्यन्** चाहता हुआ व प्राप्त होता हुआ **इन्द्रः**-वह परमैश्वर्यशाली प्रभु **तस्मिन्** उस उपासक में **वृषणम्** सब सुखों का वर्षण करनेवाले **शुष्मम्**-शत्रुशोषक बल को **दधत्** धारण करते हैं।

भावार्थ—प्रभुप्राप्ति के लिए हम (क) सोम का सवन करें, (ख) ज्ञानौदनों का परिपाक करें और (ग) धारणात्मक कर्मों को करनेवाले हों। प्रभु हमें शत्रुशोषक बल प्राप्त कराएँगे।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—भुरिक्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

दीर्घ संग्राम

यदा समर्यं व्यचेदृघावा दीर्घं यदाजिमभ्यख्यदर्यः।
अचिक्रदद् वृषणं पत्न्यच्छा दुरोण आ निशितं सोमसुद्भिः॥ ८॥

(१) **यदा**-जब **ऋघावा**-शत्रुओं का हिंसक पुरुष **समर्यम्**-(सह मर्तव्यं शत्रुम्) जिसके साथ हमारी मृत्यु का हो जाना सम्भव है, उस 'काम क्रोध' रूप शत्रु को **व्यचेत्**-(व्यज्ञासीत्) जान लेता है। **यद्**-जब **अर्यः**=यह जितेन्द्रिय पुरुष **दीर्घं आजिम्**-इस लम्बे संग्राम को **अभि आख्यत्**-देख लेता है-जब वह यह देख लेता है कि यह जीवन तो एक दीर्घ संग्राम है। तब वह उस **वृषणम्**-शक्तिशाली प्रभु को **अचिक्रदत्** पुकारता है। प्रभु की सहायता के बिना इस लम्बे जीवनसंग्राम में जीतना सम्भव नहीं है। (२) यह 'अर्य' उसी प्रकार प्रभु को पुकारता है जैसे **दुरोणे**=गृह में **पत्नी**-पत्नी **वृषणं अच्छा**-शक्तिशाली पति को लक्ष्य करके पुकारती है। यह 'अर्य' उस प्रभु को पुकारता है, जो कि **सोमसुद्भिः**=अपने अन्दर सोम का सवन करनेवालों

मे **आनिशितम्** तीक्ष्ण किया जाता है, अर्थात् अपने अन्दर सोमरक्षण करने द्वारा हम प्रभु का प्रकाश देख पाते हैं। इन प्रभु को हम शत्रुओं के साथ संग्राम में पुकारते हैं। इन्हीं की सहायता से हम संग्राम में विजयी होते हैं।

भावार्थ—हम संग्राम में प्रभु को पुकारते हैं। प्रभु की सहायता से ही हम संग्राम में विजयी होते हैं।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

अविक्रीत

भूयसा वस्नमचरत्कनीयोऽ विक्रीतो अकानिषं पुनर्यन्।
स भूयसा कनीयो नारिरेचीद्दीना दक्षा वि दुहन्ति प्र वाणम् ॥ ९ ॥

(१) गतमन्त्र में जीवन को एक दीर्घ संग्राम के रूप में चित्रित किया था। एक मार्ग विषय प्रवृत्ति का है, दूसरा विषयों से निवृत्ति का। विषयों का सुख क्षणिक होता है और उसके लिए बहुत अधिक मूल्य देना पड़ जाता है। मन्त्र में कहते हैं कि **भूयसा**-बहुत अधिक हानि से बहुत अधिक अपने द्रव्य को देकर **कनीयः वस्नमचरत्**-अत्यल्प मूल्य को पाता है। स्वास्थ्य व शक्ति को विनष्ट करके क्षणिक सुख को लेना ऐसा ही तो है। **पुनः**-फिर, इसके विपरीत **अविक्रीतः** (न विक्रीतं येन) 'जिसने विषयों के लिए अपने को नहीं बेचा' ऐसा मैं **यन्**-मार्ग पर आगे बढ़ता हुआ **अकानिषम्** (कन् दीप्तौ) चमक उठता हूँ। प्रभु के समीप पहुँचता हुआ अधिकाधिक तेजस्वी होता जाता हूँ। (२) **सः** वह उपर्युक्त प्रकार से सोचनेवाला व्यक्ति **भूयसा**-बहुत अधिक द्रव्य देकर **कनीयः**-अत्यल्प मूल्य को **न अरिरेचीत्**=नहीं प्राप्त करता (न लभते सा०), अर्थात् यह वैषयिक सुख के लिए वीर्य को विनष्ट नहीं करता। ये **दीनाः**-हृदय में नम्रता को धारण करनेवाले (humble, meek) **दक्षाः**-कार्यकुशल पुरुष **प्रवाणम्**-प्रभु से दी गई इस प्रकृष्ट वेदवाणी को **विदुहन्ति**-विशेषरूप से दोहते हैं। दीन शब्द लोक में 'दुःखी' इस अर्थ में प्रयुक्त होता है। वेद में 'दी' का अर्थ to shine चमकना अथवा to appear good-अच्छा प्रतीत होना है। इस प्रकार 'दीन' शब्द ज्ञान से दीप्त होनेवाला अथवा नम्रता से उत्तम प्रतीत होनेवाला है। ये व्यक्ति वीर्य को विनष्ट करके वैषयिक सुख की ओर नहीं झुकते।

भावार्थ—हम अपने को विषय सुख के लिए न बेच डालें।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—निचृदनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

दस धेनुओं से इन्द्र का क्रयण

क इमं दशभिर्ममेन्द्रं क्रीणाति धेनुभिः। यदा वृत्राणि जङ्घनदथैनं मे पुनर्ददत् ॥ १० ॥

(१) **कः** कौन **दशभिः धेनुभिः**-(धेनु-gift, Present) दस इन्द्रियों के दस विषयरूप भेंटों से **इमं मम इन्द्रम्**-इस मेरे परमैश्वर्यशाली प्रभु को **क्रीणाति**-खरीदता है, अर्थात् न जाने यह मुझे विषयों की ओर प्रेरित करनेवाला 'काम' मुझे दस विषयों की भेंटें देकर किस प्रकार प्रभु का विस्मरण करा देता है। (२) **यदा**=जब कभी **वृत्राणि**-ज्ञान की आवरणभूत इन वासनाओं को **जङ्घनत्** नष्ट करता है, तो **अथ**-उस समय **एनम्**-इस प्रभु को **मे** मेरे लिए **पुनः**-फिर **ददत्** देता है। जब कभी वासना का विनाश होता है, तब ही प्रभु का स्मरण होता है। तभी वास्तविक शान्ति प्राप्त होती है।

भावार्थ—दस विषय हमें प्रभु का विस्मरण करा देते हैं। वासना का विनाश होने पर प्रभु

का स्मरण होता है।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—निचृत्पङ्क्तिः॥ स्वरः—पञ्चमः॥

स्तोता के लिए प्रेरणा

नू ष्टुत इन्द्र नू गृणान इषं जरित्रे नद्यो३ न पीपेः।
अकारि ते हरिवो ब्रह्म नव्यं धिया स्याम रथ्यः सदासाः॥ ११॥

मन्त्र की व्याख्या २३.११ पर द्रष्टव्य है।

सूक्त का विषय यही है कि प्रभु ही हमारी इन्द्रियों का रक्षण करते हैं। इसलिए प्रभु की मित्रता ही चाहने योग्य है—

[२५] पञ्चविंशं सूक्तम्

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—निचृत्पङ्क्तिः॥ स्वरः—पञ्चमः॥

नर्यः देवकामः

को अद्य नर्यो देवकाम उशन्निन्द्रस्य सख्यं जुजोष।
को वा महेऽवसे पार्याय समिद्धे अग्नौ सुतसोम ईट्टे॥ १॥

(१) **कः** कोई विरल व्यक्ति ही **अद्य** आज **नर्यः** नरहितकारी कर्मों में लगा हुआ **देवकामः** दिव्यगुणों की कामनावाला व देव (प्रभु)-प्राप्ति की कामनावाला **उशन्** चाहता हुआ, अर्थात् इच्छापूर्वक **इन्द्रस्य**-परमैश्वर्यशाली प्रभु के **सख्यम्** मित्रता को **जुजोष** प्रीतिपूर्वक सेवन करता है। कोई विरल व्यक्ति ही प्रभु की ओर झुकता है। (२) **कः वा** या कौन **सुतसोमः** सोम का सम्पादन करनेवाला **अग्नौ समिद्धे** ज्ञानाग्नि के समिद्ध होने पर **महे** महान् **पार्याय** भवसागर को पार करने में उत्तम **अवसे** रक्षण के लिये **ईट्टे** प्रभु का उपासन करता है। प्रभु के उपासन का प्रकार यही है कि, (क) हम शरीर में सोम का रक्षण करें, (ख) इससे ज्ञानाग्नि समिद्ध होगी, (ग) हम विषयों में न फँसेंगे। इस प्रकार हम प्रभु का वास्तविक पूजन कर रहे होंगे।

भावार्थ—प्रभु की मित्रता में हम नरहितकारी कर्मों में प्रवृत्त होते हैं। विषयों में न फँसकर भवसागर से पार हो जाते हैं।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—स्वराट्पङ्क्तिः॥ स्वरः—पञ्चमः॥

युज्य-सखा-भाव

को नानाम वचसा सोम्याय मनायुर्वा भवति वस्त उस्राः।
क इन्द्रस्य युज्यं कः सखित्वं को भ्रात्रं वष्टि कवये क ऊती॥ २॥

(१) **कः**-कोई विरल व्यक्ति ही **सोम्याय** अत्यन्त शान्त प्रभु के लिए **वचसा** स्तुतिवाणियों द्वारा **नानाम** नमन करता है। **वा**-अथवा कोई विरल व्यक्ति ही **मनायुः भवति** विचारपूर्वक क्रियाओं को करनेवाला होता है (मन् ई गतौ)। यह मनायु ही **उस्राः** ज्ञानरश्मियों को **वस्ते** धारण करता है। प्रभु के प्रति नमन 'उपासना काण्ड' है, ज्ञानपूर्वक कर्मों को करना 'कर्मकाण्ड' है, ज्ञानरश्मियों का धारण 'ज्ञानकाण्ड' है। इस प्रकार यह व्यक्ति तीनों काण्डों का अपने जीवन में समन्वय करता है। (२) **कः**-कोई विरल व्यक्ति ही **इन्द्रस्य** उस परमैश्वर्यशाली प्रभु के **युज्यम्**-मेल को **वष्टि**-चाहता है। **कः**-कोई व्यक्ति ही **सखित्वम्** प्रभु का सखा बनने की कामनावाला होता है। **कः**-कोई विरल पुरुष ही **भ्रात्रम्** उस प्रभु के साथ भ्रातृत्व की कामना

करता है। **कः** कोई ही **कवये**-उस क्रान्तदर्शी प्रभु के लिए **ऊती**-अपने कर्मों द्वारा तर्पणवाला होता है। उसकी सदा यही कामना होती है कि मैं इस प्रकार से कर्म करूँ कि प्रभु का प्रिय बन पाऊँ।

भावार्थ—हम अपने जीवन में 'उपासना, कर्म व ज्ञान' का समन्वय करें। हम प्रभु को ही अपना 'मेलवाला, साथी व भाई' जानें। उत्तम कर्मों द्वारा प्रभु को प्रीणित करने का प्रयत्न करें।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

आदित्य, अदिति व ज्योति की उपासना

को देवानामवो अद्या वृणीते क आदित्याँ अदितिं ज्योतिरीट्टे।
कस्याश्विनाविन्द्रो अग्निः सुतस्यांशोः पिबन्ति मनसाविवेनम्॥ ३ ॥

(१) **कः** कोई विरल व्यक्ति ही **अद्य**-आज इस जीवन में **देवानां अवः** देवों के दिव्यगुणों के रक्षण का **वृणीते** वरण करता है। सामान्यतः मनुष्य संसार के भोगों में फँस जाता है दिव्यगुणों के रक्षण का उसे ध्यान नहीं रहता। **कः**-कोई विरल पुरुष ही **आदित्यान्** सब स्थानों से अच्छाई ग्रहण (आदान) की भावना को, **अदितम्**-स्वास्थ्य (अखण्डन) को और **ज्योतिः**=प्रकाश को **ईट्टे**-उपासित करता है। सामान्यतः मनुष्य बुराई को ही देखता है अच्छाई को देखने का प्रयत्न ही नहीं करता। स्वाद आदि में फँसकर स्वास्थ्य को खो बैठता है और ज्ञानप्राप्ति की ओर झुकाववाला नहीं होता। (२) **कस्य**=किसी ही यज्ञशील पुरुष के **सुतस्य अंशोः**-उत्पन्न किये गये सोम का **अश्विनौ**-प्राणापान **इन्द्रः**=इन्द्रियों का अधिष्ठाता तथा **अग्निः**-अग्रणी प्रभु **मनसा**-मन से **अ-वि-वेनम्**-चाहते हुए **पिबन्ति**-पान करते हैं, अर्थात् कोई विरल व्यक्ति ही प्राणसाधना में प्रवृत्त होता है (अश्विना), कोई ही इन्द्रियों के वश करने में यत्नशील होता है (इन्द्र), कोई पुरुष ही सदा आगे बढ़ने की मनोवृत्तिवाला बनता है (अग्नि)। 'प्राणायाम, जितेन्द्रियता व अग्रगति की भावना' ये तीनों बातें सोमरक्षण की साधन बनती हैं।

भावार्थ—हमें चाहिए कि हम दिव्य गुणों के रक्षण की कामनावाले हों, सब जगह से अच्छाई का आदान करें, स्वास्थ्य का ध्यान करें और ज्योति प्राप्ति के लिए यत्नशील हों। प्राणायाम, जितेन्द्रियता व अग्रगति की भावना हमें सोमरक्षण के योग्य बनाए।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—भुरिक्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

प्रभु प्रवणता व दीर्घ जीवन

तस्मा अग्निर्भारतः शर्म यंसज्ज्योक्पश्यात्सूर्यमुच्चरन्तम्।
य इन्द्राय सुनवामेत्याह नरे नर्याय नृतमाय नृणाम्॥ ४॥

(१) **यः**-जो पुरुष **इन्द्राय**-प्रभुप्राप्ति के लिए **सुनवाम**-हम सोम का सवन करें **इति आह**-ऐसा कहता है। 'शरीर में सोमरक्षण से बुद्धि की तीव्रता होकर प्रभु का दर्शन होता है', इस प्रकार सोचकर जो सोम का रक्षण करता है उसे भोग-विलास में व्ययित नहीं करता। **तस्मै** उस पुरुष के लिए **भारतः**-सब का भरण करनेवाला **अग्निः**-अग्रणी प्रभु **शर्म** सुख को **यंसत्**-देता है। यह पुरुष **उच्चरन्तं सूर्यम्**=उदय होते हुए सूर्य को **ज्योक्** दीर्घकाल तक **पश्यात्** देखता है, अर्थात् यह अत्यन्त दीर्घ जीवनवाला बनता है। (२) इसलिए यही ठीक है कि हम उस प्रभुप्राप्ति के लिए सोम का रक्षण करें, जो कि **नरे**-हमें आगे ले चलनेवाले हैं, **नर्याय** सदा नरहित करनेवाले हैं और **नृणां नृतमाय** नेताओं में सर्वोत्तम नेता हैं। सोमरक्षण से

उस प्रभु की प्राप्ति होती है। प्रभु हमें आगे ले चलते हैं। प्रभु नेता होते हैं और हम उनके अनुयायी। इस प्रकार पवित्र जीवन बिताते हुए हम दीर्घजीवन प्राप्त करते हैं।

भावार्थ—सोमरक्षण द्वारा हम प्रभु के समीप होते हैं। इससे हम पवित्र होकर सुखी व दीर्घ जीवनवाले बन पाते हैं।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

प्रभु का प्रिय कौन?

न तं जिनन्ति बहवो न दभ्रा उर्वस्मा अदितिः शर्म यंसत्।
प्रियः सुकृत्प्रिय इन्द्रे मनायुः प्रियः सुप्रावीः प्रियो अस्य सोमी॥ ५॥

(१) गतमन्त्र के अनुसार प्रभुप्राप्ति के लिए सोम का सवन करनेवाले **तम्** उस पुरुष को **न दभ्राः** न कम और न **बहवः** नां ही बहुत शत्रु **जिनन्ति** हिंसित करनेवाले होते हैं। **अस्मै** इस पुरुष के लिए **अदितिः** स्वास्थ्य **उरु शर्म** विशाल कल्याण को **यंसत्** देता है। पूर्ण स्वस्थ होने से यह पुरुष अत्यन्त सुखी होता है। (२) **सुकृत्** शोभन कर्मों को करनेवाला पुरुष **प्रियः** इसे प्रिय होता है। **इन्द्रे** उस प्रभु में **मनायुः**=विचारपूर्वक गति करनेवाला पुरुष **प्रियः** मित्र होता है। **सुप्रावीः** उत्तमता से प्रकर्षेण अपना रक्षण करनेवाला **प्रियः** इस प्रभु को प्रिय होता है और **सोमी** सोम का रक्षण करनेवाला पुरुष प्रभु को **प्रियः** प्रिय होता है।

भावार्थ—हम 'सुकृत्, मनायु, सुप्रावी व सोमी' बनकर प्रभु के प्रिय बनें।

सूचना—ब्रह्मचर्याश्रम हमें सोमरक्षण करनेवाला सोमी बनाए। गृहस्थ में हम 'सुप्रावी' बनें सन्तानों का उत्तम रक्षण करनेवाले हों। वानप्रस्थ में सदा प्रभु का मनन करनेवाले 'मनायु' बनें। संन्यस्त होकर हम सदा शोभन लोकहित के कर्म करनेवाले 'सुकृत्' बनें।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—भुरिक्पङ्क्तिः॥ स्वरः—पञ्चमः॥

सुष्वि व अशुष्वि

सुप्राव्यः प्राशुषाळेष वीरः सुष्वेः पक्तिं कृणुते केवलेन्द्रः।
नासुष्वेरापिर्न सखा न जामिर्दुष्प्राव्योऽवहन्तेदवाचः॥ ६॥

(१) **प्राशु षाड्** प्रकर्षेण शीघ्र ही शत्रुओं का अभिभव करनेवाला **एषः** यह **वीरः** शत्रुओं को कम्पित करनेवाला **इन्द्रः** परमैश्वर्यशाली प्रभु **सुप्राव्यः** उत्तमता से प्रकर्षेण गतिवाले **सुष्वेः** उत्तम सोम का सवन करनेवाले पुरुष की **केवला** असाधारण अवस्था (के) आनन्द में (वल) संचरण करानेवाले **पक्तिम्** ज्ञान के परिपाक को **कृणुते**-करता है। प्रभु हमारे ज्ञान को परिपक्व करते हैं, वस्तुतः इस ज्ञान के परिपाक से ही हम प्रकृष्ट गतिवाले होते हैं और सोम का सवन करनेवाले बनते हैं। (२) **असुष्वेः** सोम का सवन न करनेवाले का वे प्रभु **आपिः न** मित्र नहीं होते। **न सखा** इस अयजमान के वे प्रभु सखा नहीं होते। **न जामिः** इसके प्रभु बन्धु नहीं होते। **दुष्प्राव्यः** अशुभ तीव्र गतिवाले दुरुपगमनवाले **अवाचः** प्रभु का स्तवन करनेवाले के प्रभु **अवहन्ता इत्**-नाश ही करनेवाले होते हैं।

भावार्थ—उपासक के प्रभु मित्र हैं। न उपासक के विनाश करनेवाले हैं।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

'सुष्वि व पक्ति' नकि 'देवान् पणि'

न रेवता पणिना सख्यमिन्द्रोऽसुन्वता सुतपाः सं गृणीते।
आस्य वेदः खिदति हन्ति नग्नं वि सुष्वये पक्तये केवलो भूत्॥ ७॥

(१) **सुतपाः**=अभियुत सोम का रक्षण करनेवाला **इन्द्रः** परमैश्वर्यशाली प्रभु **रेवता**-धनवान् **असुन्वता**-अयज्ञशील **पणिना**-लुब्ध वणिक् वृत्तिवाले पुरुष के साथ **सख्यम्**-मित्रता को **न संगृणीते**-नहीं स्वीकार करता (गृ-agree)-इसकी मित्रता को प्रभु अच्छा नहीं समझते। (२) **अस्य**-इस असुन्वन् वणिक् के **वेदः**-धन को **आखिदति**=नष्ट कर देते हैं। **नग्नं हन्ति** (न+ग्ना) स्तुतिवाणी से रहित पुरुष को प्रभु विनष्ट करते हैं। वे प्रभु **सुष्वये**-सोम का सम्पादन करनेवाले यज्ञशील **पक्तये**-ज्ञान का परिपाक करनेवाले पुरुष के लिए **केवलः**-आनन्द में संचरित करनेवाले **विभूत्**=विशेष रूप से होते हैं।

भावार्थ—हम सुष्वि व पक्ति बनें। केवल धनार्जन में फँसे हुए अयज्ञशील न बन जाएँ। यही प्रभु की मित्रता की प्राप्ति का मार्ग है।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—स्वराट्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

'पर-अवर-मध्यम' सभी उसे पुकारते हैं

इन्द्रं परेऽवरे मध्यमास इन्द्रं यान्तोऽवसितास इन्द्रम्।
इन्द्रं क्षियन्त उत युध्यमाना इन्द्रं नरो वाजयन्तो हवन्ते॥ ८॥

(१) **परे**-उत्कृष्ट सात्त्विक वृत्तिवाले लोग, **अवरे**=निकृष्ट तमोगुणी पुरुष तथा **मध्यमासः** मध्यम रजोगुण में विचरनेवाले व्यक्ति अन्ततः **इन्द्रम्**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु को ही **हवन्ते**-पुकारते हैं। (२) **यान्तः**-अपने-अपने कार्य के लिए जाते हुए पुरुष **इन्द्रम्**=उस प्रभु को ही पुकारते हैं और **अवसितासः**-कार्य की समाप्ति पर पहुँचनेवाले दृढनिश्चयी पुरुष भी **इन्द्रम्**-प्रभु को ही पुकारते हैं। (३) **क्षियन्तः**-घर में निवास करते हुए, **उत्**-और इसके विपरीत **युध्यमानः** रणांगण में युद्ध करते हुए लोग **इन्द्रम्** उस प्रभु को ही पुकारते हैं। (४) **वाजयन्तः**-शक्तिप्राप्ति की कामनावाले पुरुष उस **इन्द्रम्** सर्वशक्तिमान् प्रभु को ही **हवन्ते**-पुकारते हैं। वस्तुतः प्रभु ही हमारे सच्चे मित्र हैं, सब उन्नति प्रभु से शक्ति को प्राप्त करके ही होती है।

भावार्थ—सभी अन्ततः प्रभु को ही पुकारते हैं।

सूक्त का भाव यही है कि प्रभु ही हमारे सच्चे मित्र हैं। अन्ततः वे ही सहायक होते हैं। प्रभु कहते हैं कि—

[२६] षड्विंशं सूक्तम्

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

'मनु व सूर्य' बनना

अहं मनुरभवं सूर्यश्चाहं कक्षीवाँ ऋषिरस्मि विप्रः।
अहं कुत्समार्जुनेयं न्यृञ्जेऽहं कविरुशना पश्यता मा॥ १॥

(१) **अहम्**-मैं ही **मनुः अभवम्**-मनु हूँ। ज्ञानशील पुरुष को 'मनु' कहते हैं-ज्ञानियों का ज्ञान प्रभु ही हैं। प्रभु ही सब ज्ञानों का स्रोत हैं। **च**-और **अहम्**-मैं ही **सूर्यः** सूर्य हूँ। सूर्य को

दीप्ति देनेवाले प्रभु ही हैं। प्रभु की दीप्ति से ही यह सूर्य दीप्त हो रहा है 'प्रभास्मि शशि सूर्ययोः'। मैं **कक्षीवान्** बद्ध कक्ष्यावाला **ऋषिः** तत्त्वद्रष्टा **अस्मि** हूँ। बद्ध कक्ष्यावाला, कटिबद्ध, अर्थात् दृढ़निश्चयी। प्रभु ही एक व्यक्ति को दृढ़निश्चयी तत्त्वद्रष्टा बनाते हैं। मैं ही **विप्रः** विप्र हूँ। 'वि-प्रा' विशेषरूप से किसी भी व्यक्ति का पूरण करनेवाला मैं ही हूँ। (२) **अहम्** मैं ही **कुत्सम्** वासनाओं का संहार करनेवाले **आर्जुनेयम्** अर्जुनी के पुत्र (अर्जुन श्वेत) अत्यन्त शुद्ध जीवनवाले को **न्यृञ्जे** निश्चय से प्रसाधित करता हूँ। इसके जीवन को मैं ही सद्गुणों से सुभूषित करता हूँ। मैं ही इसे वासनाओं के संहार के योग्य बनाता हूँ। **अहम्**-मैं ही **कविः** क्रान्तदर्शी **उशना** सबका हित चाहनेवाला हूँ। हे मनुष्यो! **मा पश्यत**-मुझे देखो, मुझे देखने के लिए यत्नशील होओ। वस्तुतः प्रभु के स्वरूप का चिन्तन करते हुए हमें प्रभु जैसा ही बनने का प्रयत्न करना चाहिए।

भावार्थ—प्रभुकृपा से ही हम 'ज्ञानी (मन), सूर्यवत् तेजस्वी, दृढ़निश्चयी तत्त्वद्रष्टा, विप्र, वासनाओं का संहार करनेवाले (कुत्स) कवि (तत्त्वद्रष्टा)' बन पाते हैं।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—भुरिक्पङ्क्तिः॥ स्वरः—पञ्चमः॥

'संसार का संचालक' प्रभु

अहं भूमिमददामार्यायाहं वृष्टिं दाशुषे मर्त्याय।
अहमपो अनयं वावशाना मम देवासो अनु केतमायन्॥ २॥

(१) **अहम्** मैं **आर्याय**-श्रेष्ठ श्रमशील मनुष्य के लिए **भूमिम्** भूमि को **अददाम्** देता हूँ। यह भूमि उसके लिए सब अन्नों को प्राप्त कराती हुई उसका पालन करती है। **अहम्** मैं **दाशुषे मर्त्याय** दाश्वान् मनुष्य के लिए, यज्ञों में त्याग करनेवाले पुरुष के लिए, **वृष्टिम्** वृष्टि को देता हूँ। दाश्वान् पुरुष यज्ञ करता है और इन यज्ञों के परिणामस्वरूप वृष्टि होती है 'यज्ञाद् भवति पर्जन्यः'। (२) मैं ही मेघों को उत्पन्न करके **वावशानाः** शब्द करते हुए **अपः** जलों को **अनयम्** लाता हूँ। 'शंनः कनिक्रदद् देवः पर्जन्यो अभिवर्षतु'। प्रभु की व्यवस्था से ही गर्जना करते हुए मेघ बरसते हैं और सर्वत्र जलों को प्राप्त कराते हैं। **देवासः** 'अग्नि, वायु, सूर्य' आदि सब देव **मम केतं अनु** मेरे संकेत व निर्देश के अनुसार **आयन्** गति कर रहे हैं 'भयादस्याग्निस्तपति भयात्तपति सूर्यः। भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः'। प्रभु के संकेत के अनुसार चलते हुए ये सब देव जीवहित के लिए अपने अपने कार्य कर रहे हैं।

भावार्थ—प्रभु ही हमारे लिए अन्नदात्री इस भूमि को बनाते हैं, वृष्टि की व्यवस्था करते हैं और सूर्यादि सब देवों को गतिमय करते हैं।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—स्वराट्पङ्क्तिः॥ स्वरः—पञ्चमः॥

शंवर की पुरियों का विध्वंस

अहं पुरो मन्दसानो व्यैरं नव साकं नवतीः शम्बरस्य।
शततमं वेश्यं सर्वताता दिवोदासमतिथिग्वं यदावम्॥ ३॥

(१) हमारे जीवन में 'ईर्ष्या, द्वेष, क्रोध' के कारण मानस-शान्ति का विनाश हो जाता है। यह ईर्ष्या ही 'शंबर' है-शान्ति पर परदा डाल देनेवाली है। यह नाना रूपों में हमें परेशान करती है। मानो इसकी निन्यानवे नगरियाँ ही हमारे अन्दर बन जाती हों। प्रभु ही इन्हें नष्ट करते हैं। **अहम्** मैं **मन्दसानः**-उपासक को आनन्दमय जीवनवाला बनाता हुआ **नव नवतीः** निन्यानवे

शंबरस्य पुरः-शंबरासुर की नगरियों को **साकम्**=साथ साथ ही **व्यैरम्** विनष्ट कर डालता हूँ। ईर्ष्या आदि आसुरभावों को मैं समाप्त कर देता हूँ (२) यह मैं तब करता हूँ, **यदा** जब कि **सर्वताता**=सब शक्तियों के विस्तार के निमित्त **शततमम्**-सब आसुरभावों से ऊपर उठे हुए सौंवे **वेश्यम्**-प्रवेश के योग्य शरीरगृह को **दिवोदासम्**-ज्ञान के दास, अर्थात् ज्ञान की आराधना करनेवाले **अतिथिग्वम्**=प्रभुरूप अतिथि की ओर चलनेवाले इस उपासक को **आवम्**-(अगमयं अव् गतौ) प्राप्त कराता हूँ। ज्ञानप्रवण प्रभु के उपासक को प्रभु वासनाशून्य पवित्र शरीरगृह प्राप्त कराते हैं।

भावार्थ—प्रभु ईर्ष्या आदि सैंकड़ों आसुरभावों को विनष्ट करके ज्ञानप्रवण भक्त के लिये पवित्र शरीरगृह प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

महान् वि-महान् श्येन

प्र सु ष विभ्यो मरुतो विरस्तु प्र श्येनः श्येनेभ्य आशुपत्वा।
अचक्रया यत्स्वधया सुपर्णो हव्यं भरन्मनवे देवजुष्टम्॥ ४॥

(१) 'जीव व परमात्मा' दोनों को वैदिक साहित्य में सुपर्ण (पक्षी) के रूप में चित्रित किया गया है। ये दोनों ही इस संसार-वृक्ष पर निवास कर रहे हैं। हे **मरुतः**-मनुष्यो! **सः विः** वह प्रसिद्ध प्रभुरूप पक्षी **विभ्यः**-जीवरूप पक्षियों से **प्र सु अस्तु**-बल के दृष्टिकोण से प्रकृष्ट है। सारे जीव मिलकर भी बल में प्रभु के समान नहीं हो सकते। वह **प्र श्येनः**-प्रकृष्ट श्येन (गतिशील प्रभु) **श्येनेभ्यः**-इन गतिशील जीवों से **आशुपत्वा**-अत्यन्त शीघ्र गतिवाला है। गति में कोई भी इसको पराजित नहीं कर सकता 'तद्धावतो ऽन्यानत्येति'। (२) **सुपर्णः**-उत्तम पालन करनेवाले ये प्रभु **अचक्रया**=बिना ही चक्रोंवाली-बिना ही किन्हीं उपकरणोंवाली **स्वधया**-आत्मधारणशक्ति से **मनवे**=विचारशील पुरुष के लिए **यत्**=जो **देवजुष्टम्**=विद्वानों से प्रीतिपूर्वक सेवन किया गया **हव्यम्**-पुकारने योग्य (चाहने योग्य) ज्ञान है, उसे **भरत्** प्राप्त कराते हैं। इस ज्ञान द्वारा ही वस्तुतः प्रभु जीव का भरण करते हैं।

भावार्थ—प्रभु सर्वाधिक बलवाले व सर्वाधिक गतिवाले हैं। प्रभु अपनी आत्मधारण शक्ति से हमारे लिए वह ज्ञान प्राप्त कराते हैं, जो कि हमारा उत्तम पालन करता है।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

मधुरता व ज्ञान

भरद्यदि विरतो वेविजानः पथोरुणा मनोजवा असर्जि।
तूयं ययौ मधुना सोम्येनोत श्रवो विवदे श्येनो अत्र॥ ५॥

(१) गतमन्त्र में जीव को भी 'वि' कहा है। यदि यह प्रकृष्ट बलवाले प्रभु से भयभीत होता हुआ वासनाओं से बचता है और सोम का रक्षण करता है, तो यह अपने अन्दर प्रभु के प्रकाश को देखनेवाला बनता है। **यदि**-यदि **विः**=जीव **अतः**=इस सर्वाधिक बलवाले प्रभु से **वेविजानः**-भय करता हुआ **भरत्**-अपने अन्दर सोम का रक्षण करता है, तो **उरुणा पथा** विशाल मार्ग से गति द्वारा **मनोजवाः**-मन से भी अधिक वेगवान् वे प्रभु **असर्जि**=इसके साथ संसृष्ट होते हैं। सोमरक्षण द्वारा पवित्र मनवाला बनकर यह विशाल मार्ग से चलता है। इस उदार मार्ग का आक्रमण करता हुआ यह प्रभु को देखनेवाला बनता है। (२) यह **सोम्येन**=सोमरक्षण से उत्पन्न

मधुना माधुर्य के साथ **तूयं ययौ** शीघ्रता से गतिवाला होता है। **उत** और **श्येनः** यह गतिशील जीव **अत्र** इस जीवन में **श्रवः** ज्ञान को **विविदे** प्राप्त करता है। 'सोम' सुरक्षित होने पर, इसके जीवन को मधुर बनाता है और इसे गतिमय जीवनवाला बनाता हुआ ज्ञान सम्पन्न करता है।

भावार्थ— सोमरक्षण से ही प्रभु के साथ मेल होता है। इसी प्रकार जीवन मधुर व ज्ञान सम्पन्न होता है।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

दादृहाणो देवावान्

ऋजीपी श्येनो ददमानो अंशुं परावतः शकुनो मन्द्रं मदम्।
सोमं भरद्दादृहाणो देवावान्दिवो अमुष्मादुत्तरादादाय॥ ६॥

(१) **ऋजीपी** (ऋजु, प्यायी वृद्धौ) ऋजुता से मार्ग पर आगे बढ़नेवाला **श्येनः** शंसनीय गतिवाला जीव **परावतः** उस दूर से दूर वर्तमान 'सर्वोत्कृष्ट' प्रभु से **अंशुम्** प्रकाश की किरण को **ददमानः** ग्रहण करता हुआ (धारयन् सा०) **शकुनः**-शक्तिशाली बनता है और **मन्द्रम्** स्तुत्य **मदम्** हर्ष के जनक **सोमम्**-सोम को **भरत्**-अपने में धारण करता है। प्रभु से प्राप्त ज्ञान हमें वासनाओं से बचाता है। वासनाओं से बचकर हम शक्तिशाली बनते हैं और सोम के महत्त्व को समझते हुए उसे सुरक्षित रखते हैं। (२) यह सोम का भरण करनेवाला पुरुष **अमुष्माद** उस **उत्तरात्** उत्कृष्ट **दिवः** प्रकाशमय प्रभु से **आदाय** ज्ञान को (प्रकाश को) प्राप्त करके **दादृहाणः** खूब ही दृढ़ शरीरवाला तथा **देवावान्** दिव्य गुणोंवाला बनता है। प्रभुप्रदत्त ज्ञान इसे दृढ़ शरीरवाला व दिव्यवृत्तिवाला बनाता है।

भावार्थ—सोम को धारण करनेवाला व्यक्ति दृढ़ शरीरवाला तथा दिव्य गुणोंवाला बनता है।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—स्वराट्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

सोमरक्षण व यज्ञ-प्रवणता

आदाय श्येनो अभरत्सोमं सहस्रं सवाँ अयुतं च साकम्।
अत्रा पुरन्धिरजहादरातीर्मदे सोमस्य मूरा अमूरः ॥ ७॥

(१) **श्येनः** शंसनीय गतिवाला यह जीव **सोमं आदाय** सोमशक्ति का ग्रहण करके **सहस्रम्** हजारों **च** व **अयुतम्**-लाखों **सवान्**-यज्ञों को **साकम्** साथ साथ **अभरत्** अपने में धारण करता है। यह अपने जीवन को यज्ञशील बनाता है। (२) **अत्रा** यहाँ **सोमस्य मदे** सोम के मद में हर्ष में **पुरन्धिः** पालक व पूरक बुद्धिवाला यह **अमूरः** संसार के विषयों में अमूढ बना हुआ यह श्येन **मूराः**-मूढ़ता के कारणभूत **अरातीः** काम क्रोध आदि शत्रुओं को **अजहात्** छोड़नेवाला होता है। सोमरक्षण से बुद्धि का वर्धन होता है, शक्ति के कारण गतिशीलता प्राप्त होती है। यह ज्ञानपूर्वक यज्ञों में प्रवृत्त होता हुआ पुरुष काम-क्रोध आदि को विनष्ट करता है।

भावार्थ—सोमरक्षण से हम यज्ञप्रवण बन पाते हैं। काम क्रोध आदि शत्रुओं को जीतकर हम अमूढ़ बनते हैं।

'प्रभु उपासन से किसी ऊँची स्थिति को प्राप्त करते हैं' इस बात का इस सूक्त में सुन्दर चित्रण है। इस उपासना के द्वारा अन्ततः हम इस जन्म-मरण चक्र से ऊपर उठ जाते हैं। यही वर्णन अगले सूक्त में है—

[२७] सप्तविंशं सूक्तम्

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

प्रभु के गर्भ में

गर्भे नु सन्नन्वेषामवेदमहं देवानां जनिमानि विश्वा।
शतं मा पुर आयसीररक्षन्नध श्येनो जवसा निरदीयम्॥ १॥

(१) **गर्भे नु सन्** उस प्रभु के गर्भ में अब होता हुआ **अहम्**-मैं **एषाम्** इन **देवानाम्** देवों के **विश्वा** सब **जनिमानि**-जन्मों को **अवेदम्**-जानता हूँ। 'प्रभु की उपासना में स्थित होना' ही 'प्रभु के गर्भ में स्थित होना' है। इससे जीवन में दिव्य गुणों का विकास होता है। (२) आज तक **मा** मुझे **शतम्** सैकड़ों **आयसी**-लोहमयी-बड़ी दृढ़ **पुरः**=शरीररूप नगरियों ने **अरक्षन्** अपने अन्दर कैद करके रखा। **अध** अब प्रभु की उपासना से **श्येनः**-शंसनीय गतिवाला होकर मैं **जवसा** बड़े वेग से **निरदीम्**-इन से बाहर निकल गया हूँ, अर्थात् जन्म मरणचक्र से ऊपर उठ गया हूँ।

भावार्थ—प्रभु की उपासना से दिव्यगुणों का विकास होता है और हम इन शरीर नगरियों में प्रवेश से बच जाते हैं-मुक्त हो जाते हैं।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

ईर्मा पुरन्धि

न घा स मामप जोषं जभाराभीमास त्वक्षसा वीर्येण।
ईर्मा पुरन्धिरजहादरातीरुत वाताँ अतरच्छूशुवानः ॥ २॥

(१) प्रभु के गर्भ में रहनेवाले **जोषम्**-प्रीतिपूर्वक प्रभु की उपासना करनेवाले **माम्** मुझ को **घा**-निश्चय से **सः** यह चमकीला संसार **न अपजभार**-हर ले जाने में समर्थ नहीं हुआ। मैं **त्वक्षसा** ज्ञानदीप्त (त्विषेर्वा दीप्ति कर्मणः) **वीर्येण** सामर्थ्य से **ईम्**-निश्चयपूर्वक **अभि आस** इस संसार का अभिभव करनेवाला हुआ हूँ। (२) **ईर्मा**-गतिशील **पुरन्धिः** पालक व पूरक बुद्धिवाला पुरुष **अरातीः** काम क्रोध आदि शत्रुओं को **अजहात्** छोड़नेवाला होता है। गतिशील बुद्धिमान् पुरुष को वासनाएँ नहीं सता पातीं। **उत** और यह **शूशुवानः**-(श्वि गतिवृद्ध्योः) गति द्वारा निरन्तर बढ़नेवाला पुरुष **वातान्** संसार की हवाओं को **अतरत्**-तैर जाता है। यह शूशुवान पुरुष चटक-मटक का गुलाम नहीं बन जाता।

भावार्थ—प्रभु की उपासना से हम विषयों में नहीं फँसते।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

ज्ञानाग्नि में वासना का भस्मीकरण

अव यच्छ्येनो अस्वनीदध द्योर्वि यद्यदि वात ऊहुः पुरन्धिम्।
सृजद्यदस्मा अव ह क्षिपज्ज्यां कृशानुरस्ता मनसा भुरण्यन्॥ ३॥

(१) **अध**=अब **यत्**-जो **श्येनः**-शंसनीय गतिवाला पुरुष **द्योः**-ज्ञानवाणियों का अब **अस्वनीत्**-नम्रता से उच्चारण करता है, अर्थात् जब आचार्य स्वयं उत्तम आचरणवाला होता हुआ स्वयं नम्र होता हुआ विद्यार्थियों के लिए ज्ञान देता है और **यदि** यदि **ते** वे विद्यार्थी **यद्** जब उस आचार्य से **पुरन्धिम्** पालक व पूरक बुद्धि को **व्यूहुः** विशेषरूप से धारण करते हैं।

(२) इस प्रकार **यद्** जब **अस्मै** इस विद्यार्थी के लिए आचार्य **सृजत्**-ज्ञान का सर्जन करता है, तो **ह** निश्चय से यह विद्यार्थी **ज्याम्**-कामदेव (वासना) के धनुष् की डोरी को **अवक्षिपत्** सुदूर फेंकनेवाला होता है वासनाओं को अपने से परे फेंकता है। **कृशानुः** अग्नि के समान तेजस्वी होता हुआ यह **मनसा भुरण्यन्** मन से उस प्रभु का अपने में भरण करता हुआ **अस्ता** अब बुराइयों को दूर क्षिप्त करता है। ज्ञान द्वारा अपने जीवन को निर्मल कर लेता है।

भावार्थ—आचार्य से ज्ञान प्राप्त करके, उस ज्ञानजल में अपने को शुद्ध करता हुआ विद्यार्थी दीप्त जीवनवाला बनता है।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

ज्ञानदीप्त अन्तर्वृत्ति मन

ऋजिप्य ईमिन्द्रावतो न भुज्युं श्येनो जभार बृहतो अधि ष्णोः।
अन्तः पतत्पतत्र्यस्य पर्णमध यामनि प्रसितस्य तद्वेः ॥ ४॥

(१) **ऋजिप्यः**-(ऋजु+प्या) ऋजुमार्ग से आगे बढ़नेवाला **श्येनः**-शंसनीय गतिवाला (पुरुष) **इन्द्रावतः** जितेन्द्रिय पुरुष से रक्षण किये जाते हुए (इन्द्र-अव) **बृहतः**-वृद्धि के कारणभूत **ष्णोः** सुखवर्धक ज्ञान द्वारा **न भुज्युम्**-भोगों में न फँसे हुए शिष्य को **अधिजभार** विषयों से ऊपर ले जाता है उत्कृष्ट मार्ग की ओर ले जाता है। अत्यन्त विषयप्रवण वृत्तिवाले शिष्य को ज्ञान देना भी कठिन होता है। विद्यार्थी के लिए 'न भुज्यु' होना आवश्यक है। (२) अब ज्ञान प्राप्त करने पर **अस्य** इसका **पतत्रि** उड़नेवाला-निरन्तर इधर उधर भटकनेवाला **पर्णम्**-पंख पालक मनरूप पंख, **अन्तः** अन्दर **पतत्**-गतिवाला होता है-अब इसका मन बाहर विषयों में नहीं भटकता। **अध** अब **यामनि**-मार्ग में **प्रसितस्य**-बन्धे हुए निरन्तर मार्ग में चलते हुए इसका **तद्** वह मनरूप **पर्ण वेः**-कान्तिमान् होता है (वी-कान्ति)। अब यह चमकते हुए जीवनवाला बन जाता है।

भावार्थ—ज्ञान द्वारा निर्मल मन अन्तर्मुखी वृत्तिवाला होता हुआ सदा मार्ग पर आगे बढ़ता है।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—निचृच्छक्वरी ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

'श्वेत कलश', जो कि सोम का आधार बनता है

अध श्वेतं कलशं गोभिरक्तमापिप्यानं मघवा शुक्रमन्धः ।
अध्वर्युभिः प्रयतं मध्वो अग्रमिन्द्रो मदाय प्रति धत्पिबध्यै शूरो मदाय प्रति धत्पिबध्यै ॥ ५ ॥

(१) **अध** गतमन्त्र के अनुसार ज्ञान से मन निर्मल होने पर **श्वेतम्**-शुभ्र **कलशम्** शरीर घर को **इन्द्रः** यह जितेन्द्रिय पुरुष **प्रतिधत्**-धारण करता है। यह श्वेत कलश **गोभिः** ज्ञान की वाणियों से **अक्तम्**-कान्त बना हुआ है, **आपिप्यानम्**-समन्तात् सब शक्तियों से बढ़ा हुआ है। (२) **मघवा** यह ज्ञानैश्वर्यवाला जीव **शुक्रम्**-निर्मल **अन्धः**-सोम को **मदाय** हर्ष की प्राप्ति के लिए **पिबध्यै** अन्दर ही पीने के लिए **प्रतिधत्** धारण करता है। यह सोम **अध्वर्युभिः** शरीरस्थ सात यज्ञप्रणेताओं से यज्ञों में लगी हुई इन्द्रियों से, **प्रयतम्**-पवित्र किया गया है तथा **मध्वः अग्रम्** मधुओं में सर्वश्रेष्ठ है। इन्द्रियाँ यज्ञों में लगी रहें, तो यह सोम शरीर में संयत रहता है तथा जीवन को अत्यन्त मधुर बनाता है। इसलिए **शूरः**-वासनाओं को शीर्ण करनेवाला व्यक्ति **मदाय** हर्ष प्राप्ति के लिए **पिबध्यै**-इसे अन्दर पीने के लिए **प्रतिधत्** धारण करता है।

भावार्थ—जब इस शरीर को हम ज्ञान द्वारा निर्मल बनाते हैं, तो यह 'श्वेत कलश' कहलाता है। यह सोम (वीर्यशक्ति) का आधार बनता है 'इन्द्र' वासनाओं को शीर्ण करके इस सोम को शरीर में सुररिक्षत करता है। इस का शरीर में पान करके हम आनन्दानुभव करते हैं।

सम्पूर्ण सूक्त 'उपासना द्वारा जीवन को निर्मल बनाने का वर्णन कर रहा है। अगले सूक्त का भी यही विषय है—

[२८] अष्टाविंशं सूक्तम्

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—इन्द्रासोमौ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

प्रभुप्राप्ति के लिए निरन्तर कर्मशीलता

त्वा युजा तव तत्सोम सख्य इन्द्रो अपो मनवे सस्रुतस्कः।
अहन्नहिमरिणात्सप्त सिन्धूनपावृणोदपिहितेव खानि ॥ १॥

(१) हे सोम! **त्वा युजा**=तुझ साथी के साथ, **तव**=तेरी **तत्**=उस **सख्ये**=मित्रता में **इन्द्रः** एक जितेन्द्रिय पुरुष **मनवे** उस सर्वज्ञ प्रभुप्राप्ति के लिए **अपः**=कर्मों को **सस्रुतः**=समानरूप से बहनेवाला **कः** करता है। जिस समय हम सोमरक्षण कर पाते हैं, तो शक्ति प्राप्त करके निरन्तर उत्तम कर्मों में लगे हुए हम प्रभु को प्राप्त करनेवाले बनते हैं। (२) **अहिं अहन्**=वासनारूप वृत्र का विनाश करते हैं। 'निरन्तर कर्म में लगे रहना' वासनाविनाश का सर्वोत्तम साधन है। वासना को विनष्ट करके यह **सप्त सिन्धून्**=शरीरस्थ सात ऋषियों के सात ज्ञानप्रवाहों को **अरिणात्**=गतिमय करता है और **अपिहिता इव**=वासनाओं से ढकी हुई-सी **खानि**=इन इन्द्रियों को **अपावृणोत्**=अज्ञान का आवरण हटाकर खोल देता है। वासनाओं के परदे को दूर करके इन इन्द्रियों को स्वकार्य करने में सशक्त करता है।

भावार्थ—प्रभुप्राप्ति के लिए निरन्तर कर्मशील बनना आवश्यक है। यही वासनाविनाश का मार्ग है।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—इन्द्रासोमौ॥ छन्दः—भुरिक्पङ्क्तिः॥ स्वरः—पञ्चमः॥

सूर्यचक्र का पराभव

त्वा युजा नि खिदत्सूर्यस्येन्द्रश्चक्रं सहसा सद्य इन्दो।
अधि ष्णुना बृहता वर्तमानं महो द्रुहो अप विश्वायु धायि॥ २॥

(१) हे **इन्दो**=हमें शक्तिशाली बनानेवाले सोम! **त्वा युजा**=तुझ साथी के साथ **इन्द्रः**=यह जितेन्द्रिय पुरुष **सद्यः**=शीघ्र ही **सहसा**=शत्रुओं को अभिभूत करनेवाले बल से **सूर्यस्य**=सूर्य के **चक्रम्**=चक्र को **निखिदत्**=(overpower) पराभूत कर देता है। इस इन्द्र की तेजस्विता के सामने सूर्य की तेजस्विता भी हीन प्रतीत होने लगती है। सूर्य के उस चक्र को यह पराभूत कर देता है, जो कि **बृहता**=बड़े **ष्णुना**=शिखर के साथ (स्न्यु top) **अधिवर्तमानम्**=वर्तमान है, अर्थात् जो अत्युच्च स्थान में स्थित है, उस सूर्य-चक्र को भी यह पराभूत कर देता है। (२) इस प्रकार सूर्य-चक्र को पराभूत करनेवाले तेज से युक्त हुआ-हुआ यह पुरुष **विश्वायु**=सम्पूर्ण जीवन में **महः द्रुहः**=महान् द्रोह से **अपधायि**=दूर रखा जाता है। तेजस्वी बनकर यह किसी के प्रति द्रोहवृत्तिवाला नहीं होता।

भावार्थ—सोमरक्षण से हम तेजस्वी बनते हैं। अपने तेज से सूर्य-मण्डल को भी पराभूत करनेवाले होते हैं। यह तेजस्विता हमें द्रोहवृत्तियों से पृथक् रखती है।

ऋषिः — वामदेवः ॥ देवता — इन्द्रासोमौ ॥ छन्दः — विराट्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः — धैवतः ॥

पुरा मध्यन्दिनात्

अहृन्निन्द्रो अदहदग्निरिन्दो पुरा दस्यून्मध्यन्दिनादभीके।
दुर्गे दुरोणे क्रत्वा न यातां पुरू सहस्रा शर्वा नि बर्हीत्॥ ३॥

(१) हे **इन्दो**-हमें शक्तिशाली बनानेवाले सोम! **इन्द्रः**-एक जितेन्द्रिय पुरुष **अभीके** संग्राम में **मध्यन्दिनात् पुरा**-जीवन के मध्याह्न से पूर्व जीवन के पूर्वाह्न में ही, **दस्यून्** दास्यववृत्तियों को **अहन्** नष्ट करता है। **अग्निः** यह प्रगतिशील जीव इन शत्रुओं को **अदहत्** जला देता है। जीवन के अपराह्न में तो वासनाएँ स्वयं भी कुछ शान्त ही हो जाती हैं। जीवन के पूर्वाह्न में ही इन वासनाओं को नष्ट करना व दग्ध करना आवश्यक है 'प्रथमे वयसि यः शान्तः स शान्त इति कथ्यते। धातुषु क्षीयमाणेषु शमः कस्य न जायते'। (२) **न**-और (न इति चार्थे) **दुरोणे** (दुरवने रक्षितुमशक्ये) जिस में रक्षण बड़ा कठिन है, ऐसे **दुर्गे**=कठिन संसारमार्ग में **क्रत्वा** पुरुषार्थ के साथ व यज्ञों के साथ **याताम्** जाते हुओं के **पुरूसहस्रा**-बहुत हजारों शत्रुओं को **शर्वा** वह शत्रुओं का संहार करनेवाला प्रभु **निबर्हीत्**-विनष्ट करता है। हम यज्ञादि कर्मों में प्रवृत्त रहते हैं, तो प्रभु हमारे वासनारूप शत्रुओं को विनष्ट करते हैं।

भावार्थ—हम 'इन्द्र' बनें जितेन्द्रिय बनें। 'अग्नि' बनें प्रगतिशील बनें, तभी हम यौवन में वासनाओं को जीत पाएँगे। इस कठिन जीवनमार्ग में यदि हम यज्ञादि कर्मों में प्रवृत्त रहते हैं, तो प्रभु हमारी वासनाओं का संहार करते हैं। सोमरक्षण हमें वासना विजय के लिए समर्थ करता है।

ऋषिः — वामदेवः ॥ देवता — इन्द्रासोमौ ॥ छन्दः — त्रिष्टुप् ॥ स्वरः — धैवतः ॥

शत्रुसंहार

विश्वस्मात्सीमधमाँ इन्द्र दस्यून्विशो दासीरकृणोरप्रशस्ताः।
अबाधेथाममृणतं नि शत्रूनविन्देथामपचितिं वधत्रैः ॥ ४॥

(१) हे **इन्द्र** सब शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले प्रभो! आप **सीम्**-निश्चय से **दस्यून्** इन दास्यववृत्तिवाले लोगों को **विश्वस्मात्**-सब से **अधमान्**-हीन **अकृणोः** करते हैं। **दासीः**-(अकर्मा दस्युः) कर्महीन **विशः**-प्रजाओं को **अप्रशस्ताः**-अप्रशस्त जीवनवाला **अकृणोः** कर देते हैं। क्रियाशील पुरुष ही उत्कृष्ट जीवनवाला बनता है। (२) हे इन्द्र और सोम! आप दोनों मिलकर **शत्रून्**-शत्रुओं को, काम-क्रोध आदि अप्रशस्तवृत्तियों को **अबाधेथाम्** बाधित करते हैं, **निआमृणतम्** इन्हें निश्चय से कुचल डालते हैं। इन **वधत्रैः** शत्रुओं पर किये गये प्रहारों से आप **अपचितिम्** पूजा को **अविन्देथाम्** प्राप्त करते हैं। वस्तुतः काम क्रोध आदि शत्रुओं को जीतना ही इस जीवन की सर्वमहान् साधना है।

भावार्थ—हम जितेन्द्रिय बनकर दास्यव वृत्तियों से ऊपर उठें। क्रियाशील बनकर प्रशस्त जीवनवाले हों। जितेन्द्रियता व सोमरक्षण द्वारा सब शत्रुओं को पराजित करें।

ऋषिः — वामदेवः ॥ देवता — इन्द्रासोमौ ॥ छन्दः — पङ्क्तिः ॥ स्वरः — पञ्चमः ॥

इन्द्रियों का समादर

एवा सत्यं मघवाना युवं तदिन्द्रश्च सोमोर्वमश्व्यं गोः।
आदर्दृतमपिहितान्यश्ना रिरिचथुः क्षाश्चित्ततृदाना॥ ५॥

(१) हे **सोम**=सोम! तू **च**=और **इन्द्रः**=वह शत्रु-विनाशक प्रभु **युवम्**=आप दोनों **एवा**=इस प्रकार **सत्यम्**-सचमुच ही **तत्** उस **अश्व्यम्**-कर्मेन्द्रियों के समूह को और **गोः ऊर्वम्**-ज्ञानेन्द्रियों के समूह को **आदर्दृतम्** (आदरयतम्) आदृत करो। इनको काम-क्रोध आदि से आक्रान्त न होने देकर इनको पवित्र बनाए रखो। इन्द्रियों की पवित्रता के लिए आवश्यक है कि हम इन्हें विषयों में फँसने से बचाएँ। हमारे जीवन का लक्ष्य सोम का रक्षण हो तथा हम उस शत्रु विद्रावक प्रभु का स्मरण करें। (२) **अश्ना** नाना प्रकार के विषयों के खाने की वृत्ति से **अपिहितानि** आच्छादित हुई हुई इन इन्द्रियों को इन्द्र और सोम **रिरिचथुः**-रिक्त करते हैं-इन्हें इन विषयों में नहीं फँसने देते। **ततृदाना** शत्रुओं के हिंसक सोम और इन्द्र **क्षाः चित्**-इन शरीर-भूमियों को भी रोग आदि से रिक्त करते हैं।

भावार्थ—सोमरक्षण को जीवन का लक्ष्य बनाकर इन्द्र का स्मरण करते हुए हम इन्द्रियों को विषयों से मुक्त करते हैं। शरीरों को नीरोग बनाते हैं।

सूक्त का भाव यही है कि हम वासनारूप शत्रुओं को जीतकर सूर्यसम तेजस्वी बनें और प्रभु को प्राप्त करें। उपासना से शक्तिप्राप्ति के भाव से ही अगले सूक्त का प्रारम्भ है—

[२९] एकोनत्रिंशं सूक्तम्

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

'सत्यराधाः' प्रभु

आ नः॑ स्तुत उप॒ वाजे॑भिरू॒ती इन्द्र॑ या॒हि हरि॑भिर्मन्दसा॒नः।
ति॒रश्चि॑द॒र्यः सव॑ना पु॒रूण्या॑ङ्गू॒षेभि॑र्गृणा॒नः स॒त्यरा॑धाः॥ १॥

(१) हे **इन्द्र**-परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **स्तुतः**-स्तुति किये गये आप **नः**=हमारे **उप**-समीप **ऊती** रक्षा करने के लिए **वाजेभिः**-शक्तियों के साथ **आयाहि**=आइये। शक्तियों को प्राप्त कराके आप हमें आत्मरक्षण के योग्य बनाते हैं **मन्दसानः**-आनन्दित करते हुए आप **हरिभिः**-इन्द्रियाश्वों के साथ हमें प्राप्त होते हैं। उत्तम इन्द्रियाश्वों द्वारा आप हमारे आनन्द का कारण बनते हैं। (२) **अर्यः**-स्वामी आप **तिरः चित्**-तिरोहित होते हुए भी-हमें न दिखते हुए भी आप **पुरूणि**=पालक व पूरक **सवना** यज्ञों के प्रति रक्षणार्थ प्राप्त होते हैं-सर्व यज्ञों के रक्षक आप ही तो हैं 'अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च'। आप **आंगूषेभिः**-हमारे से किये जानेवाले स्तोत्रों से **गृणानः**-स्तुति किये जाते हैं और **सत्यराधाः**=सत्यधनवाले हैं। स्तुत होने पर आप सत्यधन हमें प्राप्त कराते हैं।

भावार्थ—हम प्रभु का स्तवन करें। स्तुत-प्रभु हमारा रक्षण करते हैं, हमें उत्तम इन्द्रियाश्व प्राप्त कराते हैं और यज्ञों की प्रेरणा देते हैं। वे सत्यधन देनेवाले हैं।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

'स्वश्व-अभीरु मन्यमान'

आ हि ष्मा॒ याति॒ नर्य॑श्चिकि॒त्वान्हू॒यमा॑नः सो॒तृभि॒रुप॑ य॒ज्ञम्।
स्वश्वो॒ यो अभी॑रु॒र्मन्य॑मानः सुष्वा॒णेभि॒र्मद॑ति॒ सं ह॑ वी॒रैः॥ २॥

(१) **नर्यः**-सब नरों का हित करनेवाले उन्नतिपथ पर चलनेवालों का कल्याण करनेवाले **चिकित्वान्**=सर्वज्ञ प्रभु **सोतृभिः**=सोम का सवन करनेवालों से **हूयमानः** पुकारे जाते हुए **उपयज्ञम्** उनके यज्ञों में **हि**-निश्चय से **आयातिस्म** आते ही हैं। हम सोम का अपने में सम्पादन करें। यज्ञशील बनने पर उन यज्ञों के रक्षक के रूप में हम प्रभु को अनुभव करेंगे। (२)

स्वश्वः-उत्तम इन्द्रियाश्वोंवाले, **यः**-जो **अभीरुः**-सब भयों से रहित हैं, **मन्यमानः**-सर्वज्ञ हैं, वे प्रभु **सुष्वाणेभिः** सोम का सवन करनेवाले **वीरैः**=वीर पुरुषों के साथ **ह** निश्चयपूर्वक **संमदति** आनन्द का अनुभव करते हैं, अर्थात् इन सोम को शरीर में उत्पन्न करनेवाले वीरपुरुषों से प्रभु प्रसन्न होते हैं। ये व्यक्ति प्रभुकृपा से ही उत्तम इन्द्रियाश्वों को प्राप्त करते हैं, निर्भय होते हैं और उत्तरोत्तर ज्ञान बढ़ानेवाले होते हैं।

भावार्थ—हम सोम का शरीर में रक्षण करें वीर बनें। ऐसा करने पर हम प्रभु के प्रिय होंगे। प्रभु हमें 'स्वश्व–अभीरु–मन्यमान' बनाएँगे।

ऋषिः—**वामदेवः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

सुतीर्थ व अभय

श्रावयेदस्य कर्णा वाजयध्यै जुष्टामनु प्र दिशं मन्दयध्यै।
उद्वावृषाणो राधसे तुविष्मान्करन्न इन्द्रः सुतीर्थाभयं च॥ ३॥

(१) हे जीव! तू **वाजयध्यै**=शक्ति प्राप्त करने के लिए **कर्णा**-अपने कानों को **अस्य प्रदिशम्** इस प्रभु के प्रकृष्ट निर्देशों को **इत्**=निश्चय से **श्रावय**-सुन। यदि तेरे कान प्रभु के निर्देशों को सुनेंगे, तो तू अवश्य शक्ति-सम्पन्न बनेगा। उस निर्देश को तू अपने को सुनानेवाला बन, जो कि **जुष्टां अनु**=सेवित होने के अनुपात में **मन्दयध्यै**-हर्षप्राप्ति के लिए होता है। जितना-जितना हम प्रभु के निर्देशों को सुनते हैं और पालते हैं (जुष्टां) उतना-उतना हमारा जीवन आनन्दमय बनता है। (२) **उद्वावृषाणः**-अत्यन्त सुखों का हमारे पर वर्षण करता हुआ प्रभु **नः** हमें **राधसे करत्**-सफलता के लिए करते हैं। **तुविष्मान्**-वे बलवान् (शक्तिशाली) **इन्द्रः** प्रभु हमारे लिए **सुतीर्था**='उत्तम माता पिता आचार्य' रूप तीर्थों को प्राप्त कराते हैं **च**-और इनके द्वारा **अभयम्**=निर्भयता को प्राप्त कराते हैं। माता हमारे चरित्र का निर्माण करती है, पिता आचार का तथा आचार्य ज्ञान का निर्माण करता है। इस प्रकार सच्चरित्रता, सदाचार व ज्ञान हमारे जीवन को निर्भय बनाते हैं।

भावार्थ—हम प्रभु के निर्देशों को सुनें, उन्हें पालें। प्रभु हमें उत्तम माता पिता आचार्य रूप तीर्थों द्वारा सच्चरित्र, सदाचारी व ज्ञानी बनाकर निर्भयता प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—**वामदेवः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

उत्तम इन्द्रियाश्वों की प्राप्ति

अच्छा यो गन्ता नाधमानमूती इत्था विप्रं हवमानं गृणन्तम्।
उप त्मनि दधानो धुर्या३शून्त्सहस्राणि शतानि वज्रबाहुः॥ ४॥

(१) **यः** जो प्रभु **ऊती**-रक्षण के साथ **इत्था** ठीक-ठीक **नाधमानम्**-प्रार्थना करते हुए की **अच्छा** ओर **गन्ता**-जानेवाले हैं। आराधक की रक्षा करने के लिए प्रभु प्राप्त होते ही हैं। उसको प्राप्त होते हैं, जो कि **विप्रम्** विशेषरूप से अपना पूरण करने का प्रयत्न करता है, **हवमानम्** प्रभु को पुकारता है, **गृणन्तम्**-प्रभु का स्तवन करता है। (२) **वज्रबाहुः** वे वज्रहस्त प्रभु सतत क्रियावाले प्रभु **धुरि** हमारे शरीररूप रथों के धुराओं में **सहस्राणि**-आनन्द के देनेवाले जिन की गति हमारे आनन्द का कारण बनती है, **शतानि**-सौ वर्ष तक चलनेवाले जीवन के अन्त तक सशक्त बने रहनेवाले **आशून्**-शीघ्रगामी इन्द्रियाश्वों को **त्मनि**-आत्मा में, अर्थात् आत्मवश्यता में **उपदधानः** स्थापित करते हैं। प्रभु हमें ऐसे इन्द्रियाश्वों को प्राप्त कराते हैं, जो कि (क) आनन्द

वृद्धि का कारण बनते हैं (सहस्राणि), (ख) जीवनभर शतवर्ष पर्यन्त सशक्त रहते हैं और (ग) आत्मवश्य होते हैं (त्मनि)।

भावार्थ—आराधक को प्रभु प्राप्त होते हैं और उसके लिए उत्तम इन्द्रियाश्वों को प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—स्वराट् पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

'बृहद्दिव, आकाय्य व पुरुक्षु'

त्वोता॑सो मघवन्निन्द्र॒ विप्रा॑ व॒यं ते॑ स्याम सू॒रयो॑ गृ॒णन्तः॑।
भे॒जा॒नासो॑ बृ॒हद्दि॑वस्य रा॒य आ॑का॒य्य॑स्य दा॒वने॑ पु॒रु॒क्षोः॥ ५॥

(१) हे **मघवन्**-परमैश्वर्यवाले! **इन्द्र**=शत्रुओं के विद्रावक प्रभो! **त्वा**-आपसे **ऊतासः**=रक्षित हुए हुए **विप्राः**=अपना पूरण करनेवाले **वयम्**=हम **ते स्याम**=आपके हों। **सूरयः**=हम ज्ञानी बनें और **गृणन्तः**=सदा स्तवन करनेवाले हों। प्रभु से रक्षित हुए-हुए हम मस्तिष्क के दृष्टिकोण से ज्ञानी तथा मन के दृष्टिकोण से स्तवन की वृत्तिवाले हों। (२) हे प्रभो! हम **बृहद्दिवस्य**=महान् ज्ञानवाले, **आकाय्यस्य**=समन्तात् स्तुत्य **पुरुक्षोः**=बहुत कीर्तिवाले आपके **रायः दावने**=धन के दान में **भेजानासः**=भागीदार हों। आप से दिये जानेवाले ऐश्वर्य के हम भी पात्र हों। वह धन हमारे ज्ञान की वृद्धि में सहायक हो-हमें भी 'बृहद्दिव' बनाए। यह धन हमारे जीवन को स्तुत्य बनानेवाला हो-इस धन के द्वारा हम 'आकाय्य' बनें। यह धन दान में विनियुक्त होकर हमारी कीर्ति बढ़ानेवाला हो-हम 'पुरुक्षु' बनें।

भावार्थ—प्रभु से रक्षित होकर हम ज्ञानी व स्तवन की वृत्तिवाले बनें। प्रभु हमें वह धन दें, जो कि हमें 'ज्ञानी, प्रशस्त जीवनवाला व कीर्ति-सम्पन्न' बनाए।

सूक्त का भाव यही है कि प्रभु हमारे जीवन को 'स्वश्व, अभीरु, मन्यमान, बृहद्दिव, आकाय्य व पुरुक्षु' बनाएँ। ऐसा बनने के लिए ही आराधक प्रभु की उपासना करता हुआ कहता है कि—

[३०] त्रिंशं सूक्तम्

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—निचृद्गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

'अनुपम' प्रभु

नकि॑रिन्द्र॒ त्वदुत्त॑रो॒ न ज्याया॑ँ अस्ति वृत्रहन्। नकि॑रे॒वा यथा॒ त्वम्॥ १॥

(१) हे **इन्द्र**=सब शक्ति के कर्मों को करनेवाले परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! (सर्वाणि बलकर्माणि इन्द्रस्य, इदि परमैश्वर्ये) **त्वद्**=आप से **उत्तरः**=उत्कृष्टतर **नकिः**=कोई भी नहीं है। आपकी शक्ति व ऐश्वर्य को कोई भी अभिभूत नहीं कर सकता। (२) हे **वृत्रहन्**=सब ज्ञान की आवरणभूत वासनाओं को विनष्ट करनेवाले प्रभो! आप से **ज्यायान्**=अधिक प्रशस्यतर **न**=कोई भी नहीं है। आप ही उपासक को वासना शून्य जीवनवाला बनाकर उत्कृष्ट स्थिति प्राप्त कराते हैं। परन्तु एक उपासक कितना भी उत्कृष्टतर व प्रशस्यतर जीवनवाला बनता जाए, तो भी वह **यथा त्वम्**=जैसे आप हैं, वैसा **नकिः एव**=नहीं ही बन सकता 'न मुक्तानामपि हरेः साम्यम्'। प्रभु अनुपम हैं 'न तस्य प्रतिमा अस्ति'।

भावार्थ—प्रभु से न कोई उत्कृष्टतर है, न प्रशस्यतर। प्रभुं जैसा भी कोई नहीं।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

भ्रामयन् सर्वभूतानि

सत्रा ते अनु कृष्टयो विश्वा चक्रेव वावृतुः। सत्रा महाँ असि श्रुतः ॥ २ ॥

(१) हे इन्द्र! **सत्रा**-सचमुच **विश्वा चक्रा इव** जैसे सब चक्र आपकी शक्ति से ही चल रहे हैं क्या दिन रात का चक्र, सप्ताह का चक्र, शुक्ल-कृष्ण पक्षों का चक्र, मासों का चक्र, ऋतुओं का चक्र, वर्षों व युगों का चक्र और क्या सूर्यादि पिण्डों के चक्र सब आपकी शक्ति से ही चल रहे हैं, इसी प्रकार **कृष्टयः**-सब मनुष्य **ते अनु वावृतुः** आपके शासन के अनुसार चल रहे हैं। 'भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया'। (२) हे प्रभो! आप **सत्रा** सचमुच ही **महान् श्रुतः** महान् प्रसिद्ध **असि**- हैं। सर्वत्र आपकी कीर्ति विद्यमान है। कण कण में आपकी महिमा दृष्टिगोचर हो रही है। आप ही पूज्य हैं, ज्ञानी हैं।

भावार्थ—सब प्रजाएँ प्रभु की शक्ति से ही गतिवाली हो रही हैं। वे प्रभु ही महान् हैं, प्रसिद्ध हैं।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—निचृद्गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

दिन-रात शत्रु-विनाश

विश्वे चनेदना त्वा देवास इन्द्र युयुधुः। यदहा नक्तमातिरः ॥ ३ ॥

(१) हे **इन्द्र**-सब शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले प्रभो! **विश्वे चन देवासः** सब ही देववृत्ति के व्यक्ति असुरों को पराजित करने की कामनावाले (दिव् विजिगीषा) व्यक्ति **इत्** निश्चय से **अना**-प्राणशक्तिरूप **त्वा**=आप से मेल को प्राप्त करके **युयुधुः** युद्ध करते हैं। आपकी सहायता के बिना उनके लिए काम क्रोध आदि शत्रुओं से युद्ध करना सम्भव नहीं होता। (२) **यत्** क्योंकि आप ही **अहानक्तम्**-दिन-रात **आ अतिरः**-समन्तात् शत्रुओं का वध करते हैं। प्रभु की शक्ति से ही इन शत्रुओं का संहार होता है।

भावार्थ—देववृत्ति के लोग प्रभु को हृदयस्थ करके काम क्रोध आदि शत्रुओं से युद्ध करते हैं। प्रभु ही इनके शत्रुओं का संहार करते हैं।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—विराड्गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

सहस्त्रार-चक्र का उद्बोधन

यत्रोत बाधितेभ्यश्चक्रं कुत्साय युध्यते। मुषाय इन्द्र सूर्यम् ॥ ४ ॥

(१) गतमन्त्र के अनुसार **यत्र** जिस, आसुरभावों के साथ होनेवाले युद्ध में **उत** और **बाधितेभ्यः** (बाधा संजाता अस्य) काम-क्रोध आदि पीड़ित करनेवाले आसुरभावों के लिए, अर्थात् इन आसुरभावों के विनाश के लिए **युध्यते कुत्साय**-आसुरभावों से युद्ध करनेवाले वासनाओं के हिंसिक कुत्स के लिए हे **इन्द्र**-शत्रु विद्रावक प्रभो! आप **सूर्यं चक्रम्** सूर्य सम्बन्धी चक्र को **मुषायः**-पराभूत करते हैं, अर्थात् कुत्स को आप सूर्य चक्र से भी अधिक तेजस्वी चक्र प्राप्त कराते हैं। (२) शरीर में मेरुदण्ड के मूल में मूलाधार चक्र है और शिखर पर 'सहस्त्रार चक्र' है। यह सहस्त्रार चक्र सूर्य से भी अधिक तेजस्वी है। इस चक्र के विकसित होने पर सब अन्धकार समाप्त हो जाता है। अन्धकार के विलय के साथ सब वासनाओं का विलय हो जाता है। वासनाविलय करनेवाला यह सचमुच 'कुत्स' बनता है।

भावार्थ—प्राणसाधना से सहस्त्रार चक्र विकसित होने पर सब पीड़ाकर आसुरभाव विनष्ट

हो जाते हैं।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—निचृद्गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

हिंसकों की हिंसा

यत्र देवाँ ऋघायतो विश्वाँ अयुध्य एक इत्। त्वमिन्द्र वनूँरहन्॥ ५॥

(१) हे **इन्द्र**=शत्रु-विद्रावक प्रभो! **यत्र**=जब **देवान्**-दिव्य गुणों को **ऋघायतः**-हिंसित करनेवाले **विश्वान्**=सब आसुरभावों को **एकः इत्**=आप अकेले ही **अयुध्यः**=युद्ध द्वारा परास्त करते हैं। बिना आपके इनका पराभव सम्भव नहीं होता। (२) हे इन्द्र! **त्वम्**-आप ही **वनून्**-इन हिंसक शत्रुओं को **अहन्**-विनष्ट करते हैं। इनका विनाश होने पर ही दिव्यगुणों का विकास होता है।

भावार्थ—प्रभु की उपासना से हिंसक भावों का विनाश होकर दिव्यगुणों का विकास होता है।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—विराड्गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

एतश

यत्रोत मर्त्याय कमरिणा इन्द्र सूर्यम्। प्रावः शचीभिरेतशम्॥ ६॥

(१) हे **इन्द्र**-शत्रु-विनाशक प्रभो! **उत यत्र**=और जब **मर्त्याय**=वासनाओं से निरन्तर आक्रान्त होनेवाले इस पुरुष के लिये आप के **सूर्यम्**-सुखप्रद सूर्य को **अरिणाः**=(रिणाति give grant) देते हैं, अर्थात् जब आप सब अज्ञानान्धकार को विनष्ट करने के लिए इसमें 'सहस्रार चक्र' का विकास करते हैं, तो उस समय **शचीभिः**=शक्तियों व प्रज्ञानों के साथ **एतशम्**=(Shining) इस दीप्त ज्ञानवाले को **प्रावः**-सुरक्षित करते हैं। (२) सहस्रार-चक्र के उद्बोधन से पूर्व काम क्रोध के आक्रमण की आशंका बनी ही रहती है। इस चक्र का उद्बोधन होने पर इन शत्रुओं का दहन हो जाता है और मनुष्य 'मर्त्य' न रहकर 'अमर' हो जाता है। इसे प्रभुकृपा से शक्ति व प्रज्ञान प्राप्त होता है। यह दीप्त जीवनवाला 'एतश' (Shining) इस यथार्थ नामवाला होता है।

भावार्थ—प्रभुकृपा से सहस्रार-चक्र का उद्बोधन होने पर शक्ति व प्रज्ञान की प्राप्ति होती है।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

दानवी वृत्तियों का दहन

किमादुतासि वृत्रहन्मघवन्मन्युमत्तमः। अत्राह दानुमातिरः॥ ७॥

(१) हे **वृत्रहन्**-वासना को विनष्ट करनेवाले और **मघवन्**-ज्ञानैश्वर्यवाले प्रभो! आप **किम्**-क्या ही **मन्युमत्तमः** अत्यन्त उत्कृष्ट ज्ञानवाले हैं? अनन्त है आपका ज्ञान। (२) **उत**-और **आत्**-शीघ्र ही आप **अत्र अह**=इस जीवन में ही **दानुम्**=हमारी दानवी वृत्ति को **आतिरः**-विनष्ट कर देते हैं। मैं आपकी उपासना करता हूँ। इस उपासना से ही आपकी उस ज्ञान की ज्वाला में मेरी सब वासनाएँ भस्म हो जाती हैं। सचमुच आश्चर्य होता है कि किस प्रकार मैं वासनाओं से परेशान हो रहा था। आपकी उपासना करते ही वे सब वासनाएँ अत्यन्त निर्बल पड़ जाती हैं, निर्बल क्या, विनष्ट ही हो जाती हैं।

भावार्थ—प्रभु ज्ञान की प्रचण्ड ज्वालावाले हैं, उसमें उपासक की सब दानवी वृत्तियाँ दग्ध हो जाती हैं।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—विराडनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

उषा का वध

एतद्घेदुत वीर्यं१मिन्द्र चकर्थ पौंस्यम्। स्त्रियं यद्दुर्हणायुवं वधीर्दुहितरं दिवः ॥ ८ ॥

(१) जीवन में रात्रि का समय स्वप्नावस्था में बीतता है अचेतन सी अवस्था में। इसलिए उस समय पाप की सम्भवाना नहीं रहती। दिन में जागरित हो जाने से पुरुष पापों से अपना बचाव कर लेता है। उषाकाल ऐसा है, जो कि न स्वप्न का और नां ही पूर्ण जागरण का है। इस समय ही पापों का होने सम्भव है। उन पापों से बचने का उपाय यही है कि हम पूर्ण जागरण की स्थिति में होने का प्रयत्न करें। इसी को काव्यमय भाषा में इस प्रकार कहेंगे कि उषा के रथ का विदारण करके आगे बढ़ें। उषा तो मानो 'उष दाहे' हमें 'काम' आदि वासनाओं से संतप्त करती है। इसका वध आवश्यक है। (२) सो मन्त्र में कहते हैं कि, हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष **उत** और **एतत्** यह **घा इत्**-निश्चय से तू **पौंस्यम्**-'पुंसः योग्यम्' (पू+मसुन्) जीवन को पवित्र करनेवाले **वीर्यम्**-शक्तिशाली कर्म को **चकर्थ**=करता है **यत्**-कि **दुर्हणायुवम्** (दुष्टं हननमिच्छन्तीम्) हमारे भयंकर नाश को चाहती हुई इस **दिवः दुहितरम्**-(दिव्-स्वप्न) स्वप्न की दुहिता को स्वप्न की पूरिका को स्वप्न की समाप्ति पर आनेवाली **स्त्रियम्** हमारे संघात की कारणभूत (स्त्यै संघाते) इस उषा को **वधाः** तुम नष्ट करते हो। उषा को नष्ट करके जीवन में ज्ञान सूर्य का उदय करके पापवृत्ति से ऊपर उठते हो।

भावार्थ—हम स्वप्न की समाप्ति पर उषा की अर्धजागरित स्थिति को शीघ्र समाप्त करके, जागरित स्थिति में आने का प्रयत्न करें, ताकि पापवासनाओं से आक्रान्त न हों।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्र उषाश्च ॥ छन्दः—निचृद्गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

अर्ध चेतनावस्था का विनाश

दिवश्चिद्घा दुहितरं महान्महीयमानाम्। उषासमिन्द्र सं पिणक् ॥ ९ ॥

(१) हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष! तू **महान्**='मह पूजायाम्' प्रभुपूजा की वृत्तिवाला बन। प्रभु का उपासक बन करके **इत्**-ही **चित् घा**-निश्चय से तू **उषासम्**-उषा को **संपिणक्** संपिष्ट करनेवाला होता है। इस अर्ध जागरित स्थिति को समाप्त करके तू जागरित स्थिति में आ जाता है। (२) यह उषा **दिवः दुहितरम्**-(दिव् स्वप्ने) स्वप्न की पुत्री है। स्वप्नावस्था से इसकी उत्पत्ति होती है। स्वप्न के अनन्तर आनेवाली यह पूर्ण जागरित न होने से हमारे पापों के उदय का कारण बनती है। सो इसका विनाश आवश्यक है। **महीयमानाम्** यह पूर्ण जागरण के अभाव में बड़े बड़े स्वप्न देखती है गर्व का अनुभव करती है वास्तविक स्थिति से सदा ओझल रहती है।

भावार्थ—एक जितेन्द्रिय पुरुष को चाहिए कि रात्रि समाप्त होने पर पूर्ण जागरित स्थिति में आने का प्रयत्न करे। अर्धचेतन अवस्था में व्यर्थ के गर्व को न अनुभव करता रहे।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्र उषाश्च ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

उषा के रथ का संपेषण

अपोषा अनसः सरत्संपिष्टादह बिभ्युषी। नि यत्सीं शिश्नथद्वृषा ॥ १० ॥

(१) **यत्**-जब **सीम्**-निश्चय से **वृषा**-शक्ति का अपने अन्दर सेचन करनेवाला इन्द्र **निशिश्नथद्**-उषा के शकट को हिंसित करता है, अर्थात् शीघ्रता से पूर्ण जागरित स्थिति में आने का यत्न करता है तो **अह**-निश्चय से **उषा**-यह वासनाओं से संतप्त करनेवाला कालक्षण **बिभ्युषी**-मानो

भयभीत हुए हुए **संपिष्टाद् अनसः**-पिसे हुए शकट से **अप असरत्** दूर भाग जाता है। (२) अर्धचेतनावस्था को परे फेंककर जाग उठना ही ठीक है। इसी से हम वासनाओं से संतप्त होने से बच पाएँगे। इस प्रकार अर्ध चेतनावस्था को परे फेंकना ही उषा के रथ का संपेषण है।

भावार्थ—उषा के रथ का संपेषण करके हम पूर्ण चेतनावस्था में आने का प्रयत्न करें। यही वासनाओं से असंतप्त होने का मार्ग है।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्र उषाश्च ॥ छन्दः—निचृद्गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

आत्मप्रेरणा

एतदस्या अनः शये सुसंपिष्टं विपाश्या। ससार सीं परावतः ॥ ११ ॥

(१) हम प्रातः जागें तो अपने को निम्न प्रकार से आत्मप्रेरणा देते हुए पूर्णतया जाग उठें कि—**अस्याः** इस उषा का **एतत्**-यह **अनः**=शकट **विपाशि**-एक-एक पाश के छिन्न-भिन्न कर देने पर **सुसम्पिष्टम्** सम्यक् चूर्णित हुआ हुआ **आशये**=इधर-उधर (चारों ओर) तितर-बितर हुआ पड़ा है। (२) यह उषा **सीम्**-निश्चय से **परावतः ससार** सुदूर देश में निकल गई है। अब मैं जाग उठा हूँ। अपूर्ण जागृति में उत्पन्न होनेवाली वासनाएँ अब मुझे सन्तप्त नहीं कर सकतीं।

भावार्थ—हम उषा के शकट को तोड़कर सूर्य के रथ पर आरूढ़ हों, ताकि उसके प्रचण्ड प्रकाश में वासनान्धकार विलीन हो जाए।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—निचृद्गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

विबाल्य सिन्धु

उत सिन्धुं विबाल्यं वितस्थानामधि क्षमि। परि ष्ठा इन्द्र मायया ॥ १२ ॥

(१) हे **इन्द्र** सब शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले प्रभो! आप काम आदि शत्रुओं का संहार करते हैं, **उत**-और **विबाल्यम्**=बाल्यावस्था से ऊपर उठे हुए अथवा मूर्खता से शून्य **वितस्थानाम्** (वितिष्ठमानां) विशेषरूप से स्थित **सिन्धुम्**-इस ज्ञाननदी को **अधिक्षमि** इस पृथिवी रूप शरीर में **मायया**=प्रज्ञान द्वारा **परिष्ठाः**=सर्वतः स्थापित करते हैं। (२) हे प्रभो! आप हमारी वासना को विनष्ट करते हैं और आपकी कृपा से हमारे जीवन में ज्ञान का प्रवाह प्रवाहित होने लगता है। यह ज्ञान नदी ज्ञानजल से भरपूर होती है। हमारे इस शरीर में इस ज्ञान का विशिष्ट स्थान होता है। शरीररूप पृथिवी की यह विशिष्ट नदी होती है।

भावार्थ—हे प्रभो! आपकी कृपा से मेरी ज्ञाननदी का प्रवाह भरपूर रूप से बहनेवाला हो।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

शुष्णासुर का विध्वंस

उत शुष्णस्य धृष्णुया प्र मृक्षो अभि वेदनम्। पुरो यदस्य संपिणक् ॥ १३ ॥

(१) **उत** और हे प्रभो! आप गतमन्त्र के अनुसार मेरे जीवन में ज्ञाननदी के प्रवाह को चलाते हैं और **धृष्णुया**-इस ज्ञान की शत्रुधर्षक शक्ति द्वारा **शुष्णस्य**=हमारा शोषण करनेवाले कामदेव के **वेदनम्**-धन को **अभि प्रमृक्षः**=बाधित करनेवाले होते हैं। शुष्ण के वेदन का आप सफाया कर देते हैं। कामदेव की सम्पत्ति को विनष्ट करके आप हमें ज्ञानैश्वर्य को प्राप्त करानेवाले होते हैं। (२) यह सब तब होता है, **यद्**-जब कि आप **अस्य पुरः**=इस कामदेव की नगरियों को **सम्पिणक्**-सम्यक् पीस डालते हैं। कामदेव की नगरियों के भस्मावशेष पर ही सरस्वती के भवन का निर्माण होता है।

भावार्थ—कामभावना समाप्त होने पर ही ज्ञानैश्वर्य प्राप्त होता है।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

शम्बर-हनन

उत दासं कौलितरं बृहतः पर्वतादधि। अवाहन्निन्द्र शम्बरम् ॥ १४ ॥

(१) हे **इन्द्र** शत्रु विनाशक प्रभो! आप गतमन्त्र के अनुसार शुष्ण को तो समाप्त करते ही हो। **उत** और **दासम्** हमारा उपक्षय करनेवाले **कौलितरम्** (कुलिः Hand, तेन प्रतारयति) हाथों में धोखा देनेवाले छलछिद्र में चलनेवाले, **शम्बरम्** शान्ति को आवृत कर लेनेवाले 'ईर्ष्या द्वेष' रूप इस शम्बरासुर को **बृहतः** दिन व दिन वृद्धि को प्राप्त होते हुए **पर्वतात्** (ज्ञानेन ब्रह्मचर्यादिना वा द०) ज्ञान से **अधि अवाहन्** नीचे नष्ट करते हैं। (२) जब मनुष्य ईर्ष्या से आक्रान्त हो जाता है, तब छलछिद्र का अवलम्बन करता ही है। टेढ़े मेढ़े साधनों से शत्रु को विनष्ट करता है। ईर्ष्या में सरलता समाप्त हो जाती है। इसलिए यहाँ 'शम्बर' को 'कौलितर' कहा गया है। हमारे स्वास्थ्य का भी विनाश करने से इसे 'दास' कहा गया है ज्ञान की वृद्धि होने पर ही ईर्ष्या समाप्त होती है। इसी बात को इस रूप में कहा गया है कि इसे बृहत् पर्वत से गिराकर चकनाचूर कर दिया जाए।

भावार्थ—ज्ञान की वृद्धि से ईर्ष्या का विनाश होता है। ईर्ष्या के कारण हम छलछिद्र को अपनाते हैं, यह हमारे स्वास्थ्य को भी विनष्ट कर देती है। सो इसका विनाश आवश्यक है।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

'वर्ची' के शतशः दुर्गों का संहार

उत दासस्य वर्चिनः सहस्राणि शतावधीः। अधि पञ्च प्रधींरिव ॥ १५ ॥

(१) 'वर्चस्' शब्द शक्ति के लिये प्रयुक्त होता है। इस शक्ति का प्रयोग उत्तम मार्ग से करनेवाला 'वर्चस्वी' कहलाता है। इस शक्ति का दुरुपयोग करनेवाला 'वर्ची' हो जाता है। **उत** और **दासस्य** औरों का उपक्षय करनेवाली **वर्चिनः**-दुष्ट शक्तिवाली आसुर भावना के **पञ्चशता** पाँच सौ अथवा **सहस्राणि** हजारों रूपों को हे प्रभो! आप **अधि अवधीः**-आधिक्येन नष्ट करते हैं। (२) इस प्रकार इन्हें नष्ट करते हैं, **इव** जैसे कि **प्रधीन्** चक्र के चारों ओर स्थित शंकुओं को नष्ट करते हैं। आसुरभावनाएँ हमें ऐसे ही घेरे रखती हैं, जैसे कि चक्र को शंकु घेरे हुए होते हैं। ये आसुर भावनाएँ अत्यन्त प्रबल होती हैं। ये हमारे विनाश का कारण बनती हैं। प्रभुकृपा से ही इनका विनाश होता है।

भावार्थ—हम वर्चस्वी बनें, नकि वर्ची। हमारी शक्ति परपीड़न में विनियुक्त होती हुई आसुर न बन जाए।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—निचृद्गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

प्रभु उपासना से 'परावृक्त' बनना

उत त्यं पुत्रमग्रुवः परावृक्तं शतक्रतुः। उक्थेष्विन्द्र आभजत् ॥ १६ ॥

(१) जैसे भिक्षु आदि शब्दों में 'उ' प्रत्यय है, इसी प्रकार 'अग्रु' में भी यही प्रत्यय है। स्त्रीलिंग में 'ऊङ्' प्रत्यय आकर 'अग्रू' हो जाता है। निरन्तर प्रगतिशील व्यक्ति 'अग्रु' है। इसका पुत्र, अर्थात् अत्यन्त प्रगतिशील यहाँ 'अग्रुवः पुत्रम्' कहा गया है। **शतक्रतुः** अनन्त प्रज्ञानों व कर्मोंवाले **इन्द्रः** परमैश्वर्यशाली प्रभु **उत**-निश्चय से **त्यम्** उस **अग्रुवः पुत्रम्**-अत्यन्त प्रगतिशील

परावृक्तम् व्यसनों से रहित (वृजी वर्जने) व्यक्ति को **उक्थेषु**-स्तोत्रों में **आभजत्** भागी करते हैं। इसे स्तोत्रों की ओर झुकाववाला बनाते हैं। (२) वस्तुतः प्रभु-स्तवन की ओर झुकाव ही इसे प्रगतिशील व व्यसनों में न फँसा हुआ बनाता है। शतक्रतु प्रभु की उपासना से हमारा जीवन भी यज्ञमय बनता है, स्वभावतः हम व्यसनों से बच जाते हैं। व्यसनों से बचना हमारी प्रगति का कारण बनता है।

भावार्थ—प्रभु की उपासना से हम व्यसनों से बचकर निरन्तर प्रगतिपथ पर आगे बढ़ते हैं।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

'शचीपति इन्द्र विद्वान्' आचार्य

उत त्या तुर्वशायदू अस्नातारा शचीपतिः। इन्द्रो विद्वाँ अपारयत्॥ १७॥

(१) **शचीपतिः** कर्म व प्रज्ञान का स्वामी **इन्द्रः** काम क्रोध आदि शत्रुओं का विद्रावण करनेवाला **विद्वान्**-ज्ञानी पुरुष **उत**-निश्चय से **त्या**-उन **तुर्वशायदू**-शीघ्रता से शत्रुओं को वश में करनेवाले तथा यत्नशील पुरुषों को, **अस्नातारा**=जो ज्ञान समुद्र में स्वयं स्नान नहीं कर सके, **अपारयत्**-इस समुद्र में स्नान कराके पार लगाता है। (२) आचार्य की विशेषताएँ 'शचीपति, इन्द्र व विद्वान्' शब्दों से व्यक्त की गई हैं। आचार्य को (क) कर्म व प्रज्ञान का स्वामी होना चाहिए, (ख) यह जितेन्द्रिय हो, (ग) अत्यन्त ज्ञानी हो। विद्यार्थी को तुर्वश व यदु बनना है। (क) यह शीघ्रता से काम-क्रोध आदि को वशीभूत करनेवाला हो, (ख) यत्नशील हो आलस्य शून्य। ऐसे ही विद्यार्थी को आचार्य ज्ञानसमुद्र के पार लगाने में समर्थ होता है। अस्नात को स्नात बनाता है। उस समय इसका नाम 'स्नातक' हो जाता है।

भावार्थ—'शचीपति इन्द्र विद्वान्' आचार्य 'तुर्वश यदु' विद्यार्थी को ज्ञान समुद्र में स्नान कराके स्नातक बनाता है।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—निचृद्गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

'अर्णाचित्ररथा' का सरयू के पार पहुँचना

उत त्या सद्य आर्या सरयोरिन्द्र पारतः। अर्णाचित्ररथावधीः॥ १८॥

(१) **उत**=और हे **इन्द्र**-परमैश्वर्यशाली प्रभो! आप **सद्यः**=शीघ्र ही **त्या** उन **आर्या**-श्रेष्ठ **अर्णाचित्ररथा**-(अर्ण=Being in motion) गतिशील और गतिशीलता के कारण ही (चित्र) अद्भुत, ज्ञानसम्पन्न, शरीर-रथवाले उपासकों को **सरयोः पारतः**-इस ज्ञाननदी के पार **अवधाः** (हन् गतौ) ले जाते हैं। (२) उल्लिखित मन्त्र के 'अपारयत्' का भाव यहाँ 'सरयोः पारतः अवधीः' इन शब्दों से कहा गया है। 'तुर्वशायदू' के स्थान में यहाँ 'अर्णाचित्ररथा' है। सरस्वती नदी यहाँ सरयू है। इसके पार जाना ही ज्ञानी बनना व स्नातक बनना है। आचार्य का मुख्य गुण 'इन्द्र' होना जितेन्द्रिय होना है। विद्यार्थी को 'आर्य'=नियमित गतिवाला बनना है disciplined।

भावार्थ—गतिशील व ज्ञानरुचि विद्यार्थी को आचार्य ज्ञाननदी के पार ले जाता है।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—निचृद्गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

'अन्ध व श्रोण' का नीरोग होना

अनु द्वा जहिता नयोऽन्धं श्रोणं च वृत्रहन्। न तत्ते सुम्नमष्टवे॥ १९॥

(१) हे **वृत्रहन्**-सब वासनाओं को विनष्ट करनेवाले प्रभो! **अन्धम्**-जिसकी ज्ञानेन्द्रियाँ ठीक काम नहीं करतीं और अतएव जो मार्ग को नहीं देख पाता **च**-तथा **श्रोणम्**=लंगड़े को जिसकी

कर्मेन्द्रियाँ ठीक काम नहीं करतीं और अतएव जो मार्ग पर नहीं चल पाता, उन **द्वा** दोनों को ही **जहिता** जो धर्ममार्ग से त्यक्त हो गये हैं, उन्हें आप **अनुनयः** ज्ञान और शक्ति देकर अनुकूलता से मार्ग पर आगे ले चलते हैं। प्रभु अन्धे को मानो आँखें दे देते हैं, लंगड़े को चलने की शक्ति प्राप्त करा देते हैं। (२) **ते** आपका **तत्** वह **सुम्नम्** आनन्द (happiness) व रक्षण (protection) **अष्टवे न** व्याप्त करने के लिए नहीं होता। आपके अतिरिक्त इस आनन्द व रक्षण को कोई और नहीं प्राप्त करा सकता।

भावार्थ—प्रभु हमें उत्कृष्ट ज्ञानेन्द्रियाँ व कर्मेन्द्रियाँ प्राप्त कराके अनुकूलता से धर्ममार्ग पर ले चलते हुए अद्भुत सुख प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—पिपीलिकामध्यागायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

'दिवोदास-दाश्वान्' के लिये पुरों का विदारण

शतमश्मन्मयीनां पुरामिन्द्रो व्यास्यत्। दिवोदासाय दाशुषे॥ २०॥

(१) **इन्द्रः** सब शत्रुओं का संहार करनेवाले प्रभु **अश्मन्मयीनाम्** पत्थरों से बनी हुई, अत्यन्त दृढ़ **पुराम्** शत्रुनगरियों के **शतम्** सैकड़े को **व्यास्यत्** परे फेंकते हैं नष्ट करते हैं। प्रभुकृपा से ही इन 'काम क्रोध लोभ' की नगरियों का विध्वंस होता है। (२) पर प्रभु यह शत्रुनगरियों का विध्वंस '**दिवोदासाय**' ज्ञान के दास (भक्त) के लिए करते हैं उसके लिए करते हैं, जो कि **दाशुषे** दाश्वान् है देने की वृत्तिवाला है। हम ज्ञानी बनने का प्रयत्न करें, त्याग की वृत्तिवाले हों, तभी प्रभु हमारे शत्रुओं का विध्वंस करेंगे।

भावार्थ—हम ज्ञानप्रवण व दानशील बनें। प्रभु हमारे शत्रुओं का विध्वंस करेंगे।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः षड्जः॥

'दभीति' के शत्रुओं का सो जाना

अस्वापयद्दभीतये सहस्रा त्रिंशतं हथैः। दासानामिन्द्रो मायया॥ २१॥

(१) **इन्द्रः** सब शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले प्रभु **मायया** अपने अद्भुत ज्ञान व सामर्थ्य से (extraordinary power, wisdom) अथवा दया से (pity, compassion) **दासानाम्** हमारा उपक्षय करनेवाली **त्रिंशतं सहस्रा** तीसों हजार आसुर वृत्तियों को **हथैः** हननसाधन आयुधों से **अस्वापयत्**-सुला देते हैं। प्रभु की शक्ति से आसुरभावों का विनाश होता है। (२) प्रभु यह आसुरभावों का विनाश **दभीतये** दभीति के लिए करते हैं। उस व्यक्ति के लिए करते हैं, जो कि आसुरभावों के हिंसन के लिए यत्नशील होते हैं। प्रभु हमारे लिए साधन प्राप्त कराते हैं, उन साधनों को क्रिया में परिणत करने के लिए शक्ति देते हैं। इन साधनों का ठीक प्रयोग करने की प्रेरणा देते हुए वे प्रभु इस 'दभीति' के लिए सहायक होते हैं।

भावार्थ—हम काम क्रोध आदि शत्रुओं के हिंसन में प्रवृत्त हों। प्रभु के साहाय्य से हम अवश्य सफल होंगे।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

'समान+गो पति' इन्द्र

स घेदुतासि वृत्रहन्त्समान इन्द्र गोपतिः। यस्ता विश्वानि चिच्युषे॥ २२॥

(१) हे **इन्द्र** सब शत्रुओं का प्रच्यावन करनेवाले प्रभो! **उत** और **सः** वे आप **घा इत्** निश्चय से **समानः** (सम् आनयति) हमें सम्यक् प्राणित करनेवाले हैं। हे **वृत्रहन्** हमारी सब

वासनाओं के विनष्ट करनेवाले प्रभो! आप ही **गो पतिः**-हमारी सब इन्द्रियों के रक्षक हो। वासना के विनाश से ही तो इन्द्रियों की शक्ति का रक्षण होता है। (२) आप वे हैं, **यः** जो **ता विश्वानि** उन सब शत्रुओं को **चिच्युषे**-प्रच्यावित करते हैं। आपकी शक्ति व प्रेरणा से ही इन शत्रुओं का विनाश हुआ करता है।

भावार्थ—प्रभु ही हमें प्राणित करके काम आदि शत्रुओं का पराजय कराते हैं।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—निचृद्गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

पौंस्यं इन्द्रियम्

उत नूनं यदिन्द्रियं करिष्या इन्द्र पौंस्यम्। अद्या नकिष्टदा मिनत्॥ २३॥

(१) हे **इन्द्र**-शत्रुओं का संहार करनेवाले प्रभो! **उत** और **नूनम्** निश्चय से **यत्** जो **पौंस्यम्** (पू) सब पवित्रताओं के करनेवाले **इन्द्रियम्**-(वीर्य) बल को आप **करिष्याः** हमारे लिए करते हैं। **तत्**-उस आपके बल को **अद्या** अब **नकिः आमिनत्** कोई भी हिंसित नहीं कर पाता। (२) प्रभु से हमें शक्ति प्राप्त होती है तो हम काम आदि शत्रुओं से फिर पराजित नहीं होते।

भावार्थ—हम प्रभु का उपासन करें। प्रभु हमें वह पवित्र बल प्राप्त कराएँगे, जो कि हमें शत्रुओं से पराजित न होने देगा।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—विराडनुष्टुप्॥ स्वरः—गान्धारः॥

वामम्

वामंवामं त आदुरे देवो ददात्वर्यमा। वामं पूषा वामं भगो वामं देवः करूळती॥ २४॥

(१) हे **आदुरे** काम-क्रोध आदि शत्रुओं का विदारण करनेवाले जितेन्द्रिय पुरुष! **ते** तेरे लिए **अर्यमा** शत्रुओं का नियमन करनेवाला (अरीणां नियमयिता) **देवः** शत्रुओं का विजेता (दिव् विजिगीषा) प्रभु **वामं वामं ददातु**-सब सुन्दर-सुन्दर वस्तुओं को दे। काम क्रोध आदि के संहार द्वारा यह अर्यमा देव हमें सुन्दर दिव्य गुणों को प्राप्त कराएँ। (२) **पूषा**-सब का पोषण करनेवाला **देव वामम्**-सुन्दर स्वस्थ शरीर को प्राप्त करानेवाला हो। **भगः**-सेवनीय धन का अधिष्टातृदेव हमारे लिए **वाम्**=सुन्दर सुपथार्जित धन को दे। **करूडती**-(कृत्तदन्तः) जिसने दान्तों को काट दिया है, अर्थात् जो खान-पान में ही फँसा हुआ नहीं है, वह **देवः**-प्रकाशमय प्रभु **वामम्**=हमारे लिए भोगों में अनासक्त सुन्दर जीवन को प्राप्त कराए। (३) 'अर्यमा' नाम से प्रभु का स्मरण करता हुआ स्तोता काम-क्रोध आदि अरियों का नियमन करता है और अपने जीवन को सुन्दर दिव्य गुणों से युक्त करता है। 'पूषा' नाम से प्रभु का स्मरण उसे उचित पोषण के लिए युक्ताहार-विहार बनाता है, इससे वह स्वस्थ सुन्दर शरीरवाला होता है। 'भग' नाम से प्रभु का स्मरण उसे सेवनीय धन के ही अर्जन के लिए प्रेरित करता है। प्रभु बिलकुल नहीं खाते, सो वे 'कृत्तदन्त' हैं। हम भी भोगों में अनासक्त बने हुए कृत्तदन्त ही होते हैं। उस समय हम अनासक्तिवाला सुन्दर जीवन प्राप्त करते हैं।

भावार्थ—हम शत्रुओं का नियमन करें। शरीर के पोषण के लिए युक्ताहार विहार करें। सुपथ से धनार्जन करें। भोगों में अनासक्त जीवनवाले हों।

सूक्त का सार यही है कि हम उस अनुपम प्रभु का स्मरण करते हुए अधिक से अधिक सुन्दर जीवनवाले बनने का यत्न करें। प्रभु की तरह ही 'अर्यमा, पूषा, भग व कृत्तदन्त देव' बनें। इस प्रभु से रक्षण के लिए प्रार्थना के साथ अगले सूक्त का प्रारम्भ होता है—

[३१] एकत्रिंशं सूक्तम्

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

प्रभु का कल्याणकारक रक्षण

कया नश्चित्र आ भुवदूती सदावृधः सखा। कया शचिष्ठया वृता ॥ १ ॥

(१) **चित्रः** वे चायनीय-पूजनीय, **सदावृधः**-सदा से बढ़े हुए **सखा**-हमारे मित्र प्रभु **कया ऊती** कल्याणकारक रक्षण द्वारा **नः आभुवत्**-हमारे अभिमुख होते हैं प्रभु हमें आभिमुख्येन प्राप्त होते हैं। (२) वे प्रभु **कया** कल्याणकारक **शचिष्ठया** प्रज्ञावत्तम-अधिक से अधिक बुद्धि से युक्त, **वृता** आवर्तन द्वारा हमें आभिमुख्येन प्राप्त होते हैं। प्रातः से सायं तक समस्त दैनिक कार्यक्रम 'वृत्' कहलाता है। इस समस्त कार्यक्रम को बुद्धिमता से करें, तो यह वृत् 'शचिष्ठा' होता है। प्रभु उपासक को इस 'शचिष्ठ वृत्' में चलाते हैं। इस 'शचिष्ठवृत्' द्वारा ही प्रभु उपासक का कल्याण करते हैं।

भावार्थ—प्रभु का कल्याणकारक रक्षण हमें प्राप्त हो। प्रभुकृपा से हम प्रज्ञापूर्वक दैनिक कार्य चक्र को करनेवाले बनें।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—निचृद्गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

'आनन्दमय सत्यनिष्ठ' जीवन

कस्त्वा सत्यो मदानां मंहिष्ठो मत्सदन्धसः। दृळ्हा चिदारुजे वसु ॥ २ ॥

(१) **कः** आनन्दमय **सत्यः** सत्यस्वरूप **मदानां मंहिष्ठः** आनन्दों का सर्वाधिक देनेवाला वह प्रभु **त्वा** तुझ उपासक को **अन्धसः** सोम द्वारा **मत्सत्** आनन्दित करे। वस्तुतः सोम द्वारा हमारा जीवन भी आनन्दमय व सत्यनिष्ठ बनता है। (२) इस सोम के मद में यह उपासक **दृढा चित्** अत्यन्त दृढ़ भी **वसु** काम क्रोध लोभ के निवास स्थानों को **आरुजे** तोड़ने के लिए समर्थ होता है। इन्द्रियों में बने हुए 'काम' के किले को, मन में बने हुए क्रोध के दुर्ग को तथा बुद्धि में बने हुए लोभ के निवास स्थान को यह सुरक्षित सोम नष्ट कर देता है। इन आसुर दुर्गों के विदारण से ही वस्तुतः इस उपासक का जीवन आनन्दमय व सत्यनिष्ठ होता है।

भावार्थ—प्रभु की उपासना से हम सोमरक्षण करते हुए आनन्दमय सत्यनिष्ठ जीवनवाले बनते हैं। प्रभु हमारे शत्रुभूत काम क्रोध लोभ के दुर्गों का विदारण करते हैं।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—पादनिचृद्गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

प्रभु के सखा-प्रभु के जरिता

अभी षु णः सखीनामविता जरितॄणाम्। शतं भवास्यूतिभिः ॥ ३ ॥

(१) हे प्रभो! आप **नः** हम **सखीनाम्** सखाओं के मित्रों के **जरितॄणाम्** स्तोताओं के **शतं ऊतिभिः** शतवर्ष पर्यन्त जीवनभर रक्षणों से **सु अविता** उत्तमता से रक्षण करनेवाले **अभिभवासि** आभिमुख्येन प्राप्त होते हैं। (२) प्रभु का स्तवन करनेवाला व्यक्ति वासनाओं द्वारा आक्रान्त नहीं होता। प्रभु ही मानो उसका रक्षण कर रहे होते हैं।

भावार्थ—हम प्रभु के स्तोता प्रभु के मित्र बनने का प्रयत्न करें। प्रभु हमारा रक्षण करेंगे।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—विराड्गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

उत्तम इन्द्रियाश्वों की प्राप्ति

अभी न आ ववृत्स्व चक्रं न वृत्तमर्वतः। नियुद्भिश्चर्षणीनाम्॥ ४॥

(१) हे प्रभो! **अर्वतः** वासनाओं का संहार करनेवाले (अर्व् to kill) **नः** हमें **अभि आववृत्स्व**-आप आभिमुख्येन प्राप्त होइये। वासनाओं का संहार करके हम अपने को आपकी प्राप्ति के योग्य बनाएँ। (२) **चर्षणीनाम्**-श्रमशील मनुष्यों के **नियुद्भिः** शरीर रथ में जुतनेवाले इन इन्द्रियाश्वों के साथ आप हमें उसी प्रकार प्राप्त होइये, **न**-जैसे कि **वृत्तं चक्रम्** एक वृत्ताकार चक्र को घोड़े प्राप्त होते हैं। प्रभुकृपा से हमें उत्तम इन्द्रियाश्व प्राप्त हों।

भावार्थ—हम वासनाओं के संहार की वृत्तिवाले बनें। हम प्रभुप्राप्ति के लिए यत्नशील हों। प्रभु हमें उत्तम इन्द्रियाश्व प्राप्त कराएँ।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—विराड्गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

'यज्ञ, नम्रता व ज्ञान'

प्रवता हि क्रतूनामा हा पदेव गच्छसि। अभक्षि सूर्ये सचा॥ ५॥

(१) हे प्रभो! आप **क्रतूनाम्**=यज्ञमय जीवनवाले पुरुषों के **प्रवता**=निम्न मार्ग से **हि**=निश्चयपूर्वक **आगच्छसि** हमें प्राप्त हों, **इव**=उसी प्रकार, जैसे कि **ह**-निश्चयपूर्वक **पदा**-(पदानि) कोई अपने स्थानों को प्राप्त होता है। वस्तुतः यज्ञमय जीवनवाले बनकर जब हम नम्रता की वृत्तिवाले बनते हैं, अर्थात् उन यज्ञों का गर्व नहीं करते, तो हम प्रभु के प्राप्ति स्थान बनते हैं। प्रभु का निवास अहंकार शून्य यज्ञशील पुरुषों में ही होता है। (२) हे प्रभो! मैं **सूर्ये** ज्ञानसूर्य में **सचा**-सम्पर्कवाला होकर **अभक्षि** आपका भजन करता हूँ। आपका ज्ञानीभक्त बनने का प्रयत्न करता हूँ।

भावार्थ—प्रभुप्राप्ति के लिए आवश्यक है कि—(क) हम यज्ञमय जीवनवाले बनें, (ख) नम्र हों और (ग) सदा ज्ञान के साथ सम्पर्कवाले हों।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—निचृद्गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

प्रभुचिन्तन व कर्त्तव्यकर्मों का करना

सं यत्त इन्द्र मन्यवः सं चक्राणि दधन्विरे। अध त्वे अध सूर्ये॥ ६॥

(१) हे **इन्द्र**-परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **यत्**=जब हम **ते** आपके **संमन्यवः** सम्यक् मनन व चिन्तन करनेवाले बनते हैं, **अध**-तो तब **त्वे**=(त्वयि) आप में निवास करनेवाले होते हैं। सदा प्रभु का स्मरण हमें प्रभुनिष्ठ बनाता है। (२) इसी प्रकार जब **चक्राणि**-दिनभर के कर्त्तव्य कर्म चक्र **संदधन्विरे**-हमारे से सम्यक् धारण किये जाते हैं, तो **अध**-अब **सूर्ये** ज्ञान के सूर्य में प्रकाश में हमारा निवास होता है। कर्त्तव्यकर्मों का क्रमिक पालन हमारी बुद्धि के विकास का कारण बनता है और हमारे मस्तिष्करूप द्युलोक में ज्ञान के सूर्य का उदय हो जाता है।

भावार्थ—प्रभु का चिन्तन व कर्त्तव्यकर्मों का करना हमें प्रभुप्राप्ति के मार्ग पर ले चलता है और हमारे जीवन में ज्ञानसूर्योदय का कारण बनता है।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

मघवा, दाता व दीधयु

उत स्मा हि त्वामाहुरिन्मघवानं शचीपते। दातारमविदीधयुम्॥ ७॥

(१) हे **शचीपते** सब कर्मों व प्रज्ञानों के स्वामिन् प्रभो! **उत** और **त्वां हि** आपका ही **इत्** निश्चय से **आहु स्म** कहते हैं कि **मघवानम्** आप ज्ञानैश्वर्यवाले हैं। सब ऐश्वर्यों के स्वामी आप ही हैं। **दातारम्** सब धनों व वसुओं के आप ही देनेवाले हैं। **अविदीधयुम्** आप कभी न दीप्यमान हों, सो नहीं है, अर्थात् आप सदा दीप्यमान हैं। (२) आपकी उपासना करता हुआ मैं भी ऐश्वर्यशाली बनूँ, दाता बनूँ और सदा दीप्त जीवनवाला होऊँ। ऐश्वर्यशाली होकर अकस्मात् उस ऐश्वर्य का संग्रही (न कि दाता) बनकर मैं ज्ञान दीप्ति को विनष्ट कर बैठता हूँ।

भावार्थ—मैं प्रभु को 'मघवा, दाता व दीधयु' शब्दों से स्मरण करता हुआ ऐश्वर्यशाली (वैश्य) बनूँ, देनेवाला (क्षत्रिय) होऊँ और इस प्रकार ज्ञानदीप्त (ब्राह्मण) बन पाऊँ। यह धन मेरे ज्ञान पर परदे के रूप में न हो जाए।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

शशमान+सुन्वन्

उत स्मा सद्य इत्परि शशमानाय सुन्वते। पुरू चिन्मंहसे वसु॥ ८॥

(१) **उत** और हे प्रभो! आप **सद्यः इत्** शीघ्र ही **पुरूचित्** अत्यन्त **वसु** धन **परि मंहसे स्म** सब ओर से देते ही हैं। प्रभु सब वसुओं के स्वामी हैं, 'वसूनां वसुपति' वे प्रभु हैं। उनसे दिये जानेवाले वसुओं में किसी प्रकार की कमी सम्भव ही नहीं। (२) हम उन वसुओं की प्राप्ति का अपने को पात्र बनाएँ। **शशमानाय** (शंसमानाय) स्तवन करनेवाले के लिए प्रभु इन वसुओं को प्राप्त कराते हैं। **सुन्वते** सोम का अभिषव करनेवाले के लिए प्रभु के ये वसु प्राप्त होते हैं। हम 'शशमान व सुन्वन्' बनकर प्रभु से सब वसुओं को प्राप्त करें। सदा प्रभु का शंसन करें और शरीर में सोम का संपादन करें। सोम का रक्षण करते हुए ही तो हम अपने अन्दर ज्ञान का प्रकाश प्राप्त करेंगे।

भावार्थ—'शशमान व सुन्वन्' बनकर हम प्रभु से दिये जानेवाले वसुओं के पात्र हों।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

राधः+च्यौत्नानि

नहि ष्मा ते शतं चन राधो वरन्त आमुरः। न च्यौत्नानि करिष्यतः॥ ९॥

(१) हे प्रभो! **ते** आपके **राधः**-कार्यसाधक धनों को **शतं चन**-सैंकड़ों भी **आमुरः** समन्तात् हिंसन करनेवाले शत्रु **हि** निश्चय से **न वरन्ते स्म**=नहीं रोक सकते। प्रभु उपासक को कार्यसाधक ऐश्वर्यों को प्राप्त कराते हैं। कितने भी शत्रु मिलकर भी इसमें विघातक नहीं बन पाते। (२) उस **करिष्यतः** (हिंसायां कृणाति-kills) शत्रुओं का हिंसन करनेवाले प्रभु के **च्यौत्नानि**-शत्रुनाशक बलों को कोई भी रोक नहीं सकता।

भावार्थ—हम प्रभु के उपासक बनते हैं। प्रभु हमें कार्यसाधक धनों को प्राप्त कराते हैं और शत्रुविनाशक बल को देते हैं।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

ऊतयः-अभिष्टयः

अस्माँ अवन्तु ते शतमस्मान्त्सहस्त्रमूतयः। अस्मान्विश्वा अभिष्टयः॥ १०॥

(१) हे प्रभो! **ते**=आपके **शतम्**-शतवर्षपर्यन्त-जीवनभर चलनेवाले **ऊतयः** रक्षण **अस्मान् अवन्तु** हमारा रक्षण करें। आपके **सहस्त्रम्**=हजारों प्रकार से होनेवाले **ऊतयः**-रक्षण हमारा रक्षण

करें। (२) आपके द्वारा होनेवाले **विश्वाः**=सब **अभिष्टयः**=काम क्रोध-लोभ आदि शत्रुओं पर होनेवाले आक्रमण **अस्मान्**-हमारा रक्षण करनेवाले हों।

भावार्थ—हमें आजीवन प्रभु के सहस्रशः रक्षण प्राप्त हों। प्रभु हमारे काम क्रोध आदि शत्रुओं को आक्रान्त करके विनष्ट करें।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—पिपीलिकामध्यागायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

प्रभु को मित्रता में कल्याण व दीप्तियुक्त ऐश्वर्य

अस्माँ इहा वृणीष्व सख्याय स्वस्तये। महो राये दिवित्मते॥ ११ ॥

(१) हे प्रभो! **इह**-इस जीवन में **अस्मान्**-हमें **आवृणीष्व**-आप चुनिए, स्वीकार करिए। एक तो **सखाय**-अपनी मित्रता के लिए और मित्रता के द्वारा **स्वस्तये**-कल्याण के लिए, उत्तम स्थिति के लिए। प्रभु प्राणियों के दो विभाग करते हैं, एक तो वे, जो कि प्रकृति की ओर झुके हुए हैं और दूसरे वे जो कि प्राकृतिक भोगों में न फँसकर प्रभु प्रवण हैं। उस समय हम पिछले विभाग में आकर प्रभु के ही मित्र बनें और परिणामतः प्राकृतिक भोगों से न कुचले जाकर उत्तम स्थिति को प्राप्त करें। (२) हे प्रभो! आप हमें इसलिए भी चुनिए कि हम **दिवित्मते**-दीप्तिवाले **महः राये**=महान् ऐश्वर्य को प्राप्त करनेवाले हों। प्रभु की शरण में जाने पर धन की कमी तो रहती ही नहीं, इस धन के साथ ज्ञानदीप्ति का भी निवास होता है।

भावार्थ—प्रभु की मित्रता में कल्याण है, इसी में दीप्ति से युक्त महान् ऐश्वर्य का लाभ है।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—निचृद्गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

योगक्षेम के दाता प्रभु

अस्माँ अविड्ढि विश्वहेन्द्र राया परीणसा। अस्मान्विश्वाभिरूतिभिः॥ १२ ॥

(१) हे **इन्द्र**-परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **अस्मान्**-हमें **विश्वहा**-सदा **परीणसा**-(महता) बहुत पालन व पोषण के लिए पर्याप्त **राया**=धन से **अविड्ढि**-रक्षित करिए। वस्तुतः यदि हम अपने कर्त्तव्यपथ का आक्रमण करते हैं, तो प्रभु हमें पालन व पोषण के लिए पर्याप्त धन देते ही हैं 'तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमावहो हरिः'। (२) हे प्रभो! आप **अस्मान्**=हमें **विश्वाभिः**-सब **ऊतिभिः**-रक्षणों द्वारा सुरक्षित करिए। हमें सदा आपका रक्षण प्राप्त हो।

भावार्थ—प्रभु हमें पर्याप्त धन व रक्षण प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः -निचृद्गायत्री ॥ स्वरः —षड्जः ॥

विषयव्रज से मुक्ति

अस्मभ्यं ताँ अपा वृधि व्रजाँ अस्तेव गोमतः। नवाभिरिन्द्रोतिभिः॥ १३ ॥

(१) 'गो' शब्द इन्द्रियों के लिए प्रयुक्त होता है। ये इन्द्रियाँ विषयों के बाड़े में कैद ही हो जाती हैं। मन्त्र में प्रभु से प्रार्थना करते हैं कि हे **इन्द्र**=शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले प्रभो! आप **अस्ता इव**=अस्त्रों को शत्रु-सैन्य पर फेंकनेवाले एक योद्धा के समान **नवाभिः ऊतिभिः**=अपने अत्यन्त प्रशंमनीय रक्षणों द्वारा अथवा नौ संख्यावाले रक्षणों द्वारा **तान्**=उन **गोमतः व्रजान्**-इन्द्रियरूप गौवों से युक्त बाड़ों को **अस्मभ्यम्**=हमारे लिए **अपावृधि**-खोल डालिए। हमारी इन्द्रियों को विषयों के बाड़े से मुक्त करने की कृपा कीजिए। (२) इन्द्रियाँ सामान्यतः 'पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ व पाँच कर्मेन्द्रियाँ' मिलकर दस हैं। इनमें 'जिह्वा' बोलने का काम करती हुई कर्मेन्द्रियों में हैं, तो रस को चखती हुई ज्ञानेन्द्रियों में। इस प्रकार वस्तुतः इन्द्रियाँ नौ ही हो जाती हैं। इनके रक्षण भी इसी

कारण यहाँ **नव** नौ कह गये हैं। प्रभु ही इन इन्द्रियों को विषयों के बाड़े से मुक्त करते हैं।

भावार्थ—हम प्रभु का स्मरण करें, ताकि इन्द्रियाँ विषयव्रज में अवरुद्ध न हो जाएँ।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

उत्तम शरीर-रथ

अस्माकं धृष्णुया रथो द्युमाँ इन्द्रानपच्युतः। गव्युरश्वयुरीयते ॥ १४ ॥

(१) हे **इन्द्र**-शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले प्रभो! आप ऐसी कृपा करिए कि **अस्माकम्** हमारा **रथः**-यह शरीररूप रथ **धृष्णुया**=शत्रुधर्षण शक्ति द्वारा **द्युमान्** ज्योतिर्मय हो तथा **अनपच्युतः** शत्रुओं द्वारा मार्गभ्रष्ट न किया जा सके, अर्थात् अत्यन्त सुदृढ़ शक्तिशाली हो। मस्तिष्क में ज्योति हो, मन व शरीर में शक्ति। (२) हे प्रभो! बस, ऐसी कृपा करिए कि यह **गव्युः** प्रशस्त ज्ञानेन्द्रियोंवाला तथा **अश्वयुः**-प्रशस्त कर्मेन्द्रियोंवाला **ईयते**=सदा गतिमय हो। ज्ञानेन्द्रियों से ज्ञान को बढ़ाते हुए और कर्मेन्द्रियों से यज्ञादि कर्मों को करते हुए हम आगे बढ़ते चलें।

भावार्थ—प्रभुकृपा से हमारा शरीर-रथ बुद्धि में 'द्युमान्', मन में 'अनपच्युत' तथा प्रशस्त ज्ञानेन्द्रियोंवाला 'गव्यु' तथा प्रशस्त कर्मेन्द्रियोंवाला 'अश्वयु' हो।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—निचृद्गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

ज्ञान से सर्वाधिक हों

अस्माकमुत्तमं कृधि श्रवो देवेषु सूर्य। वर्षिष्ठं द्यामिवोपरि ॥ १५ ॥

(१) हे **सूर्य**-सारे ब्रह्माण्ड को प्रकाश व गति देनेवाले प्रभो! आप **देवेषु**-सब ज्ञानियों में **अस्माकम्** हमारे **श्रवः**-ज्ञान को **उत्तमं कृधि** सर्वोत्तम करिए। (२) आप हमारे ज्ञान को इस प्रकार सर्वोपरि करिए **इव** जैसे कि **वर्षिष्ठम्**=अत्यन्त प्रवृद्ध **द्याम्**-द्युलोक को **उपरि** सब लोकों में ऊपर करते हैं। जैसे यह द्युलोक सूर्य से दीप्त है, इसी प्रकार हमारा मस्तिष्क ज्ञान सूर्य से दीप्त हो।

भावार्थ—हम देवों में ज्ञान से इस प्रकार सर्वोपरि हों, जैसे कि लोकों में द्युलोक सर्वोपरि है।

सूक्त का सार यही है कि प्रभु हमारा रक्षण करते हैं और इस रक्षण से हम सर्वोत्तम स्थिति को प्राप्त करते हैं। प्रभुरक्षण की प्रार्थना से ही अगले सूक्त का भी प्रारम्भ है—

[३२] द्वात्रिंशं सूक्तम्

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

वृत्रहा प्रभु का सान्निध्य

आ तू न इन्द्र वृत्रहन्नस्माकमर्धमा गहि। महान्महीभिरूतिभिः ॥ १ ॥

(१) हे **इन्द्र**-परमैश्वर्यशालिन्! **वृत्रहन्**-वासनाओं को विनष्ट करनेवाले प्रभो! आप **तु** तो **अस्माकम्**-हमारे **अर्धम्**-समीप **आ आगहि**-सर्वथा प्राप्त होइये। (२) हे प्रभो! आप **नः**-हमारे **महान्**-पूजनीय हैं। आप **महीभिः ऊतिभिः**-महान् रक्षणों द्वारा हमें प्राप्त हों। प्रभु का सान्निध्य ही हमें शत्रुओं के आक्रमण से बचाता है। प्रभु 'वृत्रहा' हैं, वे हमारे वृत्रों (=वासनाओं) का विनाश करते हैं। तभी हमारा ज्ञान दीप्त होता है। यह ज्ञान ही हमें रक्षित करता है।

भावार्थ—प्रभु हमें प्राप्त हों। हमारी वासनाओं का विनाश करके हमारे ज्ञान को बढ़ाएँ और

इस प्रकार हमें रक्षित करें।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—विराड्गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

भूमि+तूतुजि

भूर्मिश्चिद्घासि तूतुजिरा चित्र चित्रिणीष्वा। चित्रं कृणोष्यूतये॥ २॥

(१) हे प्रभो! आप **चित् घ**=निश्चय से **भूमिः**=गलत मार्ग पर जा रहे सोम्य व्यक्तियों के मुख को मोड़कर उन्हें ठीक मार्ग पर ले चलनेवाले **असि**=हैं ('सोम्यानां भृमिरसि') इस प्रकार ठीक मार्ग पर चलनेवाले इन सोम्य पुरुषों के **तूतुजिः**=वासनात्मक शत्रुओं का संहार करनेवाले हैं। (२) **आ**-और (आकारस्वार्थे सा०) **चित्र**=हे (चित् र) सब ज्ञानों के देनेवाले प्रभो! **चित्रिणीषु**-इन ज्ञानपूर्वक उत्तम कर्म करनेवाली प्रजाओं में **ऊतये**=रक्षण के लिए **चित्रम्**=चायनीय, पूजनीय, प्रशस्त, सुपथार्जित धन को **आकृणोषि**=सर्वथा करते हैं। इस धन द्वारा वे अपनी जीवनयात्रा को ठीक से पूरा कर पाती हैं।

भावार्थ—वे प्रभु मार्गदर्शक हैं, वासनाओं का संहार करनेवाले हैं। कर्मशील प्रजाओं को कार्यसाधक धन देते हैं।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—निचृद्गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

प्रभु के ओज से शत्रुसंहार

दभ्रेभिश्चिच्छशीयांसं हंसि व्राधन्तमोजसा। सखिभिर्ये त्वे सचा॥ ३॥

(१) हे प्रभो! आप उन **दभ्रेभिः**=(दभ् हिंसायाम्) शत्रुओं के संहार में लगे हुए **सखिभिः**=मित्रों के साथ, **ये** जो कि **त्वे सचा**=आप में मिलकर रहने का प्रयत्न करते हैं, अर्थात् सब कार्यों को प्रभुस्मरण के साथ करते हैं, उन मित्रों के साथ आप **शशीयांसम्**=(उत्प्लनमानम्) अत्यन्त कूदते फाँदते हुए-धर्ममार्ग का उल्लंघन करते हुए, **व्राधन्तं चित्**-महान् शत्रु को भी **ओजसा**=ओजस्विता से **हंसि**=नष्ट करते हैं। (२) काम-क्रोध आदि शत्रु 'शशीयान्' हैं, बड़े क्रियाशील हैं और (शधत् महत् नाम नि० ३।३) महान् हैं। इन शत्रुओं को सुगमता से जीता नहीं जा सकता। प्रभु के ओज से ओजस्वी बनने पर ही हम इनका पराजय कर पाते हैं। एवं प्रभु के सखा ही इन्हें जीतने में समर्थ होते हैं।

भावार्थ—प्रभु की मित्रता में हम अति प्रबल काम आदि शत्रुओं का भी पराजय करनेवाले हों।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—विराड्गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

प्रभु के साथ मिलकर

वयमिन्द्र त्वे सचा वयं त्वाभि नोनुमः। अस्माँअस्माँ इदुदव॥ ४॥

(१) हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **वयम्**-हम **त्वे सचा**=आप में मेलवाले होते हैं-हम आपके साथ मिलकर सदा चलने का प्रयत्न करते हैं। हमारा कोई भी कर्म आपके विस्मरण के साथ नहीं होता। **वयम्**=हम **त्वा**=आपको **अभिनोनुमः**-प्रातः-सायं प्रणाम करनेवाले होते हैं। आपके चरणों में बैठकर अपने में शक्ति को भरते हैं। (२) हे प्रभो! आप **अस्मान्**-('अस्ति' इति प्रतिः येषां) आस्तिक वृत्तिवाले आप में श्रद्धावाले **अस्मान्**=हमें **इत्**=निश्चय से **उद् अव**-इन संसार के विषयों से ऊपर उठाकर रक्षित करिए। हम आपका स्मरण करें। आपका स्मरण हमें विषयों में फँसने से बचाए।

भावार्थ—हम सदा प्रभुस्मरण की वृत्तिवाले हों। प्रभुस्मरण हमें विषयासक्ति से ऊपर उठाए।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—निचृद्गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

'चित्र-अनवद्य-अनाधृष्ट' रक्षण

स नश्चित्राभिरद्रिवोऽनवद्याभिरूतिभिः। अनाधृष्टाभिरा गहि ॥ ५ ॥

(१) हे **अद्रिवः**-वज्रवन् क्रियाशीलता रूप वज्रवाले प्रभो! **सः** वे आप **नः** हमें **ऊतिभिः** रक्षणों के साथ **आगहि**-प्राप्त होइये। वस्तुतः प्रभु के बिना हम शत्रुओं के आक्रमण से अपना रक्षण किसी भी प्रकार नहीं कर सकते। (२) हे प्रभो! आप उन रक्षणों के साथ हमें प्राप्त होइये, जो कि **चित्राभिः**-(चित् र) हमारे लिए उत्कृष्ट ज्ञानों को देनेवाले हैं। **अनवद्याभिः** जो रक्षण अत्यन्त प्रशस्त हैं, जिन रक्षणों द्वारा हमारा मन वासनाओं से मलिन नहीं होता। **अनाधृष्टाभिः** जो रक्षण अनाधृष्ट हैं। इन रक्षणों के होने पर हमारे शरीर रोगों से आक्रान्त नहीं होते।

भावार्थ—प्रभु के रक्षण हमें मस्तिष्क में ज्ञान सम्पन्न (चित्र), मन में अनवद्य (प्रशस्त भावोंवाला) तथा शरीर में अनाधृष्ट (नीरोग) बनाते हैं।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः निचृद्गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

प्रभुमित्रों की मित्रता

भूयामो षु त्वावतः सखाय इन्द्र गोमतः। युजो वाजाय घृष्वये ॥ ६ ॥

(१) हे **इन्द्र** शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले प्रभो! हम **गोमतः** प्रशस्त इन्द्रियोंवाले **त्वावतः** आपकी उपासना से आप जैसे बने हुए व्यक्ति के **सु**-उत्तम **सखायः**-मित्र **भूयामो** हों ही। जो 'ब्रह्म इव' प्रभु जैसा बनता है, उसके मित्र भी उस जैसे बनते हुए प्रभु के समीप होते जाते हैं। इस प्रभु के सान्निध्य से हमारा जीवन निर्मल बनता है। (२) **युजः** आपके मित्र बने हुए हम आपके सम्पर्क में आनेवाले होकर **वाजाय** शक्ति के लिए हों आपकी शक्ति से हम शक्तिसम्पन्न बनें तथा **घृष्वये** शत्रुओं के घर्षण के लिए हों। आपकी शक्ति से शक्ति सम्पन्न होकर हम शत्रुओं को कुचल डालें।

भावार्थ—हम प्रशस्तेन्द्रिय प्रभु मित्रों के मित्र बनें। इस प्रकार शक्तिसम्पन्न होकर शत्रुओं को कुचल डालें।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—विराड्गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

प्रशस्तेन्द्रिय+शक्तिशाली

त्वं ह्येक ईशिष इन्द्र वाजस्य गोमतः। स नो यन्धि महीमिषम् ॥ ७ ॥

(१) हे **इन्द्र** परमैश्वर्यशाली प्रभो! **त्वं हि एकः** -आप ही अकेले **गोमतः**-प्रशस्त इन्द्रियोंवाले **वाजस्य** बल के **ईशिषे** ईश हैं। आप ही हमें प्रशस्त इन्द्रियों को प्राप्त करानेवाले व बल को देनेवाले हैं। (२) **सः** वे आप **नः** हमारे लिए **महीम्**-अत्यन्त महनीय-हमारे जीवन को महत्त्वपूर्ण बनानेवाली **इषम्** प्रेरणा को **यन्धि**-दीजिए। आपकी इस उत्कृष्ट प्रेरणा को प्राप्त करके ही हम अपनी इन्द्रियों को प्रशस्त बना सकेंगे और सबल हो सकेंगे।

भावार्थ—प्रभु की उत्कृष्ट प्रेरणा को प्राप्त करके हम प्रशस्तेन्द्रिय व शक्तिशाली बनें।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

स्तोता के लिए ज्ञानैश्वर्य का प्रापण

न त्वा वरन्ते अन्यथा यद्दित्ससि स्तुतो मघम्। स्तोतृभ्य इन्द्र गिर्वणः ॥ ८ ॥

(१) हे **इन्द्र**-परमैश्वर्यशालिन्! **गिर्वणः**-वेदवाणियों के द्वारा संभजनीय प्रभो! **यत्** जब **स्तुतः** स्तुति किये गये आप **स्तोतृभ्यः** हम स्तोताओं के लिए **मघम्**-ज्ञानैश्वर्य को **दित्ससि**-देने की कामना करते हैं, तो **त्वा**-आपको **अन्यथा न वरन्ते**-प्रकारान्तर से कोई भी रोक नहीं पाता। प्रभु को संसार की कोई शक्ति रोक नहीं पाती। (२) प्रभु का स्तवन यही है कि हम ज्ञानवाणियों को ग्रहण करने का प्रयत्न करें। सर्वमहान् ऐश्वर्य यही है। जब हम प्रभु का स्मरण करते हैं, तो प्रभु हमें इस ज्ञान को प्राप्त कराते हैं।

भावार्थ—हम प्रभु का स्तवन करते हैं और प्रभु हमारे लिए ज्ञानैश्वर्य को प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

गोतम द्वारा प्रभुस्तवन

अभि त्वा गोतमा गिरानूषत प्र दावने। इन्द्र वाजाय घृष्वये ॥ ९ ॥

(१) हे **इन्द्र**-परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **गोतमाः**-प्रशस्त इन्द्रियोंवाले पुरुष **गिरा**-इन ज्ञान वाणियों द्वारा **प्रदावने**-ज्ञानैश्वर्य के प्रकृष्ट दान के निमित्त **त्वा अभि**-आपका लक्ष्य करके **अनूषत** स्तवन करते हैं। आपके स्तवन से ही वस्तुतः इस ज्ञानैश्वर्य की प्राप्ति होती है। (२) ये गोतम आपका स्तवन **वाजाय**=शक्तिप्राप्ति के लिए करते हैं और **घृष्वये**-शत्रुओं के घर्षण के लिए करते हैं। प्रभुस्तवन से यह स्तोता (गोतम प्रशस्तेन्द्रिय पुरुष) प्रभु की शक्ति से अपने को शक्तिसम्पन्न करता है और काम क्रोध आदि शत्रुओं को कुचलनेवाला बनता है।

भावार्थ—प्रशस्तेन्द्रिय पुरुष प्रभु का स्तवन करके (क) ज्ञानैश्वर्य को प्राप्त करते हैं, (ख) शक्ति-सम्पन्न बनते हैं (ग) और काम-क्रोध आदि शत्रुओं को कुचलनेवाले होते हैं।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

दास-पुर विध्वंस

प्र ते वोचाम वीर्या३ या मन्दसान आरुजः ॥ पुरो दासीरभीत्य ॥ १० ॥

(१) हे प्रभो! **मन्दसानः**-अत्यन्त आनन्दमय होते हुए आप, अपने भक्तों को आनन्दित करनेवाले आप **याः**-जिन **दासीः**=हमारा उपक्षय करनेवाले काम-क्रोध आदि शत्रुओं के **पुरः**-नगरों को **अभीत्य**-आक्रमण करके **आरुजः**=छिन्न-भिन्न कर देते हैं, तो हम **ते**-आपके **वीर्या**-उन शक्तिशाली कर्मों का **प्रवोचाम**=प्रवचन करते हैं। (२) प्रभु का उपासन हमारे जीवन में असुर पुरियों का विध्वंस करके पवित्रता का संचार करता है। यह पवित्रता जीवन में आनन्द का कारण बनती है।

भावार्थ—प्रभु हमारे जीवनों में असुर पुरियों का विध्वंस करके, पवित्रता द्वारा आनन्द प्राप्त करते हैं।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—पिपीलिकामध्यागायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

पौंस्य कर्म

ता ते गृणन्ति वेधसो यानि चकर्थ पौंस्या। सुतेष्विन्द्र गिर्वणः ॥ ११ ॥

(१) हे **इन्द्र**=शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले! **गिर्वणः**=ज्ञानवाणियों द्वारा उपासनीय प्रभो! **सुतेषु** सोम का (वीर्यशक्ति का) सम्पादन करने पर **यानि**-जिन **पौंस्या**=शक्तिशाली कर्मों को **चकर्थ**-आप करते हैं। **वेधसः**-ज्ञानी पुरुष **ते**-आपके **ता**=उन शक्तिशाली कर्मों को **गृणन्ति**-स्तुतिरूपेण कहते हैं। (२) जब हम शरीर में सोम का सम्पादन करते हैं-वीर्य का उत्पादन व रक्षण

करते हैं, तो प्रभु की व्यवस्था के अनुसार न केवल रोग कृमियों का ही संहार होता है, अपितु वासनाओं का विनाश होकर मन भी पवित्र हो जाता है। उस समय हम स्वभावत: प्रभु का स्तवन कर उठते हैं कि कितनी ही अद्भुत उस प्रभु द्वारा होनेवाली रचना व व्यवस्था है?

भावार्थ—ज्ञानीपुरुष प्रभु से किये जानेवाले शक्तिशाली कर्मों का स्तवन करते हैं और अपने अन्दर सोम की अद्भुत महिमा को देखते हैं।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—निचृद्गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

वीरवद् यशः

अवीवृधन्त गोतमा इन्द्र त्वे स्तोमवाहसः। एषु धा वीरवद्यशः ॥ १२ ॥

(१) हे **इन्द्र**-परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **गोतमाः**-प्रशस्तेन्द्रिय पुरुष **अवीवृधन्त**-आपका अत्यन्त वर्धन करते हैं। ये गोतम **त्वे** आप में **स्तोमवाहसः**-स्तोमों का धारण करनेवाले होते हैं। वस्तुत: प्रभु का स्तवन ही इन गोतमों की सर्वांगीण वृद्धि का कारण बनता है। (२) **एषु** इन स्तोताओं में हे प्रभो! आप **वीरवत्**-वीरता से युक्त **यशः** यश को **आधाः**-सर्वथा स्थापित करिए। इनको वीर बनाइये और यशस्वी कर्मोंवाला करिए।

भावार्थ—प्रभुस्तवन से वीरतायुक्त यश प्राप्त होता है। स्तोता वीर बनता है और यशस्वी कर्मों को करनेवाला होता है।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—निचृद्गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

प्रभु का प्रिय बनना

यच्चिद्धि शश्वतामसीन्द्र साधारणस्त्वम्। तं त्वा वयं हवामहे ॥ १३ ॥

(१) हे **इन्द्र**-परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **यत् चित् हि**=यद्यपि **त्वम्**-आप **शश्वताम्** (शश्वत् बहुनाम नि० ३।१) अनन्त संख्यावाली प्रजाओं के **साधारणः असि**-निष्पक्षपात रूप से वर्तनेवाले हैं तो भी **तं त्वा**-उन आपको **वयम्**-हम **हवामहे**-पुकारते हैं। (२) प्रभु किसी के प्रति राग द्वेषवाले नहीं हैं सब के प्रति समरूप से वर्तनेवाले हैं। तो भी हम 'ज्ञानप्राप्ति, स्तवन व यज्ञादि कर्मों' के द्वारा प्रभु को प्रीणित करनेवाले होते हैं। प्रभुभक्तों में भी प्रभु के ज्ञानीभक्त बनकर हम प्रभु के आत्मतुल्य प्रिय बनने का प्रयत्न करते हैं।

भावार्थ—प्रभु सबके प्रति समवर्ती हैं। तो भी हम 'ज्ञान, स्तवन व यज्ञादि कर्मों' से प्रभु का प्रिय बनने का प्रयत्न करते हैं।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

'सोमानां सोमपाः' इन्द्रः

अर्वाचीनो वसो भवास्मे सु मत्स्वान्धसः। सोमानामिन्द्र सोमपाः ॥ १४ ॥

(१) हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! आप ही **सोमानां सोमपाः**-इन सोमों के सर्वोत्कृष्ट पान करनेवाले हैं। शरीर में सोम का (वीर्य का) रक्षण आपके स्तवन द्वारा ही होता है। आपका स्तवन हमें वासनाओं के आक्रमण से बचाता है और इस प्रकार सोम शरीर में सुरक्षित रहता है। (२) इसलिए हे **वसो**=हमारे निवास को उत्तम बनानेवाले प्रभो! आप **अस्मे**=हमारे लिए **अर्वाचीनः भव**-अभिमुख होइये-हमें आभिमुख्येन प्राप्त होइये। और **अन्धसः**-इस सोम द्वारा **सुमत्स्व**-अत्यन्त आनन्दित करिए। सोमरक्षण से शरीर में नीरोगता, मन में निर्मलता व मस्तिष्क में ज्ञानदीप्ति को प्राप्त कराके आप हमें आनन्द प्राप्त कराइये।

भावार्थ—प्रभु सोमरक्षण करनेवाले हैं। सोमरक्षण द्वारा वे हमारे जीवन को आनन्दित करते हैं। इस सोमरक्षण से ही तो हमारा निवास उत्तम होता है।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—निचृद्गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

स्तवन व इन्द्रियों का प्रत्याहरण

अस्माकं त्वा मतीनामा स्तोम इन्द्र यच्छतु। अर्वागा वर्तया हरी ॥ १५ ॥

(१) हे **इन्द्र**-सब शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले प्रभो! **मतीनाम्**-मननपूर्वक स्तवन करनेवाले **अस्माकम्** हमारा **स्तोमः** स्तुतिसमूह **त्वा आयच्छतु**-आपको हमारे में स्थापित करनेवाला हो, अर्थात् आपकी स्तुति द्वारा हम अपने हृदयों को आपका अधिष्ठान बना सकें। (२) आप **हरी**-ज्ञानेन्द्रिय व कर्मेन्द्रिय रूप अश्वों को **अर्वाग् आवर्तय**=अन्तर्मुख वृत्तिवाला करिए। आपके स्तवन से हमारी इन्द्रियाँ बहिर्मुखी वृत्तिवाली न रहें। विषयव्यावृत्त होकर ये प्रत्याहत हों अन्दर ही स्थापित हों।

भावार्थ—मनन पूर्वक प्रभु का स्तवन हमारे हृदयों को प्रभु का अधिष्ठान बनाए। हमारी इन्द्रियाँ विषयव्यावृत्त होकर अन्तर्मुख यात्रावाली हों।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

यज्ञशेष का सेवन करें, ज्ञान में रुचिवाले हों

पुरोळाशं च नो घसो जोषयासे गिरश्च नः। वधूयुरिव योषणाम् ॥ १६ ॥

(१) प्रभु गतमन्त्र में की गई 'अर्वाग् आवर्तया हरी' इस प्रार्थना का उत्तर देते हुए कहते हैं कि हे जीव! तू **नः** हमारे **पुरोडाशम्**-पुरोडाश को **च**=ही **घसः**-खानेवाला हो। 'पुरोडाश' वह भोजन है, जिसको कि प्रथम (पुरः) यज्ञ के लिए देकर (दाश्) यज्ञशेष के रूप में सेवन किया गया है। एवं पुरोडाश का सेवन करनेवाला व्यक्ति यज्ञशील होता है और सदा यज्ञशेष को खानेवाला होता है। इसकी कर्मेन्द्रियाँ यज्ञों में प्रवृत्त रहती हैं। (२) **च**=और हे जीव! तू **नः**=हमारी **गिरः**-इन वेदवाणियों का **जोषयासे**-प्रेमपूर्वक सेवन करनेवाला हो। तेरी ज्ञानेन्द्रियाँ ज्ञानप्राप्ति के पवित्र कार्य में लगी रहें। उसी प्रकार ज्ञान के प्रति ये प्रेमवाली हों, **इव**=जैसे कि **वधूयुः**-पत्नी की कामनावाला एक व्यक्ति **योषणाम्**=पत्नी को चाहता है। हम पति हों वेदवाणी को पत्नी के रूप में प्राप्त करें 'परीमे गामनेषत पर्यग्निमरूषत'। (३) वस्तुतः यज्ञादि कर्मों में लगी हुई कर्मेन्द्रियाँ ही सशक्त व पवित्र बनी रहती हैं और इसी प्रकार ज्ञानप्राप्ति में लगी हुई ज्ञानेन्द्रियाँ पवित्र रहती हैं।

भावार्थ—हम सदा यज्ञशील बनकर यज्ञशेष का ही सेवन करें और ज्ञान की वाणियों में प्रीतिवाले हों।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—पादनिचृद्गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

'शतं सोमस्य खार्यः'

सहस्रं व्यतीनां युक्तानामिन्द्रमीमहे। शतं सोमस्य खार्यः ॥ १७ ॥

(१) हम **व्यतीनाम्**-(वि अत् गतौ) विशिष्ट गतिवाले **सहस्रं युजानाम्**-शरीर रथ में सदा आनन्दपूर्वक जुते हुए इन्द्रियाश्वों को **इन्द्रम्**-उस इन्द्रियों के अधिष्ठाता प्रभु से **ईमहे**=माँगते हैं। प्रभु हमारे लिए उन इन्द्रियाश्वों को प्राप्त कराएँ, जो कि प्रसन्नतापूर्वक कार्यों में तत्पर रहें। कर्मेन्द्रिय रूप अश्व यज्ञमार्ग का प्रसन्नतापूर्वक आक्रमण करें और ज्ञानेन्द्रियरूप अश्व ज्ञानप्राप्ति के

मार्ग पर आगे और आगे बढ़ते चलें। (२) इस प्रकार अपने अपने कर्म में लगी हुई इन्द्रियाँ विषयों से अनाक्रान्त रहती हैं और शरीर में सोम का रक्षण होता है। हम प्रभु से **सोमस्य** इस सोम के (वीर्यशक्ति के) **शतं खार्यः**-सैंकड़ों मनों को चाहते हैं। हमें बहुत ही इस सोमशक्ति की प्राप्ति हो।

भावार्थ—हमारी इन्द्रियाँ सदा अपने अपने कार्य में लगी रहें और हमारे शरीर में सोमशक्ति सुरक्षित रहे।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

ज्ञानैश्वर्य की प्राप्ति

सहस्रा ते शता वयं गवामा च्यावयामसि। अस्मत्रा राध एतु ते॥ १८॥

(१) हे प्रभो! गतमन्त्र के अनुसार सोम का रक्षण करके, उस सोम से ज्ञानाग्नि की दीप्ति द्वारा **वयम्**-हम **ते** आपकी **गवाम्**-वेदवाणियों के **शता सहस्रा** सैंकड़ों व हजारों को **आच्यावयामसि** अपने अन्दर प्राप्त करते हैं। सुरक्षित सोम से बुद्धि की तीव्रता प्राप्त होती है। इस तीव्र बुद्धि से हम ज्ञानवाणियों को प्राप्त करते हैं। (२) हे प्रभो! **ते राधः**-आपका यह ज्ञानैश्वर्य **अस्मत्रा एतु**-हमारे जीवन में प्राप्त हो। इस ज्ञानैश्वर्य द्वारा ही हम अपने जीवनों को पवित्र व सफल बना पाएँगे।

भावार्थ—हम शतशः ज्ञानवाणियों को प्राप्त करें। प्रभु का ज्ञानैश्वर्य हमारे जीवन की सफलता का साधन बने।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—निचृद्गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

दश 'हिरण्य कलश'

दश ते कलशानां हिरण्यानामधीमहि। भूरिदा असि वृत्रहन्॥ १९॥

(१) प्रस्तुत ऋग्वेद के दस मण्डल मानो दस कलश हैं, जो कि हितरमणीय ज्ञानजल से परिपूर्ण हैं। हे प्रभो! हम **ते**-आपके इन **दश**-दस **हिरण्यानाम्**-हितरमणीय ज्ञान जल से परिपूर्ण **कलशानाम्**-कलशों का घटों का **अधीमहि**-स्मरण करते हैं इन्हें धारण करने का प्रयत्न करते हैं। इनके धारण से हमारे जीवन में 'प्राण श्रधा' आदि सब कलाओं का उत्तम निवास होगा 'कलाः शेरते अस्मिन्'। (२) हे **वृत्रहन्** सब वासनाओं को विनष्ट करनेवाले प्रभो! आप निश्चय से **भूरिदाः** अत्यन्त देनेवाले **असि**-हैं। 'भूरि' जीवन के पालन व पोषण के लिए आवश्यक सब वस्तुओं के देनेवाले हैं। इस वेदज्ञान से हमारा जीवन सब कलाओं से परिपूर्ण हो जाता है।

भावार्थ—हम दश हिरण्य कलशों का धारण करें।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—निचृद्गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

भूरिदाः

भूरिदा भूरि देहि नो मा दभ्रं भूर्या भर। भूरि घेदिन्द्र दित्ससि॥ २०॥

(१) हे **इन्द्र**-परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! आप **भूरिदाः** अत्यन्त देनेवाले हैं। **नः** हमारे लिए भी **भूरि देहि**-अत्यन्त दीजिए। **मा दभ्रम्**-कम मत दीजिए। **भूरि आभर**-अत्यन्त दीजिए। (२) हे इन्द्र! आप **इत्**-निश्चय से **भूरि दित्ससि**-खूब ही देना चाहते हैं।

भावार्थ—हे प्रभो! आप बहुत ही देनेवाले हैं। हमें बहुत ही दीजिए।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—निचृद्गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

ऐश्वर्य के भागी बनें

भूरिदा ह्यसि श्रुतः पुरुत्रा शूर वृत्रहन्। आ नो भजस्व राधसि ॥ २१ ॥

(१) हे **शूर**-शत्रुओं को शीर्ण करनेवाले प्रभो! आप **हि**=निश्चय से **भूरिदाः**-अत्यन्त देनेवाले **श्रुतः असि** प्रसिद्ध हैं। हे **वृत्रहन्**-वासनाओं का संहार करनेवाले प्रभो! आप **पुरुत्रा**-पालन व पूरण करनेवाले के रूप में (पृ पालन-पूरणयोः) तथा रक्षक के रूप में (त्रा) प्रसिद्ध हैं। (२) हे प्रभो! आप **नः**=हमें **राधसि**=कार्यसाधक ऐश्वर्य में **आभजस्व**=भागी बनाइये। हमें आपकी कृपा से वह धन प्राप्त हो, जो कि सब कार्यों को सिद्ध करनेवाला है।

भावार्थ—हे प्रभो! हम आपके ऐश्वर्य में भागी हों।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

ज्ञानवाणियों का अहिंसन

प्र ते बभ्रू विचक्षण शंसामि गोषणो नपात्। माभ्यां गा अनु शिश्रथः ॥ २२ ॥

(१) हे **विचक्षण**=प्राज्ञ इन्द्र! **ते**-आपके **बभ्रू**=इन भरण करनेवाले इन्द्रियाश्वों का **प्रशंसामि**-खूब ही शंसन करता हूँ। इन में कर्मेन्द्रियाँ हमारे जीवन में यज्ञादि उत्तम कर्मों का भरण करती हैं और ज्ञानेन्द्रियाँ हमारे जीवन में ज्ञान का पोषण करती हैं, एवं ये 'बभ्रू' हैं। (२) हे **गोषणः**-ज्ञानवाणियों के देनेवाले, **नपात्**=न गिरने देनेवाले प्रभो! आप **आभ्याम्**=इन ज्ञानेन्द्रियों व कर्मेन्द्रियों से **गाः**-ज्ञानवाणियों को **मा**-मत **अनुशिश्रथः**-हिंसित करिए। इन ज्ञानेन्द्रियों द्वारा हम खूब ही ज्ञानवाणियों को प्राप्त करें।

भावार्थ—हमारी ज्ञान की इन्द्रियाँ ज्ञानवाणियों को हिंसित न करनेवाली हों। कर्मेन्द्रियाँ यज्ञादि कर्मों का भरण करें। इस प्रकार हम पतन से बचे रहें।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्राश्वौ ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

इन्द्रियाश्व ?

कनीनकेव विद्रधे नवे द्रुपदे अर्भके। बभ्रू यामेषु शोभेते ॥ २३ ॥

(१) हे **इन्द्रियाश्व यामेषु**-जीवनयात्रा के मार्गों में गति करते हुए **शोभेते**=अत्यन्त ही शोभावाले होते हैं। ये **कनीनका इव**-(कन दीप्तौ) अत्यन्त ही दीप्तिवाले से हैं-चमकते हुए हैं। **विद्रधे**-अत्यन्त दृढ़ हैं। **नवे** (नु स्तुतौ) प्रशंसनीय हैं। **द्रुपदे**-गतिमय पाँवोंवाले हैं-अत्यन्त क्रियाशील हैं। **अर्भके**-ये (like, similar) सर्वत्र समान हैं। पशुओं में व मनुष्यों में इन इन्द्रियों का अन्तर नहीं हैं। मन व बुद्धि के कारण ही सारा अन्तर पड़ता है। **बभ्रू**-ये हमारा भरण करनेवाले हैं। कर्मेन्द्रियाँ सब कर्मों को तथा ज्ञानेन्द्रियाँ सब ज्ञानों को सिद्ध करती हुई हमारा भरण करती हैं। (२) इन्द्रियाश्व दीप्त तो हैं ही-अपने-अपने कार्य को करने में अद्भुत इनकी क्षमता है। ये दृढ़ हैं थोड़े से विरोध से विकृत होनेवाले नहीं। अत्यन्त प्रशंसनीय हैं, सदा गतिशील हैं। सब प्राणियों में समानरूप से हैं। हमारा भरण इन्हीं के द्वारा होता है।

भावार्थ—प्रभु ने इन्द्रियाश्वों की रचना अद्भुत ही की है।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्राश्वौ ॥ छन्दः—स्वराडार्चीगायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

उस्त्रयामा-अनुस्त्रयामा

अरं म उस्त्रयाम्णेऽरमनुस्त्रयाम्णे। बभ्रू यामेष्वस्त्रिधा ॥ २४ ॥

(१) गतमन्त्र में वर्णित **बभ्रू** अत्यन्त हमारा भरण करनेवाले इन्द्रियाश्व **उस्त्रयाम्णे** (उस्र प्रकाश की किरण ray of light) प्रकाश की किरणों की ओर जानेवाले **मे** मेरे लिए **अरम्** पर्याप्त हैं, अर्थात् मुझे ज्ञानप्राप्ति के कार्य में ठीक से सहायक होते हैं। (२) इसी प्रकार **यामेषु** जीवनयात्रा के मार्गों में **अस्त्रिया**-न हिंसित होनेवाले ये इन्द्रियाश्व **अनुस्त्रयाम्णे** ज्ञान किरणों से भिन्न यज्ञादि कर्मों की ओर जानेवाले मेरे लिए **अरम्** पर्याप्त हैं, अर्थात् ये मेरे सब यज्ञादि कर्मों को सिद्ध करनेवाली होती हैं।

भावार्थ—प्रभु से बनायी गयी ये ज्ञानेन्द्रियाँ ज्ञान रश्मियों को प्राप्त कराती हैं, तो कर्मेन्द्रियाँ यज्ञादि कर्मों को सिद्ध करती हैं।

सूक्त का सार यही है कि प्रभु की मित्रता में जीवन उत्तम ही उत्तम बनता है। हम मस्तिष्क में ज्ञानदीप्त बनकर 'ऋभु' होते हैं (उरु भाति), मन में विशालतावाले 'विभ्वा' होते हैं तथा शरीर में शक्ति सम्पन्न बनकर 'वाज' होते हैं। अगले सूक्त के ये 'ऋभवः' (ऋभु, विभ्वा व वाज) ही देवता हैं—

[३३] त्रयस्त्रिंशं सूक्तम्

ऋषिः —वामदेवः ॥ देवता — ऋभवः ॥ छन्दः — भुरिक्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः — धैवतः ॥

श्वैतरी धेनु

प्र ऋभुभ्यो दूतमिव वाचमिष्य उपस्तिरे श्वैतरीं धेनुमीळे।
ये वातजूतास्तरणिभिरेवैः परि द्यां सद्यो अपसो बभूवुः॥ १॥

(१) प्रभु कहते हैं कि मैं **ऋभुभ्यः** ज्ञानदीप्त मस्तिष्कवाले 'ऋभु' के लिए, विशाल हृदय 'विभ्वा' के लिए तथा शक्ति सम्पन्न शरीरवाले 'वाज' के लिए **दूतं इव** सन्देशवाहक दूत की तरह **वाचम्** इस ज्ञानवाणी को **इष्ये** प्रेरित करता हूँ। **उपस्तिरे** आच्छादन के लिए, अर्थात् सब अशुभों से बचाने के लिए **श्वैतरी धेनुम्** (श्वेततरां) अत्यन्त शुद्ध ज्ञानदुग्ध को देनेवाली इस वेदवाणी रूप गौ को **ईडे** प्रस्तुत करता हूँ (to praise)। इस वेदवाणी रूप गौ से वह ज्ञान इन ऋभुओं को प्राप्त होगा, जो कि इन्हें सब अशुभों से बचानेवाला होगा। (२) उन ऋभुओं के लिए मैं इसे प्रस्तुत करता हूँ, **ये**-जो कि **वातजूताः** वायु से प्रेरणा को प्राप्त हुए हुए **अपसः** कर्मशील **तरणिभिः एवैः** वासनाओं को तरानेवाली गतियों द्वारा **सद्यः** शीघ्र ही **द्याम्** ज्ञान ज्योति को **परिबभूवुः** व्याप्त करते हैं। जीवन में जो भी आलस्य से आक्रान्त हो जाते हैं, वे कभी भी ज्ञान को नहीं प्राप्त कर पाते 'अलसस्य कुतो विद्या'। क्रियाशीलता ही हमें ज्ञानप्राप्ति का पात्र बनाती है।

भावार्थ—प्रभु हमारे लिए वेदवाणीरूप गौ को प्रस्तुत करते हैं। इसे हम प्राप्त तभी करते हैं जब कि हमारे जीवन में आलस्य नहीं होता।

ऋषिः — वामदेवः ॥ देवता — ऋभवः ॥ छन्दः — त्रिष्टुप् ॥ स्वरः — धैवतः ॥

सशक्त शरीर, दीप्त मस्तिष्क व प्रशस्त मन

यदारमक्रन्नृभवः पितृभ्यां परिविष्टी वेषणा दंसनाभिः।
आदिद्देवानामुप सख्यमायन्धीरासः पुष्टिमवहन्मनायै ॥ २॥

(१) **यदा** जब **ऋभवः** 'ऋभु, विभ्वा और वाज' (ज्ञानदीप्त, विशाल हृदय सशक्त पुरुष) **पितृभ्याम्** द्यावापृथिवी के लिए मस्तिष्क व शरीर के लिए, **परिविष्टी** परिचर्या के द्वारा बड़ों की सेवा के द्वारा, **वेषणा** (विष् to go against, to encounter) वासनाओं पर आक्रमण

के द्वारा तथा **दंसनाभिः** यज्ञादि उत्तम कर्मों में प्रवृत्त रहने के द्वारा **अरं अक्रन्**-पूर्ण पुरुषार्थ करते हैं, अर्थात् जब बड़ों के आदर आदि के द्वारा शरीर व मस्तिष्क दोनों को ही सशक्त व दीप्त बनाते हैं, तो **आत् इत्**-शीघ्र ही ये ऋभु **देवानाम्**-देवों के **सख्यम्**-मित्रत्व को **उप आयन्**-समीपता से प्राप्त होते हैं। देव बनने के लिए आवश्यक है कि हम शारीरिक व बौद्धिक उन्नतियों को करके ब्रह्म व क्षत्र का विकास करनेवाले बनें। (२) ये **धीरासः**-धीर पुरुष **मनायै**-प्रशस्त-मनस्कता के लिए **पुष्टिं अवहन्**=पुष्टि को धारण करते हैं। निर्बलता मन की भी अप्रशस्तता का कारण बनती है।

भावार्थ—ऋभु, शरीर व मस्तिष्क को सशक्त व ज्ञानदीप्त बनाकर मन को प्रशस्त बनाते हैं।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—ऋभवः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

इन्द्रवन्तः-मधुप्सरसः

पुनर्ये चक्रुः पितरा युवाना सना यूपेव जरणा शयाना।
ते वाजो विभ्वाँ ऋभुरिन्द्रवन्तो मधुप्सरसो नोऽवन्तु यज्ञम् ॥ ३ ॥

(१) **ये**-जो **पितरा** द्यापृथिवी को, मस्तिष्क व शरीर को **पुनः**-फिर **युवाना चक्रुः**-युवा कर देते हैं सब प्रकार की जीर्णता से रहित कर देते हैं। जो इन द्यावापृथिवी को-मस्तिष्क व शरीर को **सना**=सदा (always) **यूपा इव**-यज्ञ-स्तम्भों के समान बना देते हैं, अर्थात् जिनके मस्तिष्क व शरीर सदा यज्ञों को करनेवाले होते हैं। अतएव **जरणा**=आधि व्याधियों को जीर्ण करनेवाले तथा **शयाना** सदा प्रभु में निवास करनेवाला बनाते हैं। शरीर भी प्रभु में, मस्तिष्क भी प्रभु में। (२) **ते** वे **वाजः**-शरीर को शक्तिशाली बनानेवाले, **विभ्वा**-हृदय को विशाल बनानेवाले **ऋभुः** मस्तिष्क को अत्यन्त ज्ञानदीप्त करनेवाले **इन्द्रवन्तः** उस परमैश्वर्यशाली प्रभुवाले बनते हैं सदा प्रभु का स्मरण करते हैं। **मधुप्सरसः**-सोम का भक्षण करनेवाले-सोम को अपने अन्दर ही सुरक्षित करनेवाले होते हैं। प्रभु कहते हैं कि ये व्यक्ति ही **नः**-हमारे इस **यज्ञम्**=यज्ञ का **अवन्तु** रक्षण करते हैं-मेरे से उपदिष्ट यज्ञ को सदा करनेवाले होते हैं। प्रभु का आदेश वस्तुतः ये ही पालते हैं। प्रभु ने यही तो आदेश दिया है कि 'सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः अनेन प्रसविष्यध्वमेष वो स्त्विष्टकामधुक्'=इस यज्ञ से ही तुमने फलना फूलना।

भावार्थ—'ऋभु विभ्वा व वाज' मस्तिष्क व शरीर को स्वस्थ बनाकर 'प्रभु का स्मरण करते हैं, सोम का शरीर में रक्षण करते हैं और यज्ञशील होते हैं'।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—ऋभवः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

वेदवाणीरूप गौ का रक्षण

यत्संवत्समृभवो गामरक्षन्यत्संवत्समृभवो मा अपिंशन्।
यत्संवत्समभरन्भासो अस्यास्ताभिः शमीभिरमृतत्वमाशुः ॥ ४ ॥

(१) 'संवसन्ति भूतानि अस्मिन्' इस व्युत्पत्ति से 'संवत्स' वर्ष का नाम है। **यत्**=क्योंकि **ऋभवः**-'ऋभु, विभ्वा और वाज', ये दीप्त मस्तिष्क, विशाल हृदय, सशक्त पुरुष **संवत्सम्** सम्पूर्ण वर्ष **गाम्** इस वेदवाणीरूप धेनु का **अरक्षत्**=रक्षण करते हैं-सदा इसका स्वाध्याय करते हैं और **यत्** क्योंकि ये **ऋभवः** ऋभु लोग **संवत्सम्**-सम्पूर्ण वर्ष, अर्थात् सदा **माः**=ज्ञानलक्ष्मियों को **अपिंशन्** अपने जीवन में अलंकृत करते हैं। वेदवाणीरूप गौरक्षण से ज्ञान प्राप्त होना स्वाभाविक ही है। और **यत्**=क्योंकि **संवत्सम्**=वर्षभर, अर्थात् अविच्छन्न रूप से प्रतिदिन ही **अस्याः**-इस

वेदवाणीरूप गौ की **भासः** ज्ञानदीप्तियों को **अभरन्** अपने अन्दर भृत करते हैं। **ताभिः** उन **शमीभिः** शान्त भाव से किये जानेवाले कर्मों द्वारा ये ऋभु **अमृतत्वं आशुः** अमृतत्व को प्राप्त करते हैं। (२) यदि मनुष्य सारा वर्ष वेदवाणीरूप गौ का रक्षण करे इसके स्वाध्याय द्वारा अपने जीवन को ज्ञानलक्ष्मी सम्पन्न बनाए इसकी ज्ञान ज्योतियों का भरण ही जीवन का लक्ष्य बन जाए, तो मनुष्य कभी वासनाओं का शिकार न होगा। यह वासनाओं का शिकार न होना ही अमर बनना है। विषयों के पीछे न मर कर यह जीवन को पवित्र बनाता है और इस प्रकार जन्म मरण के चक्र से ऊपर उठ जाता है।

भावार्थ—हम वेदवाणी रूप गौ का रक्षण करें, अर्थात् सदा स्वाध्याय करें। इस प्रकार ज्ञानलक्ष्मियों से जीवन को अलंकृत करें। ज्ञान ज्योति को अपने में भरकर अमर बनें।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—ऋभवः॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

क्रमिक विकास 'स्वाध्याय, यज्ञ, तप, दान'

ज्येष्ठ आह चमसा द्वा करेति कनीयान्त्रीन्कृणवामेत्याह।
कनिष्ठ आह चतुरस्करेति त्वष्ट ऋभवस्तत्पनयद्वचो वः॥ ५॥

(१) **ज्येष्ठः** सब से बड़ा, अर्थात् सब से पहले आनेवाला व्यक्ति **आह** कहता है कि **चमसा** इस शरीररूप पात्र द्वारा **द्वा कर इति** 'तप व दान' रूप दो धर्मों का पालन करते हैं। उसके बाद आनेवाला **कनीयान्** पहले से छोटा पर (कन दीप्तौ) अधिक दीप्त होनेवाला **आह** कहता है कि **त्रीन् कृणवाम इति** 'यज्ञ, तप व दान' इन तीन धर्मों का आचरण करते हैं। (२) **कनिष्ठः** सब से छोटा सब के बाद में आनेवाला सर्वाधिक दीप्त व्यक्ति **आह**-कहता है कि **चतुरः कर इति** 'स्वाध्याय, यज्ञ, तप व दान' इन चार को करते हैं। यही तो वस्तुतः चतुष्पाद् धर्म है। हे **ऋभवः** ऋभुओ! **वः** तुम्हारे **तद् वचः** उस वचन को **त्वष्टा** (त्विषेर्वा स्याद् दीप्तिकर्मणः नि०) ज्ञानस्वरूप प्रभु **पनयत्** प्रशंसित करते हैं। प्रभु के लिए यह ऋभुओं की वाणी प्रिय होती है। 'तप और दान' को अपनाने का निश्चय स्तुत्य है। 'तप व दान के साथ यज्ञ' को सम्मिलित करने का निश्चय स्तुत्यतर है तथा इनके साथ स्वाध्याय को जोड़कर चतुष्पाद् धर्म के पालन का निश्चय स्तुत्यतम हो जाता है।

भावार्थ—हम 'स्वाध्याय, यज्ञ, तप व दान' रूप चतुष्पाद् धर्म के पालन का निश्चय करें। हमारा यह निश्चय हमें प्रभु के लिए प्रिय बनाए।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—ऋभवः॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

सत्यवचन, सत्य कर्म

सत्यमूचुर्नर एवा हि चक्रुरनु स्वधामृभवो जग्मुरेताम्।
विभ्राजमानांश्चमसाँ अहेवावेनत्त्वष्टा चतुरो ददृश्वान्॥ ६॥

(१) **नरः** (नृ नये) आगे और आगे बढ़नेवाले ये ऋभु **सत्यं ऊचुः** सदा सत्य ही बोलते हैं और **हि**-निश्चय से **एवा चक्रुः**-इस प्रकार सत्य के अनुसार ही करते हैं। **अनु** सत्यवचन व सत्यकर्म के अनुसार **ऋभवः** ये ऋभु **एतां स्वधाम्**=इस आत्मधारणशक्ति को **जग्मुः** प्राप्त होते हैं। (२) **चमसान् ददृश्वान्** हमारे इन शरीररूप पात्रों का ध्यान करनेवाला **त्वष्टा** वह सर्वनिर्माता प्रभु (त्वक्षतेर्वा नि०) **अह एव** निश्चय से **चतुरः** चारों को ही 'स्वाध्याय, यज्ञ, तप व दान' इन चारों धर्म के चरणों को **विभ्राजमानान्**-अत्यन्त चमकता हुआ **अवेनत्** चाहता है।

प्रभु की कामना यही है कि हम इन प्रभु से रक्षित किये जाते हुए चमसों (शरीरों) के द्वारा चतुष्पाद् धर्म का पालन करें।

भावार्थ—हम (क) सत्य बोलें, (ख) सत्य ही करें, (ग) आत्मधारण शक्तिवाले हों और (घ) 'स्वाध्याय, यज्ञ, तप व दान' रूप चतुष्पाद् धर्म का पालन करें।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—ऋभवः॥ छन्दः—भुरिक्पङ्क्तिः॥ स्वरः—पञ्चमः॥

प्रभु का आतिथ्य

द्वादश द्यून्यदगोह्यस्यातिथ्ये रणन्नृभवः ससन्तः।
सुक्षेत्राकृण्वन्ननयन्त सिन्धून्धन्वातिष्ठन्नोषधीर्निम्नमापः॥ ७॥

(१) सूर्य एक-एक राशि में से गुजरता हुआ एक-एक मास का निर्माण करता है। इस सूर्य की गति से १२ मासों का निर्माण होता है। यहाँ उन्हें 'द्यु' (द्यु गतौ) शब्द से स्मरण किया गया है। **यद्**=जब **ऋभवः**-'ऋभु, विभ्वा और वाज' ज्ञानदीप्त, विशाल हृदय, शक्तिशाली पुरुष **द्वादश द्यून्**-बारहों मास **अगोह्यस्य**-जिनका सर्वव्यापकता के कारण संवरण नहीं किया जा सकता, उन प्रभु के **अतिथ्ये**-अतिथ्य में-पूजन में **ससन्तः**-निवास करते हुए **रणन्**-आनन्द का अनुभव करते हैं, तो **सुक्षेत्रा अकृण्वन्**=अपने क्षेत्रों को बड़ा उत्तम बनाते हैं। शरीर ही क्षेत्र है 'इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते'। प्रभु का पुजारी कामवासना से आक्रान्त नहीं होता, परिणामतः शरीररूप क्षेत्र बड़ा उत्तम बना रहता है। शरीर की शक्तियों को यह वासना ही जीर्ण करती है न वासना होती है, न शक्तियों का ह्रास। (२) केवल शरीर ही स्वस्थ बना रहे, ऐसी बात नहीं। ये प्रभु का आतिथ्य करनेवाले ऋभु **सिन्धून्**=ज्ञानप्रवाहों को **अनयन्त**=अपने अन्दर प्राप्त कराते हैं। इनके ज्ञान प्रवाह ठीक प्रकार से चलते हैं। प्रभु के आतिथ्य के परिणामस्वरूप जीवन में ऐसा परिवर्तन आ जाता है कि मानो **धन्व**-मरुस्थल में भी **ओषधीः**-ओषधियाँ तथा **निम्नं आपः**=(निम्न-Deep) गहरे जल **अतिष्ठन्**-स्थित हो जाते हैं। कहाँ मरुस्थल और कहाँ लहलहाते खेत। प्रभु का आतिथ्य जीवन को कुछ का कुछ बना देता है।

भावार्थ—प्रभु का पुजारी उत्तम शरीर व उत्तम ज्ञानप्रवाहोंवाला बनता है।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—ऋभवः॥ छन्दः—भुरिक्पङ्क्तिः॥ स्वरः—पञ्चमः॥

'स्ववसः, स्वपसः, सुहस्ताः'

रथं ये चक्रुः सुवृतं नरेष्ठां ये धेनुं विश्वजुवं विश्वरूपाम्।
त आ तक्षन्त्वृभवो रयिं नः स्ववसः स्वपसः सुहस्ताः॥ ८॥

(१) ऋभु वे हैं, **ये** जो **रथम्**=इस शरीररूप रथ को **सुवृतम्**=उत्तम वर्तनवाला, अर्थात् उत्तमता से चलनेवाला तथा **नरेष्ठाम्**-उस संसार का प्रणयन करनेवाले प्रभु में स्थित **चक्रुः** करते हैं, अर्थात् इस शरीर-रथ को सदा उत्तम मार्ग में ले चलते हैं और प्रभु को वे कभी भूलते नहीं। (२) ऋभु वे हैं, **ये**-जो **धेनुम्**-इस वेदवाणीरूप गौ को करते हैं, अर्थात् अपनाते हैं, जो वेदवाणी रूप गौ **विश्वजुवम्**-सब यज्ञादि उत्तम कर्मों की प्रेरणा देती है और **विश्वरूपाम्**-सब सत्य विद्याओं का निरूपण करती है। कर्मेन्द्रियों के दृष्टिकोण से यह वेदवाणी 'विश्वजू' है, ज्ञानेन्द्रियों के दृष्टिकोण से 'विश्वरूपा'। (३) प्रभु कहते हैं कि **ते ऋभवः**-वे ऋभु **नः**-हमारे **रयिम्**-इस ज्ञानैश्वर्य को **आतक्षन्तु**-सर्वतः सम्पादित करनेवाले हों। ये **स्ववसः**=उत्तम सात्त्विक अन्नों का ही सेवन करें (अवस् Food)। सात्त्विक अन्न से सात्त्विक मनवाले होकर ये सदा **स्वपसः**-उत्तम

कर्मों को करनेवाले हों और **सुहस्ताः**-शोभन हाथोंवाले हों, अर्थात् सब कार्यों को सुन्दरता से करनेवाले बनें।

भावार्थ—अपने शरीर रथ को उत्तम बनाकर हम 'वाज' बनें। ज्ञान की वाणी को अपनाकर हम 'ऋभु' बनें। सात्त्विक अन्न के सेवन से सात्त्विक मनवाले बनकर हम 'विभ्वा' हों।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—ऋभवः॥ छन्दः—स्वराट्पङ्क्तिः॥ स्वरः—पञ्चमः॥

'वाज' देवों का, 'ऋभुक्षा' इन्द्र का, 'विभ्वा' वरुण का

अपो ह्येषामजुषन्त देवा अभि क्रत्वा मनसा दीध्यानाः।
वाजो देवानामभवत्सुकर्मेन्द्रस्य ऋभुक्षा वरुणस्य विभ्वा॥ ९॥

(१) **हि** निश्चय से **एषाम्**-इन ऋभुओं के **देवाः** इन्द्रियरूपेण शरीरस्थ देव **अपः** अपने अपने कर्मों का **अजुषन्त**-प्रीतिपूर्वक सेवन करते हैं। ऋभु लोग ज्ञानेन्द्रियों द्वारा 'सब विषयों का निरूपण करनेवाली' वेदवाणी का सेवन करते हैं और कर्मेन्द्रियों द्वारा इस वेदवाणी से प्रेरणा दिये गये यज्ञों को करनेवाले बनते हैं। (२) इस प्रकार ये ऋभु **क्रत्वा** यज्ञादि कर्मों से तथा **मनसा** मनन व ज्ञान से **अभिदीध्यानाः**-कर्मेन्द्रियों व ज्ञानेन्द्रियों में उभयत्र दीप्त बनते हैं। (३) **सुकर्मा**-उत्तम कर्मों का करनेवाला **वाजः** यह शक्ति सम्पन्न पुरुष **देवानां अभवत्**-देवों का होता है सब देवों का यह सम्बन्धी बनता है इसमें सब दिव्य गुणों का विकास होता है। **ऋभुक्षाः** उत्कृष्ट ज्योति में निवास करनेवाला ऋभु **इन्द्रस्य**-उस परमैश्वर्यशाली प्रभु का होता है। ज्ञानी तो प्रभु को आत्मतुल्य ही प्रतीत होता है। 'ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्'। और उदार विशाल हृदयवाला 'विभ्वा' **वरुणस्य** वरुण का होता है। वरुण 'पाशी' हैं। यह वरुण का बनकर अपने को व्रतों के पाशों में बाँधनेवाला होता है।

भावार्थ—ऋभु सदा इन्द्रियों से यथोचित्त कर्मों में प्रवृत्त रहते हैं। ये कर्मों व ज्ञानों से दीप्त होते हैं। शक्तिशाली बनकर दिव्यगुणों को अपनाते हैं। ज्ञानी बनकर प्रभु के प्रिय होते हैं। विशाल व पवित्र हृदयवाले बने रहने के लिए सदा अपने को व्रतों के बन्धन में बाँधते हैं।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—ऋभवः॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

सुयुज अश्व

ये हरी मेधयोक्था मदन्त इन्द्राय चक्रुः सुयुजा ये अश्वा।
ते रायस्पोषं द्रविणान्यस्मे धत्त ऋभवः क्षेमयन्तो न मित्रम्॥ १०॥

(१) ऋभु वे हैं, **ये** जो **हरी**-इन ज्ञानेन्द्रिय व कर्मेन्द्रियरूप अश्वों को **मेधया**-बुद्धि से तथा **उक्था** स्तोत्रों से **मदन्तः** (हर्षयन्तः) हर्षित होता हुआ **चक्रुः** करते हैं। जिनकी इन्द्रियों को ज्ञानप्राप्ति व स्तुतिरूप कर्म में ही आनन्द का अनुभव होता है। (२) ऋभु वे हैं, **ये** जो कि **इन्द्राय** उस प्रभु की प्राप्ति के लिए **अश्वा** ज्ञानेन्द्रिय व कर्मेन्द्रिय रूप अश्वों को **सुयुजा चक्रुः**-उत्तम रूप से शरीर-रथ में जुता हुआ करते हैं। उत्तम रूप से जुतने का भाव यही है कि अपने अपने कार्य को उत्तमता से करना। ज्ञानेन्द्रियाँ 'ज्ञान प्राप्ति में लगी रहें, कर्मेन्द्रियाँ स्तुतिरूप कर्मों में प्रवृत्त रहें' यही इनका शरीर रथ में सुयोग है। (३) प्रभु कहते हैं कि **ते ऋभवः** वे ऋभु **अस्मे**-हमारे **रायस्पोषम्**-धन के पोषण को तथा **द्रविणानि**-जीवनयात्रा के संचालक (द्रु गतौ) वसुओं को **धत्त**-धारण करें। उसी प्रकार धारण करें, **न** जैसे कि **क्षेमयन्तः**-कल्याण की कामनावाले **मित्रम्**-मित्र को प्राप्त करते हैं। मित्र को प्राप्त करके वे 'पापान्निवारयति योजयते हिताय'

पापों से बचते हैं और हितकर कार्यों में प्रवृत्त होते हैं।

भावार्थ—हमें बुद्धि व स्तोत्र प्रिय हों। हमारे इन्द्रियाश्वों का शरीर-रथ में उत्तम योग हो। हम धन व द्रविणों को धारण करके सचमुच 'ऋभु' बनें।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—ऋभवः॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

'न ऋते श्रान्तस्य सख्याय देवाः'

इदाह्नः पीतिमुत वो मदं धुर्न ऋते श्रान्तस्य सख्याय देवाः।
ते नूनमस्मे ऋभवो वसूनि तृतीये अस्मिन्त्सवने दधात॥ ११॥

(१) **इदा**-अब सब देव तुम्हारे लिए **अह्नः**-(अ हन्) न नष्ट करने योग्य इस सोम के **पीतिम्** पान को, **उत** और **मदम्**=सोमपान-जनित हर्ष को **वः**-तुम्हारे लिए **धुः**-धारण करें। **देवाः** देव **ऋते श्रान्तस्य** श्रम करनेवाले के अतिरिक्त किसी से **सख्याय न**=मित्रता के लिए नहीं होते सब देव श्रमशील के ही मित्र होते हैं। इसलिए 'ऋभु' श्रमशील बनकर देवों की मैत्री को प्राप्त करते हैं। आसुर भावों से अनाक्रान्त होने के कारण ही वे सोमरक्षण द्वारा जीवन को उल्लासमय बना पाते हैं। (२) प्रभु इन ऋभुओं से कहते हैं कि **ते ऋभवः**-ऋभुओ! तुम **नूनम्**-निश्चय से **अस्मे** हमारे **वसूनि**-वसुओं को-निवास को उत्तम बनानेवाले तत्त्वों को **अस्मिन् तृतीये सवने** जीवन के इस तीसरे सवन में-अड़सठ से एक सौ सोलह वर्ष तक के इस सायन्तन सवन में भी **दधात** धारण करो। वस्तुतः जीवन का वास्तविक उत्थान व आनन्द सोमरक्षण पर ही निर्भर करता है। सोमरक्षण के लिए वासनाओं से अनाक्रान्ति आवश्यक है। इसके लिये सदा कर्म में लगे रहना आवश्यक है।

भावार्थ—ऋभु सदा कर्म में लगे रहकर दिव्यगुणों का वर्धन करते हैं। सोमरक्षण द्वारा जीवन के सायंकाल में भी शक्ति-सम्पन्न बने रहते हैं।

इन्हीं ऋभुओं का ही वर्णन अगले सूक्त में भी है—

[३४] चतुस्त्रिंशं सूक्तम्

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—ऋभवः॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

'ऋभु विभ्वा वाज इन्द्र'

ऋभुर्विभ्वा वाज इन्द्रो नो अच्छेमं यज्ञं रत्नधेयोप यात।
इदा हि वो धिषणा देव्यह्नामधात्पीतिं सं मदा अग्मता वः॥ १॥

(१) प्रभु कहते हैं कि **ऋभुः**-ज्ञानदीप्त मस्तिष्कवाला, **विभ्वा**-विशाल हृदयवाला, **वाजः** शक्ति सम्पन्न शरीरवाला **इन्द्रः**-जितेन्द्रिय पुरुष **नः**-हमारे से प्राप्त कराये गये **इमं यज्ञं अच्छ** इस जीवन यज्ञ की ओर **रत्नधेया**=रमणीय तत्त्वों को धारण करने के लिए **उपयात**-प्राप्त हों। वस्तुतः जीवन को यज्ञमय उत्तम बनाने के लिए आवश्यक है कि हम 'ऋभु, विभ्वा, वाज व इन्द्र' बनें। (२) ऐसा होने पर **इदा** अब **हि** निश्चय से **वः**-तुम्हारी **देवी**-दिव्य गुणों का वर्धन करनेवाली **धिषणा** धारणात्मिका बुद्धि **अह्नाम्** न नष्ट करने योग्य इन सोमकणों की **पीतिम्** शरीर के अन्दर व्याप्ति को **अधात्** धारण करे। **वः**-तुम्हें **मदाः**-वास्तविक आनन्द **सं अग्मत**-सम्यक् प्राप्त हों। सोमरक्षण द्वारा आनन्द की प्राप्ति तो होती ही है।

भावार्थ—जीवन को उत्तम बनानेवाले ४ तत्त्व हैं—(क) दीप्त मस्तिष्क, (ख) विशाल हृदय, (ग) शक्ति (घ) जितेन्द्रियता। इन तत्त्वों की प्राप्ति के लिए सोम का रक्षण करें, तब ही जीवन

उल्लासमय बनेगा।

ऋषिः — वामदेवः ॥ देवता — ऋभवः ॥ छन्दः — भुरिक्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः — धैवतः ॥

ऋभुओं का लक्षण

विदानासो जन्मनो वाजरत्ना उत ऋतुभिर्ऋभवो मादयध्वम्।
सं वो मदा अग्मत सं पुरन्धिः सुवीरामस्मे रयिमेरयध्वम् ॥ २ ॥

(१) हे ऋभुओ! **विदानासः** तुम ज्ञान को प्राप्त करने के स्वभाववाले होते हो। **जन्मनः** (जनी प्रादुर्भावे) शक्तियों के विकास द्वारा **वाजरत्नाः**-बल व त्याग (वाज strength, sacrifice) से रमणीय जीवनवाले हो। **उत**-और तुम **ऋतुभिः**-ऋतुओं के अनुसार नियमित गतियों में **मादयध्वम्** आनन्द का अनुभव करो। (२) **वः** तुम्हें **मदाः** आनन्द व उल्लास **सं अग्मत** संगत हों प्राप्त हों। **पुरन्धिः** पालक व पूरक बुद्धि **सं (अग्मत)** प्राप्त हो। प्रभु कहते हैं कि **अस्मे**-हमारी **सुवीरां रयिम्**-उत्कृष्ट वीरता से युक्त सम्पत्ति को **एरयध्वम्** अपने अन्दर प्रेरित करो।

भावार्थ—ऋभु (क) ज्ञान की रुचिवाले होते हैं, (ख) बल व त्याग से जीवन को रमणीय बनाते हैं, (ग) नियमित गतिवाले होते हैं, (घ) सदा 'प्रसन्नता, पालक बुद्धि व वीरतायुक्त धन' को प्राप्त करते हैं।

ऋषिः — वामदेवः ॥ देवता — ऋभवः ॥ छन्दः — स्वराट्पङ्क्तिः ॥ स्वरः — पञ्चमः ॥

जीवन-यज्ञ की साधना

अयं वो यज्ञ ऋभवोऽकारि यमा मनुष्वत्प्रदिवो दधिध्वे।
प्र वोऽच्छा जुजुषाणासो अस्थुरभूत विश्वे अग्रियोत वाजाः ॥ ३ ॥

(१) हे **ऋभवः** ज्ञानदीप्त पुरुषो! **अयम्** यह जीवन **वः**-आपके द्वारा **यज्ञः अकारि** यज्ञ बना दिया जाता है। जीवन को आप यज्ञ का रूप दे देते हो। **यम्** जिस जीवन यज्ञ को **प्रदिवः** प्रकृष्ट ज्ञानवाले आप **मनुष्वत्** एक समझदार व्यक्ति की तरह **आदधिध्वे** धारण करते हैं। इस जीवनयज्ञ को आप बड़ी कुशलता से पूर्ण करने का प्रयत्न करते हैं। आप कर्मों में कुशलता को ही योग समझते हैं। (२) इसीलिए आप सोमरक्षण का भी पूरा ध्यान करते हैं। ये सोमकण **वः अच्छा** आपकी ओर **प्र अस्थुः** प्रस्थित होते हैं आप के शरीर में ही व्याप्त होते हैं। ये सोमकण **जुजुषाणासः** प्रीतिपूर्वक आपका सेवन करनेवाले होते हैं। इसीलिए आप **विश्वे** सब **अग्रिया** अग्रगति उन्नति के सिद्ध करनेवाले **उत** और **वाजाः**-शक्ति सम्पन्न **अभूत** होते हो। सोमरक्षण से ही सब उन्नति व शक्ति प्राप्त होती है।

भावार्थ—ऋभु जीवन यज्ञ को बड़ी समझदारी से पूर्ण करते हैं। सोमरक्षण द्वारा उन्नति व शक्ति का साधन करते हैं।

ऋषिः — वामदेवः ॥ देवता — ऋभवः ॥ छन्दः — निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः — धैवतः ॥

तृतीय सवन में भी उल्लासमयता

अभूदु वो विधते रत्नधेयमिदा नरो दाशुषे मर्त्याय।
पिबत वाजा ऋभवो ददे वो महि तृतीयं सवनं मदाय ॥ ४ ॥

(१) हे **नरः** उन्नतिपथ पर चलनेवाले मनुष्यो! **इदा**-अब **वः**-तुम्हारे में से **विधते** प्रभु का

पूजन करनेवाले, **दाशुषे मर्त्याय**-प्रभु के प्रति अपना अर्पण करनेवाले व्यक्ति के लिए **रत्नधेयम्** रत्नों का आधान **अभूत् उ**-निश्चय से होता है। जो भी व्यक्ति प्रभु के साथ अपने को जोड़ता है, वह सब रमणीय पदार्थों को प्राप्त करता है। (२) हे **वाजाः**-अपने को शक्ति-सम्पन्न बनानेवाले पुरुषो! **पिबत** इस सोम का पान करो। **ऋभवः**=हे ज्ञानदीप्त पुरुषो! **वः**-तुम्हारे लिए मैं इस सोम को **ददे**-देता हूँ। इस सोम के पान से यह **महि**-अत्यन्त महत्त्वपूर्ण **तृतीयं सवनम्**-जीवन यज्ञ का तृतीय सवन-अड़सठ से एक सौ सोलह वर्ष तक का समय, **मदाय**-अत्यन्त आनन्द के लिए हो। बाल्यकाल (प्रातः सवन) कुछ नासमझी का होता है। यौवन (माध्यन्दिन सवन) गृहस्थ के बोझ से दबा हुआ होता है। यह तृतीय सवन ही वास्तविक आत्मोत्थान का कारण बनता है। इसमें हम जीर्ण शीर्ण न हो जाएँ। इसके लिए आवश्यक है कि हम सोमपान करनेवाले बनें। यह सोमपान ही हमारी शक्ति को स्थिर रखेगा।

भावार्थ—प्रभु के प्रति अर्पण करनेवाले को रत्नों की प्राप्ति होती है। सोमपान करके हम जीवन यज्ञ के तृतीय सवन में भी शक्तिशाली व सोत्साह बने रहें।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—ऋभवः॥ छन्दः—भुरिक्पङ्क्तिः॥ स्वरः—पञ्चमः॥

वाज व ऋभुक्षा को प्रभु की प्राप्ति

आ वाजा यातोप न ऋभुक्षा महो नरो द्रविणसो गृणानाः।
आ वः पीतयोऽभिपित्वे अह्नामिमा अस्तं नवस्वइव ग्मन्॥ ५॥

(१) प्रभु कहते हैं कि हे **वाजाः**-शक्तिशाली मनुष्यो! **ऋभुक्षाः**-सद्गुणों से महान् बननेवाले **नरः** उन्नतिपथ पर चलनेवाले मनुष्यो! (ऋभुक्षाः महन्नाम नि० ३३, सद्गुणैर्महान्तः द०) **नः उप आयात**-तुम हमारे समीप आओ, अर्थात् प्रभु की प्राप्ति के लिए आवश्यक है कि हम (क) अपने अन्दर शक्ति का सम्पादन करें, (ख) सद्गुणों से महान् बनें, (ग) सदा उन्नतिपथ पर आगे बढ़नेवाले हों। (२) प्रभु कहते हैं कि तुम **महः द्रविणसः**-इस अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सोमरूप धन का **गृणानाः**-स्तवन करनेवाले बनो। इसके महत्त्व को समझकर ही तो हम इसका पान करनेवाले होंगे। **वः**=तुम्हें **अभिपित्वे**-जीवन के इस सायन्तन सवन में **अह्नाम्** इन न नष्ट करने योग्य सोमकणों की **पीतयः** शरीर में व्याप्तियाँ **आवग्मन्**-सर्वथा इस प्रकार प्राप्त हों, **इव** जैसे कि **नवस्वः**-नव प्रसूत धेनुएँ **अस्तम्**-गृह को प्राप्त होती हैं। बछड़े का स्मरण करती हुई वे शीघ्रता से घर की ओर आती हैं, इसी प्रकार ये सोमकण शरीररूप गृह की ओर आनेवाले हों। प्रभु कहते हैं कि ये ही तुम्हें 'वाज व ऋभुक्षा' बनाएँगे।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—ऋभवः॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

शवसः नपातः

आ नपातः शवसो यातनोपेमं यज्ञं नमसा हूयमानाः।
सजोषसः सूरयो यस्य च स्थ मध्वः पात रत्नधा इन्द्रवन्तः॥ ६॥

(१) हे **शवसः नपातः**-शक्ति को न गिरने देनेवाले लोगो! शक्ति का रक्षण करनेवाले पुरुषो! **इमं यज्ञं उप आयातन**-इस उपासनीय, संगतिकरण योग्य व समर्पणीय प्रभु के समीप प्राप्त होओ। तुम जो कि **नमसा हूयमानाः**=नम्रता से पुकार रहे हो-नम्रता से प्रभु प्रार्थना में प्रवृत्त हो, **सजोषसः**-परस्पर मिलकर प्रीतिपूर्वक अपने कर्त्तव्यों का सेवन करनेवाले हो। **सूरयः** जो तुम ज्ञानी हो। (२) तुम उस प्रभु के समीप प्राप्त होओ **यस्य च स्थ**-निश्चय से जिसके तुम हो।

वस्तुतः तुम प्रभु के ही मित्र हो। **मध्वः पातः**-जीवन को मधुर बनानेवाले सोम का तुम पान करो। परिणामतः **रत्नधाः**-रत्नों का धारण करनेवाले बनो। **इन्द्रवन्तः** उस परमैश्वर्यशाली प्रभुवाले बनो। प्रभु के तुम होओ।

भावार्थ—सोम का रक्षण करते हुए हम प्रभु को प्राप्त हों।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—ऋभवः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

सोमपान के चार साधन

सजोषा इन्द्र वरुणेन सोमं सजोषाः पाहि गिर्वणो मरुद्भिः।
अग्रेपाभिर्ऋतुपाभिः सजोषा ग्रास्पत्नीभी रत्नधाभिः सजोषाः॥ ७॥

(१) हे **इन्द्र**-जितेन्द्रिय पुरुष! तू **वरुणेन**-वरुण के साथ **सजोषाः** समानरूप से प्रीतिवाला होकर **सोमं पाहि**-सोम का पान कर। वरुण 'पाशी' है-व्रतों के बन्धन में बाँधनेवाला। जिस समय हम अपने को व्रतों के बन्धन में बाँधते हैं, तभी सोम का रक्षण कर पाते हैं। (२) हे **गिर्वणः** ज्ञान की वाणियों से प्रभु का स्तवन करनेवाले! तू **मरुद्भिः सजोषाः** प्राणों के साथ प्रीतिवाला होता हुआ (सोमं) **पाहि**=सोम का पान कर। प्राणसाधना से शरीर में रेतःकणों की ऊर्ध्वगति होती है। (३) **अग्रेपाभिः**-अग्रगति का रक्षण करनेवाली, **ऋतु, पाभिः**-नियमितता का रक्षण करनेवाली वृत्तियों के साथ **सजोषाः**-समानरूप से प्रीतिवाला होता हुआ तू सोम का पान कर। जिस समय हमारे जीवन में आगे बढ़ने की भावना होती है तथा हम दिनचर्या में बड़े नियमित होते हैं, तो सोम का रक्षण कर पाते हैं। (४) **रत्नधाभिः** रमणीय तत्त्वों का हमारे में धारण करनेवाली **ग्रास्पत्नीभिः**=ज्ञानवाणियों का रक्षण करनेवाली इन वेदवाणियों से **सजोषाः**-समानरूप से प्रीतिवाला होता हुआ तू सोम का पान कर।

भावार्थ—सोम के शरीर में सुरक्षित करने के चार साधन हैं, (क) व्रतों के बन्धन में अपने को बाँधना, (ख) प्राणसाधना (प्राणायाम), (ग) अग्रगति की भावना व नियमित गति, (घ) ज्ञानवाणियों को अपनाना।

चार का संग (आदित्यों के सम्पर्क से स्वाध्यायशील तथा पर्वतों के सम्पर्क से उपासना प्रवृत्त बनें)।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—ऋभवः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

सजोषस आदित्यैर्मादयध्वं सजोषस ऋभवः पर्वतेभिः।
सजोषसो दैव्येना सवित्रा सजोषसः सिन्धुभी रत्नधेभिः॥ ८॥

(१) **आदित्यैः** जिन्हें प्रकृति जीव व परमात्मा तीनों का ज्ञान है, उन आदित्य विद्वानों के साथ **सजोषसः** संगत हुए हुए तुम **मादयध्वम्**-आनन्द का अनुभव करो। (२) इसी प्रकार **ऋभवः** हे ज्ञान से दीप्त पुरुषो! तुम **पर्वतेभिः**-(पर्व पूरणे) अपना पूरण करनेवाले न्यूनताओं से रहित पुरुषों से **सजोषसः**-संगत हुए हुए आनन्दित होओ। (३) **सवित्रा दैव्येन** (देव एव दैव्यम्, स्वार्थे ष्यञ्) उस सर्वप्रेरक दिव्य गुणों के पुञ्ज प्रभु से **सजोषसः**-संगत हुए उसकी उपासना में बैठे हुए तुम आनन्दित होओ। (४) **रत्नधेभिः**-सब रमणीय ज्ञानों का आधान करनेवाले **सिन्धुभिः** ज्ञान के समुद्रभूत इन चार वेदों से **सजोषसः** संगत हुए हुए, अर्थात् इनका स्वाध्याय करते हुए तुम आनन्दित होओ।

भावार्थ—हमें 'प्रकृति, जीव, परमात्मा' का ज्ञान देनेवाले विद्वानों का और सब न्यूनताओं

को दूर करनेवाले प्रभुभक्तों का संग प्राप्त हो। प्रभुभक्तों के संग से हम भी प्रभु की उपासना में बैठनेवाले बनें और आदित्यों का सम्पर्क हमें भी स्वाध्याय की रुचिवाला बनाए।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—ऋभवः॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

विभू नर क्या करते हैं?

ये अश्विना ये पितरा य ऊती धेनुं ततक्षुर्ऋभवो ये अश्वा।
ये अंसत्रा य ऋधग्रोदसी ये विभ्वो नरः स्वपत्यानि चक्रुः॥ ९॥

(१) **ये**-जो **विभ्वः नरः**-व्यापक उदार हृदयवाले उन्नतिपथ पर चलनेवाले व्यक्ति होते हैं, वे **ऊती**-अपने रक्षण के उद्देश्य से-रोगों व वासनाओं के आक्रमण से अपने को बचाने के हेतु से **अश्विना** प्राणापान को **ततक्षुः**-बनाते हैं। ये विभू नर प्राणायाम के द्वारा प्राणापान की शक्ति को विकसित करके नीरोग व निर्मल हृदय बनते हैं। (२) **ये**=जो विभू नर हैं, वे **पितरा** माता पिता को रक्षण के उद्देश्य से उपासित करते हैं। 'मातृ देवो भव, पितृ देवो भव'-माता-पिता को देववत् पूजते हुए पवित्र जीवनवाले बने रहते हैं। (३) **ये**-जो **ऋभवः**=ज्ञान से दीप्त होनेवाले पुरुष हैं, वे **धेनुं ततक्षुः**-ज्ञानदुग्ध देनेवाली इस वेदवाणी रूप गौ को निर्मित करते हैं। इससे वे सदा ज्ञानदुग्ध का दोहन करते हैं। (४) **ये**=जो ऋभु हैं, वे **अश्वा**-ज्ञानेन्द्रिय व कर्मेन्द्रियरूप अश्वों का निर्माण करते हैं। इन इन्द्रियाश्वों से ही तो शरीर रथ में आगे और आगे बढ़ते हुए वे लक्ष्य पर पहुँचा करते हैं। (५) ऋभु व विभू वे हैं, **ये**=जो कि **अंसत्रा**-कवचों का निर्माण करते हैं। 'ब्रह्म वर्म ममान्तरम्'-इन ज्ञान वाणियों को ही वे अपना आन्तर कवच बनाते हैं। (६) विभू वे हैं, **ये**-जो **रोदसी**-द्यावापृथिवी को-मस्तिष्क व शरीर को **ऋधक्**=एक-एक करके (One by One) बनाते हैं। शरीर को सबल बनाते हैं, तो मस्तिष्क को वे ज्ञानदीप्त बनाते हैं। इस प्रकार ये विभू नर **स्वपत्यानि** (स्व-पत्य) आत्मप्राप्ति के साधनभूत कर्मों को करते हैं (पत् गतौ) अथवा (सु अपत्) अच्छी प्रकार अपतन के साधनभूत कर्मों को करते हैं। ये कर्म ही उन्हें 'ऋभु, विभ्वा व वाज' बनाते हैं।

भावार्थ—जीवन निर्माण के लिए आवश्यक है कि (क) प्राणसाधना करें, (ख) माता-पिता को देव मानें, (ग) वेदवाणीरूप गौ का दोहन करें, (घ) कर्मेन्द्रियों व ज्ञानेन्द्रियों को प्रशस्त बनाएँ, (ङ) ब्रह्मज्ञानरूप कवच का धारण करें, (च) मस्तिष्क व शरीर दोनों के निर्माण का ध्यान करें।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—ऋभवः॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

ते अग्रेपाः ऋभवः मंदसानाः

ये गोमन्तं वाजवन्तं सुवीरं रयिं धत्थ वसुमन्तं पुरुक्षुम्।
ते अग्रेपा ऋभवो मन्दसाना अस्मे धत्त ये च रातिं गृणन्ति॥ १०॥

(१) **ते**=वे **अग्रेपाः**=सर्वप्रथम सोमपान करनेवाले **ऋभवः**-ज्ञानदीप्त **मंदसानाः**=स्तोता होते हैं. **ये**=जो **रयिम्**-धन को **धत्थ**=धारण करते हैं। जो धन **गोमन्तम्**=प्रशस्त ज्ञानेन्द्रियोंवाला है, **वाजवन्तम्**-प्रशस्त शक्तिवाला है, **सुवीरम्**=उत्तम वीरता व उत्तम सन्तानोंवाला है, **वसुमन्तम्**-निवास के लिए आवश्यक सब तत्त्वोंवाला है तथा **पुरुक्षुम्**-(क्षु=Food) पालक व पूरक भोजनवाला है। वस्तुतः यह धन ही इन्हें (क) सोमपान द्वारा सशक्त शरीरवाला बनाता है, (ख) ज्ञान की दीप्ति प्राप्त कराता है और (ग) स्तुति की वृत्तिवाला बनाता है। (२) **अस्मे**=हमारे लिए

ऐसे ही धन को **धत्त** धारण करो। उनके लिए धन को धारण करो **ये च** और जो **गतिं गृणन्ति**=दान की स्तुति करते हैं दान की वृत्तिवाले होते हैं।

भावार्थ—हम सोमपान करनेवाले ज्ञानदीप्त स्तोता बनें। प्रशस्त धनों को प्राप्त करें और इन्हें देनेवाले हों।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—ऋभवः ॥ छन्दः—स्वराट्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

ऋभुओं का संग

नापाभूत न वोऽतीतृषामानिः शस्ता ऋभवो यज्ञे अस्मिन्।
समिन्द्रेण मदथ सं मरुद्भिः सं राजभी रत्नधेयाय देवाः॥ ११॥

(१) हे **ऋभवः** ज्ञानदीप्त पुरुषो! **अस्मिन् यज्ञे** इस जीवनयज्ञ में **न अप अभूत** हमारे से दूर न होओ। **नः वः अतीतृषाम** हम आपके प्यासे ही न रह जाएँ 'आपके सम्पर्क को न प्राप्त कर सकें' ऐसा न हो। **अनिः शस्ताः** हम इस जीवन में अनिन्दित बनें। (२) हे **देवाः** देववृत्ति के पुरुषो! तुम **इन्द्रेण** उस परमैश्वर्यशाली प्रभु से **संमदथ** सम्यक् आनन्दित होओ। तुम्हें प्रभु की उपासना ही में आनन्द आये। **मरुद्भिः** प्राणों के साथ तुम **सम्** आनन्द का अनुभव करो, प्राणसाधना में प्राणायाम में तुम्हें आनन्द आये। **राजभिः** ज्ञानदीप्त व व्यवस्थित (regulated) जीवनवाले पुरुषों के साथ तुम्हें **सम्** आनन्द प्राप्त हो, ऐसों का संग ही तुम्हारे लिए रुचिकर हो। इस प्रकार तुम **रत्नधेयाय** सब रमणीय वस्तुओं को धारण करनेवाले होओ।

भावार्थ—हमें ऋभुओं का संग प्राप्त हो। देववृत्ति के पुरुष प्रभु की उपासना में, प्राणसाधना में व व्यवस्थित जीवन में आनन्द का अनुभव करें।

अगला सूक्त भी इन ऋभुओं का ही वर्णन करता है—

[३५] पञ्चत्रिंशं सूक्तम्

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—ऋभवः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

प्रभुप्राप्ति के तीन साधन

इहोप यात शवसो नपातः सौधन्वना ऋभवो माप भूत।
अस्मिन्हि वः सवने रत्नधेयं गमन्त्विन्द्रमनु वो मदासः॥ १॥

(१) प्रभु कहते हैं कि हे **ऋभवः** ज्ञानदीप्त पुरुषो! **इह उपयात** यहाँ हमारे समीप तुम प्राप्त होओ। प्रभुप्राप्ति के लिए ज्ञानदीप्ति तो आवश्यक है ही। तुम जो कि **शवसः नपातः** अपनी शक्ति को न गिरने देनेवाले हो। शक्तिशाली ही प्रभु को पाते हैं 'नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः'। **सौधन्वनाः** उत्तम धनुषवाले तुम **मा** मत **अपभूत** हमारे से दूर होओ। 'प्रणवोधनुः' प्रणव (ओ३म्) ही धनुष है। इस प्रणवरूप धनुष द्वारा हम आत्मारूप शर को ब्रह्म रूप लक्ष्य में प्रविष्ट करनेवाले बनें। एवं प्रभुप्राप्ति के तीन साधन हैं, (क) ज्ञानदीप्ति, (ख) शक्ति का संचय व (ग) ओ३म् के जप से चित्तवृत्तिनिरोध। (२) इस प्रकार जीवन को बनाने से **अस्मिन् सवने** इस जीवन के तृतीय सवन में भी **हि**-निश्चय से **वः** तुम्हारा **रत्नधेयम्** रमणीय पदार्थों का धारण होता है। सोमरक्षण से ६८ साल से प्रारम्भ होनेवाले तृतीय सवन में भी रमणीय तत्त्वों का धारण बना रहता है। (३) इस प्रकार सोमरक्षण के साथ **वः** तुम्हें **मदासः** आनन्द **इन्द्रं अनु** प्रभु के सामीप्य के अनुपात में **गमन्तु** प्राप्त हों। सोमरक्षण द्वारा प्रभु के समीप और समीप होते हुए आनन्द का अनुभव करो। वस्तुतः जीवन का प्रथम सवन (प्रथम चौबीस वर्ष) उतनी सुबोधता का नहीं

होता। माध्यन्दिन सवन (२५ से ६८ तक) गृहस्थ के बोझ में दबा-सा रहता है अब तृतीय सवन (६८ से ११६ तक) अध्यात्म उन्नति के लिए सर्वथा अनुकूल होता है। इस समय सोम का रक्षण करते हुए हम आगे और आगे बढ़ते चलते हैं। प्रभु का सान्निध्य करते हुए प्रभु के आनन्द से आनन्दित हो पाते हैं।

भावार्थ—'शक्ति का रक्षण, 'ओ३म्' का जप व ज्ञान' ये प्रभुप्राप्ति के साधन हैं। हम जीवन के तृतीय सवन में भी (६८-११६) सोमरक्षण करते हुए आनन्द को प्राप्त हों।

ऋषिः—**वामदेवः** ॥ देवता—**ऋभवः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

सुषुत सोम का पान

आग॑न्नृभूणामि॒ह र॑त्न॒धेय॒मभू॒त्सोम॑स्य॒ सुषु॑तस्य पी॒तिः।
सु॒कृ॒त्यया॒ यत्स्व॑प॒स्यया॑ चँ॒ एकं॑ विच॒क्र च॑म॒सं च॑तु॒र्धा॥ २॥

(१) **इह**-इस जीवन में **ऋभूणाम्**-ज्ञानदीप्त पुरुषों को **रत्नधेयम्**-रत्नों का आधान-रमणीय तत्त्वों की प्राप्ति **आगन्**=प्राप्त हो। **सुषुतस्य**=उत्तम सात्त्विक भोजनों से उत्पन्न **सोमस्य** सोम का **पीतिः** पान **अभूत्**-हो। इस सोम के पान से ही तो रत्नों की स्थापना होती है। (२) यह सब तब होता है, **यत्**-जब कि ये ऋभु **सुकृत्यया**-उत्तम कर्मों द्वारा **च**=और **स्वपस्यया**=सदा उत्तम कर्मों की इच्छा से **एकं चमसम्**=इस एक शरीररूप पात्र को **चतुर्धा**=चार प्रकार से **विचक्र**=करते हैं। चार प्रकार से करने का भाव यह है कि ये इस शरीर से चलनेवाली जीवनयात्रा को चार भागों में बाँटकर पूरा करते हैं। ये चार भाग ही 'ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ व संन्यास' ये चार आश्रम हैं। इस प्रकार प्रत्येक आश्रम को सुन्दरता से निभाते हुए ये ऋभु सोम का रक्षण करते हैं और सोमरक्षण द्वारा रत्नों को प्राप्त करते हैं।

भावार्थ—हम शरीर द्वारा चारों आश्रमों का ठीक से पालन का निश्चय करें। सोमरक्षण करते हुए जीवन को रमणीय तत्त्वों से परिपूर्ण करें।

ऋषिः—**वामदेवः** ॥ देवता—**ऋभवः** ॥ छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

अमृत मार्ग का आक्रमण

व्य॑कृणोत चम॒सं च॑तु॒र्धा सखे॒ वि शि॒क्षेत्य॑ब्रवीत।
अथै॑त वाजा अ॒मृत॑स्य॒ पन्थां॑ ग॒णं दे॒वाना॑मृभवः सुहस्ताः॥ ३॥

(१) हे ऋभुओ! तुम लोगों ने **चमसम्**-इस शरीर पात्र को **चतुर्धा**=चार प्रकार से **व्यकृणोत**-किया है, अर्थात् इसके द्वारा 'ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ व संन्यास' चारों आश्रमों को बिताने का निश्चय किया है तथा प्रभु से **इति अब्रवीत्**-इस रूप में प्रार्थना की है कि **सखे**-हे मित्र प्रभो! **विशिक्ष**-हमें विशिष्ट ज्ञान प्राप्त कराइये, अथवा (शक् सन्) हमें सशक्त बनाने की कामना करिए। (२) **अथ**-अब इस प्रार्थना के साथ **वाजाः**-हे शक्तिशाली पुरुषो! तुम **अमृतस्य पन्थां एत** अमृत के मार्ग पर आक्रमण करो। उस मार्ग पर चलो, जो कि तुम्हें मोक्ष की ओर ले जाए तुम विषय वासनाओं के पीछे मरनेवाले मत होओ। हे **सुहस्ताः**-उत्तम हाथोंवाले कार्यकुशल **ऋभवः**-ज्ञानी पुरुषो! **देवानां गणं (एत)**-दिव्यगुणों के समूह को प्राप्त होओ। गीता में प्रतिपादित दैवी सम्पत्ति के २७ तत्त्वों को प्राप्त करो।

भावार्थ—जीवन को हम चार आश्रमों में चलाएँ। प्रभु से शक्ति की प्रार्थना करें। अमृत के मार्ग पर चलें। दैवी-सम्पत्ति के अर्जन के लिए यत्नशील हों।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—ऋभवः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

सोम्य मधु का रक्षण

किंमयः स्विच्चमस एष आस यं काव्येन चतुरो विचक्र।
अथा सुनुध्वं सवनं मदाय पात ऋभवो मधुनः सोम्यस्य॥ ४॥

(१) **एषः चमसः** यह शरीररूप पात्र **यम्** जिसको **काव्येन** वेदज्ञान द्वारा **चतुरः विचक्र** आपने चार आश्रमों में बाँटकर बिताने का निश्चय किया, वह **स्वित्** निश्चय से **किंमयः आस** आनन्द के प्राचुर्यवाला हुआ है। वेद में मानव जीवन को चार मंजिलों में बाँटकर बिताने का उपदेश हुआ है। जब हम उस प्रभु के महान् काव्य वेद के अनुसार जीवन को इस प्रकार चार भागों में बाँटकर चलते हैं, तो जीवन आनन्दमय बना रहता है। (२) **ऋभवः** हे ऋभुओ! तुम **मदाय** जीवन को उल्लासमय बनाने के लिए **सवनम्**-(सूयते इति) सोम को **सुनुध्वम्** अपने अन्दर उत्पन्न करो। और इस **सोम्यस्य**-सोमसम्बन्धी सोम से उत्पन्न हुए हुए **मधुनः** माधुर्य का **पात**-रक्षण करो। हम शरीर में सोम को उत्पन्न करें और इस सोम को सुरक्षित रखते हुए जीवन को मधुर बनाएँ।

भावार्थ—जीवन की चारों मंजिलों को सुन्दरता से बिताने से जीवनयात्रा अच्छी निभती है। इसको अच्छा बनाने के लिए ही हम सोम (वीर्य शक्ति) का उत्पादन व रक्षण करें।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—ऋभवः ॥ छन्दः—स्वराट्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

देवपान चमस

शच्याकर्त पितरा युवाना शच्याकर्त चमसं देवपानम्।
शच्या हरी धनुतरावतष्टेन्द्रवाहावृभवो वाजरत्नाः ॥ ५॥

(१) हे **वाजरत्नाः** शक्तिरूपी रमणीय धनवाले, **ऋभवः** ज्ञानदीप्त पुरुषो! आप **शचा** कर्म व प्रज्ञान द्वारा **पितरा** द्यावापृथिवी रूप माता पिता को मस्तिष्करूप द्युलोक को तथा शरीररूप पृथिवी को **युवाना** युवा **अकर्त** कर देते हो। इन्हें जीर्णशक्तिवाले नहीं होने देते। (२) तुम **शच्या** कर्म व प्रज्ञान द्वारा **चमसम्** इस शरीरपात्र को **देवपानम्** दिव्यवृत्तिवाले पुरुषों का सोमपान का स्थान **अकर्त**=करते हो इसमें सोम का पान करते हुए इसे अत्यन्त दृढ़ व ज्ञान सम्पन्न बनाते हो। (३) **शच्या**-कर्म व प्रज्ञान द्वारा ही **हरी**=इन इन्द्रियाश्वों को **धनुतरौ** (शीघ्रं गंतृतरो) शीघ्र गतिवाला तथा **इन्द्रवाहौ**-उस प्रभु का वहन (धारण) करनेवाला **अतष्ट** बनाते हो। कर्मेन्द्रियाँ यदि शीघ्रता से यज्ञादि कर्मों में प्रवृत्त होती हैं, तो ज्ञानेन्द्रियाँ प्रभु का ज्ञान प्राप्त करनेवाली बनती हैं।

भावार्थ—कर्म व प्रज्ञान द्वारा शरीर व मस्तिष्क की शक्ति जीर्ण नहीं होती। इस शरीर में देववृत्ति के पुरुष सोम (वीर्यशक्ति) का रक्षण करते हैं और इन्द्रियों को कर्मप्रवृत्त व आत्मज्ञान का धारण करनेवाली बनाते हैं।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—ऋभवः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

ऋभु, वृषा व मन्दसान

यो वः सुनोत्यभिपित्वे अह्नां तीव्रं वाजासः सवनं मदाय।
तस्मै रयिमृभवः सर्ववीरमा तक्षत वृषणो मन्दसानाः ॥ ६॥

(१) **यः**-जो प्रभु हे **वाजासः**-शक्तिशाली पुरुषो! **वः**=तुम्हारे लिए **अह्नां अभिपित्वे**=दिनों की (अभिपतने) समाप्ति के समय जीवन की सन्ध्यावेला में भी **तीव्रं सवनम्**-इस शत्रुसंहार के लिए उग्र सोम को **मदाय**-उल्लास-प्राप्ति के लिए **सुनोति**=उत्पन्न करता है। **तस्मै**-उस प्रभु की प्राप्ति के लिए, हे **ऋभवः**=ज्ञानदीप्त **वृषणः**-शक्तिशाली **मन्दसानाः**-स्तुति करनेवाले लोगो! **सर्ववीरं रयिम्** सब वीरताओं के देनेवाले धन को **आनक्षत**-सर्वथा सम्पादित करो। (२) हम ऋभु (ज्ञानदीप्त) वृषा (शक्तिशाली) व मन्दसान (स्तुति करनेवाले) बनें। प्रभु हमारे लिए जिस सोम का सम्पादन करते हैं, उसका हम रक्षण करें। वीरता से युक्त धन का सम्पादन करें। यही प्रभुप्राप्ति का मार्ग है।

भावार्थ—प्रभु को प्राप्त करने के लिए हम ऋभु 'ज्ञानदीप्त' बनें। शक्ति का सम्पादन करें (वृषा) तथा स्तुति की वृत्तिवाले हों (मन्दसान)।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—ऋभवः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

तीनों सवनों में सोमपान

प्रातः सुतमपिबो हर्यश्व माध्यन्दिनं सवनं केवलं ते।
समृभुभिः पिबस्व रत्नधेभिः सखीँर्यां इन्द्र चकृषे सुकृत्या ॥ ७ ॥

(१) हे **हर्यश्व** गतिशील इन्द्रियाश्वोंवाले जीव! तू **प्रातः**=जीवन के प्रातःसवन में (प्रथम २४ वर्षों में) **सुतं अपिबः**-इस उत्पन्न किये गये सोम का पान करता है। वीर्य का रक्षण ही सोम का पान है। **माध्यन्दिनं सवनम्**=जीवन का माध्यन्दिन सवन तो **केवलं ते**=सिर्फ तेरे लिए ही है। २४ से ६८ तक के जीवन के मध्याह्न में (गृहस्थ काल में) केवल इन्द्र ही सोमपान करता है, अर्थात् इस समय एक जितेन्द्रिय पुरुष के लिए ही सोमरक्षण सम्भव होता है। (२) हे **इन्द्र**-जितेन्द्रिय पुरुष! तू **सुकृत्या**-उत्तम कर्मों के हेतु से **यान्**-जिनको **सखीन् चकृषे**=अपना मित्र बनाता है, उन **रत्नधेभिः** रमणीय तत्त्वों का धारण करनेवाले **ऋभुभिः**-ज्ञानदीप्त पुरुषों के साथ उठता बैठता हुआ-इन्हीं के संग में रहता हुआ तू **संपिबस्व**-सोम का सम्यक् पान कर। हीनवृत्ति पुरुषों का संग ही हमें भटकानेवाला व सोमपान के अयोग्य बना देता है।

भावार्थ—हम जीवन के तीनों सवनों में सोम का पान करनेवाले बनें।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—ऋभवः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

मोक्ष-प्राप्ति

ये देवासो अभवता सुकृत्या श्येनाइवेदधि दिवि निषेद।
ते रत्नं धात शवसो नपातः सौधन्वना अभवतामृतासः ॥ ८ ॥

(१) **ये**-जो तुम **सुकृत्या**=उत्तम कर्मों द्वारा **देवासः अभवत**=देव बने हो। **श्येनाः इव**-जो तुम अत्यन्त शंसनीय गतिवाले हो। शंसनीय गतिवाले की भाँति तुम **इत्**=निश्चय से **दिवि**=प्रकाश में **अधिनिषेद**-आधिक्येन निषण्ण होओ। जैसे उत्तम कर्मोंवाले बनो, उसी प्रकार ज्ञान में स्थित होनेवाले बनो। (२) **ते** वे तुम **रत्नं धात**-रमणीय पदार्थों के धारण करनेवाले बनो। **शवसः नपातः** शक्ति के न गिरने देनेवाले होओ। **सौधन्वनाः**=उत्तम प्रणवरूप धनुष्वाले बनो। इस प्रकार **अमृतासः अभवत**-तुम अमृत हो जाओ, जन्म-मरण के चक्र से ऊपर उठ जाओ।

भावार्थ—मोक्षप्राप्ति का मार्ग यह है, (क) उत्तम कर्मों द्वारा देव बनें, (ख), प्रशंसनीय गतिवाले व ज्ञान की रुचिवाले हों, (ग) रत्न (मणि-सोम) का धारण करें, (घ) शक्ति को नष्ट

न होने दें, (ङ) प्रणव (ओ३म्) का जप करें।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—ऋभवः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

मदेभिः इन्द्रियेभिः

यत्तृतीयं सवनं रत्नधेयमकृणुध्वं स्वपस्या सुहस्ताः।
तदृभवः परिषिक्तं व एतत्सं मदेभिरिन्द्रियेभिः पिबध्वम् ॥ ९ ॥

(१) **यत्** जब **तृतीयं सवनम्**-जीवन-यज्ञ के सायन्तन सवन को भी **रत्नधेयम्** रत्नों का आधान करनेवाला **अकृणुध्वम्**-करते हो, अर्थात् ६८ से ११६ वर्ष तक भी सोम (रत्न मणि) का शरीर में धारण करते हो, तो **स्वपस्या** उत्तम कर्मों की इच्छा से **सुहस्ताः** उत्तम हाथोंवाले होते हो। सोमरक्षण से उत्तम कर्मों की इच्छा तो होती ही है, साथ ही साथ शक्तिसम्पन्न बने रहते हैं। (२) **तद्** तब **ऋभवः** हे ज्ञानदीप्त पुरुषो! **वः**-तुम्हारा **एतत्** यह **परिषिक्तम्** सोम का सर्वतः सेचन होता है। सो तुम **मदेभिः**-उल्लासों के हेतु से तथा **इन्द्रियेभिः** वीर्यों व बलों के हेतु से प्रत्येक अंग की शक्ति के हेतु से **संपिबध्वम्**-सम्यक् सोम का पान करो। सोमरक्षण से जीवन में उल्लास बना रहता है तथा शक्ति स्थिर रहती है।

भावार्थ—सोमरक्षण हमें उत्तम कर्मों की इच्छावाला, उत्तम हाथोंवाला, उल्लासयुक्त व सशक्त बनाता है।

अगले सूक्त में भी इन ऋभुओं का ही वर्णन है—

[३६] षट्त्रिंशं सूक्तम्

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—ऋभवः ॥ छन्दः—स्वराट्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

त्रिचक्रः रथः

अनश्वो जातो अनभीशुरुक्थ्यो३ रथस्त्रिचक्रः परि वर्तते रजः।
महत्तद्वो देव्यस्य प्रवाचनं द्यामृभवः पृथिवीं यच्च पुष्यथ ॥ १ ॥

(१) हे ऋभुओ! तुम्हारा यह **रथः** शरीर रथ **अनश्वः जातः**-इन्द्रियरूप अश्वों के शासनवाला नहीं रहा। इसमें इन्द्रियों का शासन नहीं रहा। **अनभीशुः** यह मनरूप लगाम के प्रभुत्ववाला भी नहीं हुआ। इसमें मन का भी शासन नहीं है। **उक्थ्यः**-यह अत्यन्त स्तुत्य है इन्द्रियों व मन के शासन न होने से यह अत्यन्त प्रशंसनीय बना है। यह रथ **त्रिचक्रः** ज्ञान, कर्म व उपासनारूप तीन चक्रोंवाला है। यह रथ **रजः परिवर्तते**-इस लोक में निरन्तर गतिवाला होता है। यह रथ सदा क्रियाशील है। (२) हे **ऋभवः** ज्ञानदीप्त पुरुषो! **वः**-तुम्हारा **तत्** वह **देव्यस्य**-देवप्राप्ति का साधनभूत कर्म **प्रवाचनम्** प्रकर्षेण कथन योग्य है **यत्** कि तुम **द्याम्** मस्तिष्करूप द्युलोक को **च** तथा **पृथिवीम्**-शरीररूप पृथिवी को **पुष्यथ**-पुष्ट करते हो। शरीर को शक्ति सम्पन्न बनाना और मस्तिष्क को ज्ञान-सम्पन्न बनाना ही प्रभुप्राप्ति का साधन है

भावार्थ—हम इस शरीररथ में इन्द्रियों व मन का प्रभुत्व न होने दें। इस में 'ज्ञान, कर्म व उपासना' तीनों का स्थान हो। हम शरीर व मस्तिष्क दोनों का ही पोषण करें। इस रथ में न घोड़े हैं, न लगाम। तीन चक्र हैं, यह अन्तरिक्ष में उड़ता है, सो प्रशस्य है। इसका एंज्जन दृढ़ है तो प्रकाश की भी व्यवस्था इसमें ठीक है। एवं वायुयान का उल्लेख यहाँ स्पष्ट संकेतित है।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—ऋभवः ॥ छन्दः—विराड्जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

शोभन-गति अकुटिल रथ

रथं ये चक्रुः सुवृतं सुचेतसोऽविह्वरन्तं मनसस्परि ध्यया।

ताँ ऊ न्व१स्य सवनस्य पीतय आ वो वाजा ऋभवो वेदयामसि॥ २॥

(१) प्रभु कहते हैं कि **ये**-जो ऋभु **सुचेतसः**=उत्तम ज्ञानवाले हैं। **मनसः परिध्यया** मन के समन्तात् ध्यान से **सुवृतम्**-उत्तम वर्तनवाले, **अविह्वरन्तम्**=अकुटिल **रथं चक्रुः**-शरीररूप रथ को बनाते हैं। वस्तुतः ऋभु समझदार होते हैं। समझदारी से ऐसे शरीर-रथ को बनाते हैं, जो सदा उत्तम गतिवाला होता है तथा कुटिलता से रहित होता है। (२) हे **वाजाः** शक्तिशाली **ऋभवः** ज्ञानदीप्त पुरुषो! **तान् वः** उन आपको **ऊ नु**-निश्चय से **अस्य सवनस्य**=इस उत्तम सवनवाले सोम के **पीतये**-पान के लिए शरीर में सुरक्षित करने के लिए, **आवेदयामसि** सब प्रकार से समझाते हैं।

भावार्थ—ऋभु शरीर से कुटिलताशून्य उत्तम गतिवाले होते हैं। ये सोम का पान करते हैं।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—ऋभवः ॥ छन्दः—विराड्जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

वृद्ध होते हुए भी युवा

तद्वो वाजा ऋभवः सुप्रवाचनं देवेषु विभ्वो अभवन्महित्वनम्।

जिव्री यत्सन्ता पितरा सनाजुरा पुनर्युवाना चरथाय तक्षथ॥ ३॥

(१) हे **वाजाः**-शक्ति सम्पन्न शरीरवाले, **विभ्वः**-विशाल हृदयवाले **ऋभवः** ज्ञानदीप्त पुरुषो! **वः** आपका **तत्**-वह **महित्वनम्** महत्त्वपूर्ण कार्य **देवेषु**=देवों में **सुप्रवाचनम्** अत्यन्त प्रशंसनीय होता है, **यत्** कि जो **जिव्री सन्ता**=वृद्ध होते हुए भी **सनाजुरा**-सदा जीर्ण होनेवाले **पितरा**=द्यावापृथिवी रूप माता पिता को-मस्तिष्क व शरीर को **चरथाय**-मार्ग पर आगे बढ़ने के लिए **पुनः** फिर **युवाना**-युवा **तक्षथ**-कर देते हो। आप मस्तिष्क को ज्ञानदीप्त बनाते हो तो शरीर को बड़ा दृढ़ बना देते हो। (२) सामान्यतः आयु बढ़ने के साथ शक्तियों में क्षीणता आने लगती है। मस्तिष्क भी उतना काम नहीं करता, शरीर भी शिथिल हो जाता है। पर यदि हम जीवन के प्रातः सवन से ही सोमपान का ध्यान करें, विशेषतः इस तृतीय सवन में (६८ से ११६ तक) सोमपान का पूरा ध्यान करें तो हमारे ये मस्तिष्क व शरीर फिर युवा से हो जाते हैं। सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण कार्य यही है। विद्वान् लोग इस कार्य के महत्त्व का ही शंसन करते हैं। यह कार्य ही हमें 'ऋभु, विभ्वा व वाज' बनाता है।

भावार्थ—सोमरक्षण द्वारा हम मस्तिष्क व शरीर को दीप्त व सशक्त बनाए रखें। वृद्धावस्था में भी ये जीर्ण न होकर युवा से बने रहते हैं।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—ऋभवः ॥ छन्दः—विराड्जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

चतुर्वय चमस

एकं वि चक्र चमसं चतुर्वयं निश्चर्मणो गामरिणीत धीतिभिः।

अथा देवेष्वमृतत्वमानश श्रुष्टी वाजा ऋभवस्तद्व उक्थ्यम्॥ ४॥

(१) हे ऋभुओ! आप **एकं चमसम्** इस एक शरीररूप पात्र को **चतुर्वयम्** (वय शाखा) चार शाखाओंवाला **विचक्र** विशेषरूप से करते हो। 'ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ व संन्यास' ही

इसकी चार शाखाएँ हैं। इन आश्रमों में चलते हुए आप **धीतिभिः** ध्यान द्वारा **गाम्** वेदवाणी रूप गौ को **चर्मणः** चमड़ी से आवरण से **निः अरिणीत** बाहिर करते हैं। इसको चमड़े से बाहिर करने का भाव है 'इसके अन्तर्निहित अर्थ को देखना'। अपने चारों आश्रमों में इनका स्वाध्याय चलता ही चलता है। (२) **अथा** अब ऐसा करने पर तुम **देवेषु** सब इन्द्रियों में **अमृतत्वम्** अमृतत्व को नीरोगता को **आनक्ष** व्याप्त करते हो। इनकी सब इन्द्रियाँ अविकृत व सशक्त बनी रहती हैं। हे **वाजाः** शक्तिसम्पन्न शरीरवाले **ऋभवः** ज्ञानदीप्त पुरुषो! **वः** तुम्हारा **तत्** वह कार्य जीवन को चार शाखाओंवाला बनाना तथा ध्यान द्वारा वेदवाणी के अन्तर्निहित अर्थ को देखना **श्रुष्टी** शीघ्र ही **उक्थ्यम्**=स्तुति के योग्य होता है।

भावार्थ—हमें चाहिए कि जीवन को चार भागों में बाँटकर सुन्दरता से जीवन को सफल बनाएँ और स्वाध्याय का एक नैत्यिक कर्त्तव्य के रूप में पालन करें।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—ऋभवः ॥ छन्दः—विराड्जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

प्रथमश्रवस्तम रयि

ऋ॒भु॒तो र॒यिः प्र॑थ॒मश्र॑वस्तमो॒ वाज॑श्रुतासो॒ यमजी॑जन॒न्नरः॑।
वि॒भ्व॒त॒ष्टो वि॒दथे॑षु प्र॒वाच्यो॒ यं दे॑वा॒सोऽव॑था॒ स विच॑र्षणिः॥ ५॥

(१) **ऋभुतः** ज्ञानदीप्त आचार्यों से प्राप्त होनेवाला **रयिः** ज्ञानैश्वर्य **प्रथमश्रवस्तमः** (प्रथ विस्तारे) अत्यन्त विस्तृत यश का कारण बनता है (श्रवस् glory)। यह ज्ञानैश्वर्य वह है, **यम्** जिसको **वाजश्रुतासः**-शक्ति व त्याग के कारण प्रसिद्ध **नरः** उन्नतिपथ पर चलनेवाले लोग **अजीजनन्** अपने अन्दर उत्पन्न करते हैं। विद्यार्थी को, (क) शक्ति का संचय करना चाहिए, (ख) त्याग की वृत्तिवाला होना चाहिए, (ग) उन्नतिपथ पर बढ़ने की भावनावाला होना चाहिए (progressive)। (२) **विभ्वतष्टः**-विभ्वा से बना हुआ विशाल हृदयवाले पुरुष से बनाया हुआ यह शरीर रथ **विदथेषु**-ज्ञानयज्ञों में **प्रवाच्यः** प्रशंसनीय होता है, अर्थात् हृदय की विशालता होने पर शरीर रथ ऐसा सुन्दर बनता है कि यह ज्ञानप्राप्ति में अतिशयेन उत्तम होता है। (३) हे **देवासः** देवो! **यं अवथ** जिसका आप रक्षण करते हैं, **सः** वह **विचर्षणिः** विशेषरूपेण द्रष्टा होता है, अर्थात् उसकी बुद्धि इस प्रकार सूक्ष्म बनती है कि वह सब वस्तुओं के तत्त्व को देखनेवाला बनता है।

भावार्थ—हम शक्ति का संयम करते हुए प्रगति की वृत्तिवाले बनकर ज्ञानदीप्त आचार्यों से ज्ञान प्राप्त करें। विशाल हृदय बनकर शरीर को ऐसा बनाएँ कि यह ज्ञानप्राप्ति में अत्यन्त अनुकूलतावाला हो।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—ऋभवः ॥ छन्दः—स्वराट्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

वाजी, अर्वा व ऋषिः

स वा॒ज्यर्वा॒ स ऋषि॑र्वच॒स्यया॒ स शूरो॒ अस्ता॒ पृत॑नासु दु॒ष्टरः॑।
स रा॒यस्पोषं॒ स सु॒वीर्यं॑ दधे॒ यं वाजो॒ विभ्वाँ॑ ऋ॒भवो॒ यमावि॑षुः॥ ६॥

(१) **यम्** जिस पुरुष को **वाजः** शक्तिशाली, **विभ्वा**-विशालहृदय माता पिता **आविषुः** रक्षित करते हैं और **यम्** जिसको **ऋभवः**-ज्ञानदीप्त आचार्य (आविषुः) रक्षित करते हैं, अर्थात् जिसका रक्षण शक्ति-सम्पन्न माता द्वारा होता है, जिसका रक्षण विशाल हृदय (अकृपण) पिता से होता है और जिसका रक्षण ज्ञानदीप्त आचार्य द्वारा होता है **सः वाजी** वह शक्तिशाली

बनता है। माता के निर्बल होने पर बालक भी निर्बल ही रह जाता है। (सः) **अर्वा**-वह मन्न लोभ आदि वृत्तियों का संहार करनेवाला होता है। पिता कृपण होगा, तो सन्तान भी लोभप्रवण होगी। (सः) **ऋषिः** वह तत्त्वद्रष्टा बनता है। आचार्य ज्ञानदीप्त होता है, तो विद्यार्थी भी ज्ञानी बनता है। 'वाज' से रक्षित यह 'वाजी' बनता है, 'विभ्वा' से रक्षित यह 'अर्वा' होता है, 'ऋभु' से रक्षित 'ऋषि' बनता है। (२) **वचस्यया**-स्तुति से युक्त हुआ-हुआ **सः** वह **शूरः** शूरवीर बनता है, **अस्ता**-शत्रुओं का सुदूर विनष्ट करनेवाला होता है। **पृतनासु** संग्रामों में **दुष्टरः** शत्रुओं से न तैरने योग्य होता है। **सः** वह **रायस्पोषम्**=धन के पोषण को व ज्ञानैश्वर्य को **दधे** धारण करता है और **सः** वह **सुवीर्यं दधे**-उत्तम शक्ति को धारण करता है।

भावार्थ—हम शरीर में 'वाजी' (शक्तिशाली) बनें। मन में 'अर्वा' हों (वासनाओं का संहार करनेवाले) मस्तिष्क में हम 'ऋषि' हों, तत्त्वद्रष्टा। एक सन्तान को उत्तम माता पिता आचार्य मिलते हैं, तो वह ऐसा बन पाता है। इसके बाद 'ध्यान' (स्तुति) उसके जीवन का निर्माण करता है।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—ऋभवः॥ छन्दः—जगती॥ स्वरः—निषादः॥

धीर, कवि व विपश्चित्

श्रेष्ठं वः पेशो अधि धायि दर्शतं स्तोमो वाजा ऋभवस्तं जुजुष्टन।
धीरासो हि ष्ठा कवयो विपश्चितस्तान्व एना ब्रह्मणा वेदयामसि॥ ७॥

(१) गतमन्त्र में 'वचस्या' (स्तुति) का उल्लेख था। इस वचसा द्वारा **वः** तुम्हारे में **श्रेष्ठम्** अतिप्रशस्त **दर्शतम्** दर्शनीय **पेशः**-रूप **अधिधायि**-अधिनिहित होता है। इस रूप का आधान करनेवाला यह **स्तोमः** स्तुति वचन है। प्रभुस्तवन से जीवन प्रशस्त व सुन्दर बनता है। हे **वाजाः** शक्तिशाली **ऋभवः**-ज्ञानदीप्त पुरुषो! **तं जुजुष्टन**=उस स्तोम का प्रीतिपूर्वक सेवन करो। (२) इस स्तोम का सेवन करते हुए तुम **हि**=निश्चय से **धीरासः**-धीर (ज्ञान में रमण करनेवाले) **कवयः**-क्रान्तदर्शी वस्तुतत्त्व को देखनेवाले **विपश्चितः**-विद्वान् **ष्ठा (स्थ)** होते हो। **तान्** उन **वः** आपको **एना ब्रह्मणा** इस ब्रह्म से (ब्रह्म वेदः) वेद से-प्रभुप्रदत्त ज्ञान की वाणियों से **आवेदयामसि** ज्ञानसम्पन्न करते हैं। यह ज्ञान ही वस्तुतः जीवन को सुन्दरतम रूप देता है। यह ज्ञान ही हमें 'धीर, कवि व विपश्चित्' बनाता है। (thinker, sober strongminded, learned)।

भावार्थ—प्रभुस्तवन से जीवन प्रशस्त बनता है। प्रशस्त जीवन का भाव है 'धीर, कवि व विपश्चित्' बनना।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—ऋभवः॥ छन्दः—स्वराट्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

सात्त्विक भोजन

यूयमस्मभ्यं धिषणाभ्यस्परि विद्वांसो विश्वा नर्याणि भोजना।
द्युमन्तं वाजं वृषशुष्ममुत्तममा नो रयिमृभवस्तक्षता वयः॥ ८॥

(१) प्रभु कहते हैं कि हे **विद्वांसः**-ज्ञानी पुरुषो! **यूयम्**-तुम **अस्मभ्यम्**-हमारी प्राप्ति के लिए **धिषणाभ्यः**-बुद्धियों के लिए व स्तुतियों के लिए **विश्वा** सब **नर्याणि**-नरहितकारी **भोजना**-भोजनों को **परितक्षत**-सम्पादित करो। ऐसे ही भोजनों का सेवन करो, जो कि तुम्हारा हित करनेवाले हों जिन भोजनों के सेवन से बुद्धि भी उत्तम बने तथा प्रभु स्तवन की वृत्ति बने,

अर्थात् राजस व तामस भोजनों को न करके सात्त्विक भोजनों को ही करो। (२) हे **ऋभवः** ज्ञानदीप्त पुरुषो! **नः** हमारे लिए **द्युमन्तं वाजम्** प्रशस्तज्ञान से युक्त बल को **आतक्षत** सम्पादित करो। **वृषशुष्मम्** सुखसेचक बलों से युक्त **उत्तमं रयिम्** प्रशस्त धन को सम्पादित करो तथा (उत्तमं) **वयः** उत्कृष्ट जीवन की साधना करो। प्रभुप्राप्ति के लिए आवश्यक है कि हम (क) प्रशस्त ज्ञानवाले बल से युक्त हों, (ख) सुखसेचक बल से युक्त उत्तम धन से युक्त हों, (ग) उत्कृष्ट जीवनवाले बनें।

भावार्थ—सात्त्विक आहार से सात्त्विक बुद्धिवाले बनकर हम प्रभु को प्राप्त करें।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—ऋभवः॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

प्रजा-रयि-वीरवत् श्रव

इह प्रजामिह रयिं रराणा इह श्रवो वीरवत्तक्षता नः।
येन वयं चितयेमात्यन्यान्तं वाजं चित्रमृभवो ददा नः॥ ९॥

(१) हे **ऋभवः** ज्ञानदीप्त आचार्यो! आप **इह**-इस जीवन में **प्रजाम्** प्रकृष्ट विकास को तथा **इह** इस जीवन में **रयिम्** ज्ञानैश्वर्य को **रराणाः** देते हुए, **नः**-हमारे लिए **इह** यहाँ **वीरवत्** वीरता से युक्त **श्रवः**-(glory) यश को **तक्षता**-सम्पादित करिए। विकसित शक्तियोंवाला शरीर, ज्ञानैश्वर्य सम्पन्न मस्तिष्क, तथा यशस्वी मन हमें प्राप्त हो। (२) आप **नः** हमारे लिए **तम्**-उस **चित्रम्** (चित् र) ज्ञानैश्वर्यवाले **वाजम्** बल को **ददा**-दीजिए, **येन** जिससे **वयम्** हम **अन्यान् अति** औरों से आगे बढ़े हुए **चितयेम** जाने जाएँ। 'शक्ति-ज्ञान' हमारे जीवन को बड़ा सुन्दर बना दें।

भावार्थ—शक्तिसम्पन्न ज्ञान प्राप्त करके हमारा जीवन अत्यन्त सुन्दर बन जाए।

अगला सूक्त भी ऋभुओं का वर्णन करता है—

[३७] सप्तत्रिंशं सूक्तम्

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—ऋभवः॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

देवयान मार्ग

उप नो वाजा अध्वरमृभुक्षा देवा यात पथिभिर्देवयानैः।
यथा यज्ञं मनुषो विक्ष्वा३सु दधिध्वे रण्वाः सुदिनेष्वह्नाम्॥ १॥

(१) हे **वाजाः देवाः** शक्तिसम्पन्न देववृत्ति के वाजो! तथा **ऋभुक्षाः देवाः** देववृत्ति के ऋभुओ! (ज्ञानदीप्त पुरुषो) **देवयानैः पथिभिः** देवयान मार्गों के द्वारा **नः** हमारे **अध्वरम्** जीवन यज्ञ में **उपयात** प्राप्त होओ, अर्थात् हमें इस जीवन में शक्ति सम्पन्न देववृत्ति के माता पिता तथा देववृत्ति के ही ज्ञानदीप्त आचार्यों का सम्पर्क प्राप्त हो। इनके सम्पर्क में हम देवयान मार्गों से चलनेवाले बनें। (२) ये **रण्वाः** रमणीय जीवनवाले 'वाज व ऋभुक्षा देव' हमें इसलिए भी प्राप्त हों, **यथा** जिससे **आसु विक्षु** इन प्रजाओं में **अह्नां सुदिनेषु** दिनों की उत्तमता के निमित्त **मनुषः यज्ञम्** एक विचारशील ज्ञानी के यज्ञ को **दधिध्वे** धारण करें। इस जीवन में हम शक्ति सम्पन्न शरीरवाले (वाज) पवित्र दिव्यवृत्तियों से युक्त मनवाले (देव) तथा ज्ञानदीप्त मस्तिष्कवाले (ऋभु) बन पाएँ। ऐसा बनकर हम जीवन को एक यज्ञ का ही रूप दे दें।

भावार्थ—हम उत्तम माता, पिता व आचार्य को प्राप्त करके देवयान मार्गों से चलते हुए जीवन को यज्ञमय बना पाएँ।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—ऋभवः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

देवयान मार्ग का स्वरूप

ते वो हृदे मन॑से सन्तु य॒ज्ञा जुष्टा॑सो अ॒द्य घृतनि॑र्णिजो गुः।
प्र वः॑ सु॒तासो॑ हरयन्त पू॒र्णाः क्रत्वे॒ दक्षा॑य हर्षयन्त पी॒ताः॥ २॥

(१) हे मनुष्यो! **ते**-वे **यज्ञाः**-यज्ञ **वः**-तुम्हारे **हृदे मनसे**-हृदय के लिए व मन के लिए **सन्तु** हों। इन यज्ञों के प्रति तुम्हारे हृदयों में श्रद्धा हो तथा मनों में इनके लिए प्रबल कामना हो। ये यज्ञादि कर्म श्रद्धा व कामना के होने पर ही चलते हैं। श्रद्धा के अभाव में ये व्यर्थ प्रतीत होते हैं और इनका हमारे जीवनों में स्थान नहीं रहता। वस्तुतः जिन भी बातों का फल एक मिनिट में नहीं दिखता, वे सब श्रद्धा से ही चलती हैं। (२) **जुष्टासः**-प्रीतिपूर्वक सेवन किये गये **घृतनिर्णिजः** (घृ दीप्तौ, निजिर् शौचपोषणयोः) ज्ञानों की पवित्रताएँ व पोषण हमें **अद्य** आज **गुः** प्राप्त हों। हम ज्ञान को प्रीतिपूर्वक उपासित करें। यह ज्ञान हमें पवित्र व पुष्ट जीवनवाला बनाए। (२) **वः** तुम्हारे **पूर्णाः**-किसी भी प्रकार की कमी से रहित **सुतासः**-सोमों के उत्पादन (वीर्यशक्ति का निर्माण) **प्रहरयन्त**-शरीर में रोगकृमियों पर प्रबल आक्रमण करनेवाले हों। ये सोमकण ही **पीताः** शरीर में पिये हुए-शरीर में ही व्याप्त किये हुए **क्रत्वे**-यज्ञों के लिए तथा **दक्षाय** कर्मों की कुशलता के लिए **हर्षयन्त**-हमें हर्षित करें। इन सोमकणों के रक्षण से हम यज्ञादि कर्मों में प्रवृत्त हों तथा कर्मों को कुशलता से करनेवाले बनें।

भावार्थ—देवयान मार्ग यह है, (क) श्रद्धा व इच्छा से यज्ञों को करना, (ख) ज्ञानदीप्तियों के द्वारा पोषण व पवित्रता को प्राप्त करना, (ग) सोम (वीर्य) के उत्पादन द्वारा रोगों से ऊपर उठना और (घ) सोम को शरीर में व्याप्त करके यज्ञशील कुशलकर्मा बनना।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—ऋभवः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

स्तोम और सोम

त्र्यु॒दा॒यं दे॒वहि॑तं॒ यथा॑ वः॒ स्तोमो॒ वाजा ऋभुक्षणो द॒दे वः॑।
जु॒ह्वे मनु॒ष्वदुप॑रासु वि॒क्षु यु॒ष्मे सचा॑ बृ॒हद्दि॑वेषु॒ सोम॑म् ॥ ३॥

(१) हे **वाजाः** शक्तिशाली पुरुषो! **ऋभुक्षणः** ज्ञानदीप्त पुरुषो! **यथा**-जिस प्रकार **वः**-आपका **त्र्युदायम्** तीनों 'शारीरिक, मानस व बौद्धिक' उन्नतियोंवाला **देवहितम्** देवों में स्थापन हो, सो **वः** तुम्हारे लिए **स्तोमः ददे**-यह स्तोम दिया जाता है। इस स्तोम (स्तुति) द्वारा तुम सब प्रकार की उन्नति करके अपने को देवों में स्थापित करनेवाले होंगे। यह स्तोम तुम्हें देव बना देगा। प्रभु का स्तवन हमें प्रभु जैसा बनने के लिए प्रेरित करता ही है। (२) **मनुष्वत्** एक विचारशील व्यक्ति की तरह **उपरासु** (उप रमन्ते)-प्रभु की उपासना में (स्तोम में) रमण करनेवाली **विक्षु**-प्रज्ञाओं में, **युष्मे सचा**-तुम्हारे साथ **बृहद्दिवेषु**-प्रभूत ज्ञानदीप्तिवाली प्रजाओं में **सोमं जुह्वे** मैं इस सोम को देता हूँ। यह सोम ही सुरक्षित हुआ हुआ तुम्हारी सब उन्नतियों का कारण बनेगा।

भावार्थ—हम स्तोम (स्तुति) को अपनाएँ और सोम का (वीर्य का) रक्षण करें। यही त्रिविध (शारीरिक, मानसिक व बौद्धिक) उन्नति का मार्ग है। यही देवत्व-प्राप्ति का साधन है।

ऋषिः —वामदेवः ॥ देवता—ऋभवः ॥ छन्दः—पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

देव कौन?

पीवोअश्वाः शुचद्रथा हि भूतायःशिप्रा वाजिनः सुनिष्काः।
इन्द्रस्य सूनो शवसो नपातोऽनु वश्चेत्यग्रियं मदाय ॥ ४॥

(१) गतमन्त्र के अनुसार स्तोम व सोम को अपनाकर देव बननेवाले व्यक्ति **पीवो अश्वाः** परिपुष्ट इन्द्रियाश्वोंवाले होते हैं। **शुचद्रथाः** उनका शरीर रथ अत्यन्त पवित्र होता है, यह कभी रोगों की मलिनता व टूट फूटवाला नहीं होता। प्रभु कहते हैं कि **हि** निश्चय से **भूत** तुम ऐसे ही होओ। तुम्हारी इन्द्रियाँ सशक्त हों, शरीर शुचितावाला हो तथा **अयः शिप्राः** तुम्हारे हनू (जबड़े) लोहे के समान दृढ़ हों। दाँत लोह दृढ़ता को लिये हुए हों। **वाजिनः** तुम शक्ति सम्पन्न (vigorous) होओ। **सुनिष्काः** उत्तम गर्दन (Neck) वाले होवो। तुम्हारी गर्दन निर्बलता के कारण झुकी हुई न हो। (२) हे **इन्द्रस्य सूनो** इन्द्र के पुत्रो! अर्थात् जितेन्द्रिय पुरुषो! **शवसः न पातः** शक्ति को न नष्ट होने देनेवालो! यह **वः मदाय** तुम्हारी आनन्दप्राप्ति के लिए **अग्रियम्** सर्वमुख्य (अग्रे भवम्) सोमपानरूप धर्म **अनुचेति** अनुज्ञात किया जाता है। यह 'सोमपान' (वीर्यरक्षण) ही तुम्हारा सर्वोपरि धर्म है। यही तुम्हारे जीवन को 'दिव्य जीवन' बनाएगा। यही देवत्व प्राप्ति का साधन है।

भावार्थ—सोमपान द्वारा तुम परिपुष्ट इन्द्रियाश्वोंवाले व पवित्र शरीर रथवाले, दृढ़ दाँतोंवाले शक्तिशाली न गिरी गर्दनवाले बनो।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—ऋभवः ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

कैसा धन?

ऋभुमृभुक्षणो रयिं वाजे वाजिन्तमं युजम्। इन्द्रस्वन्तं हवामहे सदासातममश्विनम्॥ ५॥

(१) हे **ऋभुक्षणः** ज्ञानदीप्ति में निवास करनेवाले देवो! हम **रयिं हवामहे** धन के लिए याचना करते हैं। उस धन के लिए, जो कि **ऋभुम्** ज्ञानदीप्तिवाला है (उरु भाति)। इस धन को प्राप्त करके हम ज्ञानविमुख न हो जाएँ, प्रत्युत धन को ज्ञानप्राप्ति का साधन बनाएँ। **वाजे** संग्राम में **वाजिन्तमम्** जो अत्यन्त शक्तिशाली है संग्राम में जो हमें शक्ति सम्पन्न बनाता है उस धन की हम याचना करते हैं। इस धन से हम वासनाओं में फँस न जाएँ। **युजम्** हम उस धन को चाहते हैं, जो हमें परस्पर मेलवाला बनाए। धन के कारण हमारा परस्पर विरोध न हो जाए। (२) हम उस धन को चाहते हैं, जो कि **इन्द्रस्वन्तम्** इन्द्रवाला है, हमें उस परमैश्वर्यशाली प्रभु की ओर ले चलनेवाला है और इसी दृष्टिकोण से **सदासातमम्** सदा दान की वृत्ति से युक्त है। जो धन सदा दान में विनियुक्त होता है, वह हमें भोगों में फँसने से बचाता है। तभी यह धन हमें प्रभु की ओर ले जानेवाला होता है। और **अश्विनम्** हम प्रशस्त इन्द्रियाश्वोंवाले धन को चाहते हैं। उस धन को, जो कि इन्द्रियों को विषयासक्ति से ऊपर उठाकर सशक्त बनाए।

भावार्थ—हमें धन प्राप्त हो। यह धन हमें 'ज्ञान, शक्ति, परस्पर प्रेम, प्रभुप्रवणता, त्यागवृत्ति व प्रशस्त इन्द्रियों' वाला बनाए।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—ऋभवः ॥ छन्दः—निचृदनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

उत्तम बुद्धि व उत्तम इन्द्रियाँ

सेदृभवो यमवथ यूयमिन्द्रश्च मर्त्यम्। स धीभिरस्तु सनिता मेधसाता सो अर्वता॥ ६॥

(१) हे **ऋभवः** ज्ञानदीप्त पुरुषो! **यूयम्**-आप **इन्द्रः च**-और वे परमैश्वर्यशाली प्रभु **यं मर्त्यम्** जिस मनुष्य को **अवथ**-रक्षित करते हो, **स इत्**-वह ही **धीभिः सनिता** उत्तम बुद्धियों व कर्मों से मेलवाला **अस्तु** हो। वस्तुतः जीवन में 'माता, पिता व आचार्य' ही ऋभु हैं। जिस भी व्यक्ति को ये उत्तम ऋभु प्राप्त होते हैं और जिस पर प्रभुकृपा बनी रहती है, वह उत्तम बुद्धिवाला बनता है और सदा सत्कर्मों का करनेवाला होता है। (२) इन ऋभुओं से व प्रभु से रक्षित होनेवाला, **सः** वह पुरुष **मेधसाता**-इस जीवन संग्राम में **अर्वता**=उत्तम इन्द्रियाश्वों से संभक्त होता है। इसकी इन्द्रियाँ भी प्रशस्त बनती हैं। इसकी ज्ञानेन्द्रियाँ ज्ञानप्राप्ति में लगी रहती हैं और कर्मेन्द्रियाँ उत्तम यज्ञादि कर्मों में व्यापृत होती हैं। इस प्रकार यह इन्द्रियों को विषयपंक से मलिन नहीं होने देता।

भावार्थ—ज्ञानदीप्त माता, पिता व आचार्यों से रक्षित तथा प्रभु से रक्षित पुरुष उत्तम बुद्धि व उत्तम इन्द्रियोंवाला बनता है।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—ऋभवः ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

यज्ञमार्ग

वि नो वाजा ऋभुक्षणः पथश्चितन यष्टवे। अस्मभ्यं सूरयः स्तुता विश्वा आशास्तरीषणि ॥ ७ ॥

(१) हे **वाजाः** शक्तिशाली पुरुषो! **ऋभुक्षणः**-ज्ञानदीप्ति में निवास करनेवाले पुरुषो! **नः** हमें **यष्टवे** यज्ञादि उत्तम कर्म करने के लिए **पथः विचितन**=मार्गों का विशेषरूप से ज्ञान दीजिए। (२) हे **सूरयः**-ज्ञानी **स्तुताः**-(स्तुतमस्यास्तीति) प्रभुभक्त पुरुषो! **अस्मभ्यम्** हमारे लिए **विश्वाः आशाः** सब दिशाओं को व इच्छाओं को **तरीषणि**-तैरने के लिए (पथः विचितन) मार्गों का ठीक ज्ञान दीजिए। आप से दत्त ज्ञान के अनुसार मार्गों का आक्रमण करते हुए हम सब इच्छाओं को तैर जाएँ।

भावार्थ—ज्ञानियों से ज्ञान प्राप्त करके मार्गों का अनुसरण करते हुए हम यज्ञशील हों और इच्छाओं से ऊपर उठ जाएँ।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—ऋभवः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

मघत्तये

तं नो वाजा ऋभुक्षण इन्द्र नासत्या रयिम्। समश्वं चर्षणिभ्य आ पुरु शस्त मघत्तये ॥ ८ ॥

(१) हे **वाजाः**-शक्तिशाली **ऋभुक्षणः**-ज्ञानदीप्ति में निवास करनेवाले पुरुषो! हे **इन्द्र**-परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **नासत्या**-प्राणापानो! आप सब **नः चर्षणिभ्यः**-हम श्रमशील मनुष्यों के लिए **तम्**=उस **समश्वम्**-उत्तम इन्द्रियाश्वों से संगत (युक्त) **पुरु**-पालन व पूरण करनेवाले **रयिम्** धन को **आशस्त** उपदिष्ट करो। हमें उस मार्ग का ज्ञान दो, जिससे कि हम इस ऐश्वर्य को प्राप्त कर सकें। (२) हमें आप धन दो। इसलिए दो कि **मघत्तये** हम इन मघों (ऐश्वर्यों) का अत्यन्त दान कर सकें। धन हमारा पालन व पूरण करनेवाला हो। हमारी इन्द्रियों की शक्ति को बढ़ानेवाला हो। हमें दान के लिये समर्थ करनेवाला हो।

भावार्थ—हम धन प्राप्त करें। यह धन हमें शक्तिशाली ज्ञानदीप्त बनाए। इसे प्राप्त करके हम जीवनयात्रा को ठीक प्रकार चलाते हुए प्रभुप्रवण हों। प्राणापान की शक्ति को बढ़ाएँ। इन्द्रियों को निर्बल न होने दें। दानशील हों।

अगले सूक्त का प्रथम मन्त्र प्रभु के दानों का उल्लेख करता है और अगले मन्त्रों में 'दधिक्रा' नाम से 'मन' का उल्लेख है—

[३८] अष्टात्रिंशं सूक्तम्

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—द्यावापृथिव्यौ ॥ छन्दः—विराट्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

उत्तम इन्द्रियाश्व, बुद्धि व शत्रु-विनाशक तेज

उतो हि वां दात्रा सन्ति पूर्वा या पूरुभ्यस्त्रसदस्युर्नितोशे।
क्षेत्रासां ददथुरुर्वरासां घनं दस्युभ्यो अभिभूतिमुग्रम्॥ १॥

(१) हे द्यावापृथिवी! **वाम्** आप के **दात्रा**-दान **उत उ हि**-निश्चय से **पूर्वा** हमारा पालन व पूरण करनेवाले **सन्ति** हैं। **या** जिनको वस्तुतः **पूरुभ्यः** अपना पालन व पूरण करनेवाले मनुष्यों के लिए **त्रसदस्युः** जिन से सब शत्रु भयभीत होते हैं, वे प्रभु **नितोशे** देते हैं। इन द्यावापृथिवी से संसार के सब लोकों से जो भी पदार्थ हमें प्राप्त होते हैं, उन्हें वास्तव में द्यावापृथिवी द्वारा, प्रभु ही प्राप्त करा रहे हैं। जो भी व्यक्ति पालन व पूरण के कर्मों में प्रवृत्त होते हैं, प्रभु उनके लिए इन वस्तुओं को देते हैं। प्रभु त्रसदस्यु हैं। हम प्रभु को अपने हृदयों में आसीन करते हैं, तो वहाँ काम क्रोध आदि आसुरभावों का प्रवेश नहीं होता। (२) हे द्यावापृथिवी! आप **क्षेत्रासां** (क्षेत्राणि सनोति इति) सब भूमियों में विचरनेवाले इन्द्रियाश्वों को **ददथुः** देते हो। **उर्वरासाम्** (उर्वरां सर्वसस्याढ्यां भुवं सनोति) नये-नये विचारों को जन्म देनेवाली बुद्धि को देते हो। तथा **दस्युभ्यः घनम्** दस्युओं के विनाश के लिए (दस्युओं के लिये विनाशक) **उग्रम्** प्रबल **अभिभूतिम्** अभिभावक बल को देते हो।

भावार्थ-प्रभुकृपा से द्यावापृथिवी हमारे लिए पालक व पूरक दानों को देते हैं। उत्तम इन्द्रियाश्वों को, बुद्धि को तथा शत्रु-विनाशक तेज को देते हैं।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—दधिक्राः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

स्वस्थ मन

उत वाजिनं पुरुनिष्षिध्वानं दधिक्रामु ददथुर्विश्वकृष्टिम्।
ऋजिप्यं श्येनं प्रुषितप्सुमाशुं चर्कृत्यमर्यो नृपतिं न शूरम्॥ २॥

(१) **उत** और **उ** निश्चय से हे द्यावापृथिवी! आप हमारे लिए **दधिक्राम्** उस मन को **दस्युः** देते हो, जो कि **वाजिनम्** शक्तिशाली है, **पुरुनिष्षिध्वानम्**-खूब ही वासनाओं का निषेध करनेवाला है, **विश्वकृष्टिम्** सब मनुष्यों के हित की भावना को अपने में धारण करनेवाला है, **ऋजिप्यम्** ऋजु मार्ग से गति करता हुआ हमारा वर्धन करनेवाला है (प्या वृद्धौ)। (२) उस मन को आप हमें देते हो, जो कि **श्येनम्** शंसनीय गतिवाला है, **प्रुषितप्सुम्** दीप्तरूपवाला है, **आशुम्** शीघ्रता से कार्यों में व्याप्त होनेवाला है। **अर्यः** (अरेः) काम क्रोध लोभ आदि शत्रुओं का **चर्कृत्यम्** (कर्तनशीलम्) काटनेवाला, छेदन करनेवाला है। **नृपतिं न** मनुष्यों के रक्षक राजा की तरह **शूरम्** शूरवीर है। राजा जैसे शत्रुओं का पराजय करके प्रजाओं का कल्याण करता है, उसी प्रकार जो मन काम क्रोधादि को छेदन करता हुआ हमारा कल्याण करता है, ऐसे मन को ये द्यावापृथिवी हमारे लिए दें। जैसे द्युलोक व पृथिवीलोक के मध्य में अन्तरिक्षलोक है, इसी प्रकार यहाँ हमारे जीवनों में मस्तिष्क व स्थूल शरीर के मध्य में मन है। स्वस्थ मस्तिष्क व स्वस्थ शरीर से मन भी बड़ा स्वस्थ बनता है।

भावार्थ—स्वस्थ मस्तिष्क व स्वस्थ शरीर मिलकर स्वस्थ मन को जन्म देते हैं।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—दधिक्राः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

'तीव्र गतिवाला' मन

यं सीमनु प्रवतेव द्रवन्तं विश्वः पूरुर्मदति हर्षमाणः।
पड्भिर्गृध्यन्तं मेधयुं न शूरं रथतुरं वातमिव ध्रजन्तम्॥ ३॥

(१) **प्रवता इव द्रवन्तम्**-निम्न मार्ग से जाते हुए पानी की तरह शीघ्र गतिवाले **यं अनु**-जिस मन के अनुसार **विश्वः पूरुः**- सब अपना पालन व पूरण करनेवाले मनुष्य **हर्षमाणः** प्रसन्नता का अनुभव करते हुए **सीम्** निश्चय से **मदति**=स्तुति करते हैं। ऐसे मन को द्यावापृथिवी हमारे लिए दें। मन निम्न मार्ग से बहते हुए पानी की तरह तीव्र गतिवाला है। इस मन को वश में करके हम आनन्द का अनुभव करते हैं और प्रभु के स्तवन की वृत्तिवाले बनते हैं। (२) उस मन को ये द्यावापृथिवी हमारे लिए दें जो कि **पड्भिः गृध्यन्तम्**=(पद् गतौ) गतियों से विविध पदार्थों के ग्रहण की कामनावाला है। जो मन 'मेधयुं न शूरं'-संग्रामेच्छु शूरवीर के समान है। संग्रामेच्छु शूरवीर संपत्तियों को प्राप्त करता हुआ तृप्त नहीं। यह मन भी तृप्त नहीं होता। **रथतुरम्** शरीररूप रथ को तीव्रगति से इधर उधर ले जाता है। **वातं इव ध्रजन्तम्**=वायु के समान शीघ्र गतिवाला है। इस मन को अपने वश में करके हम जीवनयात्रा में सफलतापूर्वक लक्ष्य स्थान पर पहुँचनेवाले हों।

भावार्थ—मन तीव्र गतिवाला है, शक्तिशाली है। यदि यह हमें प्राप्त हो जाता है, तो हम अवश्य जीवनयात्रा को सफलतापूर्वक पूरा कर पाते हैं।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—दधिक्राः ॥ छन्दः—विराट्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

सरलता व ज्ञान

यः स्मारुन्धानो गध्या समत्सु सनुतरश्चरति गोषु गच्छन्।
आविर्ऋजीको विदथा निचिक्यत्तिरो अरतिं पर्याप आयोः॥ ४॥

(१) **यः**-जो **समत्सु**-अध्यात्म संग्रामों में **स्म**=निश्चय से **गध्या**=ग्रहणीय बातों को **आरुन्धानः**-अपने में निरुद्ध करता हुआ **सनुतरः**=उत्तम सम्भक्ता होता हुआ **गोषु**=ज्ञान की वाणियों में **गच्छन्**-चलता है। जिस समय मन को हम काम-क्रोध-लोभ आदि से शून्य कर पाते हैं, तो यह मन शरीर में निवास के लिए आवश्यक सब वसुओं का स्थापन करनेवाला होता है (प्रधा आरुन्धानः), हृदय में प्रभु संभजन की वृत्तिवाला होता है (सनुतरः) और बुद्धि में दीप्ति को धारण करता हुआ ज्ञानवाणियों के प्रति रुचिवाला होता है (गोषु गच्छन्)। (२) **आविर्ऋजीकः** (ऋजीक=इन्द्र) प्रकट किया है इन्द्र को जिसने अथवा प्रकट किया है आर्जव (=सरलता) को जिसने (आर्जवं ब्रह्मणः पदम्) ऐसा यह मन **विदथा**-ज्ञानों को **निचिक्यत्**=जानता हुआ **आपः**=व्यापक मनोवृत्तिवाले **आयोः**=गतिशील व्यक्ति के **अरतिम्**=दुःख को **तिरः परि चरति** तिरस्कृत, अन्तर्हित व विनष्ट करनेवाला होता है। जब मन सरलता को व ज्ञान को अपनाता है, तो सब दुःख दूर हो ही जाते हैं। मनुष्य को चाहिए कि वह मन को वश में करके उदार वृत्तिवाला व गतिशील बना रहे, यही दुःख को दूर करने का मार्ग है।

भावार्थ—हम मन में सरलता को धारण करें, ज्ञान की रुचिवाले बनें। उदार हृदय व गतिशील हों। दुःखों को दूर करने का मार्ग यही है।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—दधिक्राः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

मन, ज्ञान व इन्द्रिय समूह

उत स्मैनं वस्त्रमथिं न तायुमनु क्रोशन्ति क्षितयो भरेषु।
नीचायमानं जसुरिं न श्येनं श्रवश्चाच्छा पशुमच्च यूथम्॥ ५॥

(१) **उत**-और **स्म**-निश्चय से **एनम्**-इस मन को **अनु**-लक्ष्य करके **क्षितयः** मनुष्य **भरेषु**-संग्रामों में **क्रोशन्ति**-पुकारते हैं। इस प्रकार पुकारते हैं, **न**-जैसे कि **वस्त्रमथिं तायुम्** वस्त्रों के चुरा लेनेवाले चोर को लक्ष्य करके। इस प्रकार पुकारते हैं, **न** जैसे कि **नीचायमानम्** (नीचैः अयमानं) नीचे झपटा मारते हुए **जसुरिम्**=विनाशक (जस्-to hurt, injure, kill) **श्येनम्** बाज को लक्ष्य करके। वस्तुतः मन 'वस्त्रमथि तायु' के समान है 'नीचायमान जसुरि श्येन' के समान है। यदि यह हमारे वश में न हो, तो विनाशक ही होता है। इसको वश में करने के लिए साधक प्रभु को पुकारते हैं। प्रभु कृपा से ही यह वशीभूत होता है। (२) **च**-और **श्रवः अच्छा** ज्ञान का लक्ष्य करके प्रभु को पुकारते हैं। **च**-और **पशुमत् यूथम्**=इन पशुओंवाले झुण्ड को इन्द्रिय समूह को लक्ष्य करके प्रभु को पुकारते हैं। यहाँ एक ओर 'मन' है, दूसरी ओर 'इन्द्रिय समूह'। दोनों के बीच में 'ज्ञान'। प्रभु को इन तीनों चीजों का लक्ष्य करके पुकारते हैं। प्रभुकृपा से मन व इन्द्रियसमूह हमारे वश में हुआ, तो ज्ञान तो प्राप्त होगा ही। मन इधर-उधर भटकता है। वस्तुतः भटकता हुआ यह हमारी सब अध्यात्म-सम्पत्ति को चुरा ले जाता है। इन्द्रियाँ भी विषयों में फँस जाती हैं। ये ज्ञानग्रहण व यज्ञादि कर्मों में प्रवृत्त नहीं रहतीं। प्रभु की उपासना ही हमें इन्द्रियों व मन के साथ चलनेवाले इस संग्राम में विजयी बनाती है। तभी हमें ज्ञान प्राप्त होता है।

भावार्थ—प्रभु की उपासना हमें मन व इन्द्रियसमूह का अधिष्ठाता बनाए। ऐसा बनकर हम ज्ञानी बनें।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—दधिक्राः ॥ छन्दः—भुरिक्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

आत्मरूप वर का 'जन्य' मन

उत स्मासु प्रथमः सरिष्यन्नि वेवेति श्रेणिभी रथानाम्।
स्रजं कृण्वानो जन्यो न शुभ्वा रेणुं रेरिहत्किरणं ददश्वान्॥ ६॥

(१) **उत**-और **आसु**-इन प्रजाओं में **स्म**-निश्चय से **प्रथमः**-सर्वमुख्य रूप में **सरिष्यन्** गति करता हुआ यह मन **रथानां श्रेणिभिः**-'स्थूल, सूक्ष्म व कारण' शरीररूप रथों से **निवेवेति** अत्यन्त गति करता है। मनोमय कोश सब कोशों में प्रधान है यह सब कोशों के केन्द्र में है। वेद इस मध्यम कोश को ही ठीक करने पर बल देता है 'वि कोशं मध्यमं युवं'। इसका एक ओर स्थूल शरीर पर प्रबल प्रभाव पड़ता है तो दूसरी ओर यह कारण शरीर से सम्बद्ध होकर सब के साथ एकत्व का अनुभव करता है 'तत्र को मोहः कः शोकः एकत्वमनुपश्यतः'। (२) यह मन **स्रजं कृण्वानः**=अलंकरण को करता हुआ, **जन्यः न**-वर के सेवक की तरह **शुभ्वा**-उसे अलंकृत करनेवाला है। आत्मा 'वर' है, यह मन उसका 'जन्य' है। जैसे जन्य (वर का मित्र या सेवक) वर को सजाता है, इसी प्रकार यह मन आत्मा को सद्गुणों से अलंकृत कर देता है। **रेणुं रेरिहत्**-यह सब रेणु (धूल) को चाट जाता है नष्ट कर देता है (to kill) तथा **किरणम्** प्रकाश व ज्ञान की किरणों को **ददश्वान्**-धारण करता है। आत्मारूप वर को मन इसी रूप में अलंकृत करता है कि उसकी राजसवृत्ति को विनष्ट करता है और ज्ञान के प्रकाशवाली सात्त्विकवृत्ति को जागरित करता है।

भावार्थ—वशीभूत मन ही आत्मा को सत्त्वगुण से अलंकृत करता है।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—दधिक्राः ॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

सहुरिः ऋतावा

उत स्य वाजी सहुरिर्ऋतावा शुश्रूषमाणस्तन्वा समर्ये।
तुरं यतीषु तुरयन्नृजिप्योऽधि भ्रुवोः किरते रेणुमृञ्जन् ॥ ७ ॥

(१) **उत** और **स्यः**-वह मन रूप अश्व (दधिक्रा) **वाजी**-बड़ा शक्तिशाली है। **सहुरिः** सब शत्रुओं का मर्षण करनेवाला है। **ऋतावा**-हमारे जीवनों में ऋत का रक्षण करनेवाला है। **समर्ये**-इस जीवन संग्राम में **तन्वा** शक्तियों के विस्तार से **शुश्रूषमाणः** हमारी सेवा करता है। वस्तुतः इस मन के वशीभूत होने पर यह मन हमारी जीवनयात्रा की पूर्ति का साधन बन जाता है। (२) **तुरं यतीषु**-शीघ्र गतिवाली इन प्रजाओं में **तुरयन्** शीघ्रता से कार्यों को करता हुआ, **ऋजिप्यः** ऋजुमार्ग से आगे बढ़ता हुआ हमारा वर्धन करता हुआ **अधि भ्रुवोः** भ्रू-स्थानों में होनेवाली **रेणुम्** धूल को **किरते** विक्षिप्त करता है, अर्थात् मस्तक की धूलि को दूर करता है और इस प्रकार मस्तक को ज्ञान के प्रकाश से उज्ज्वल बनाता है। ज्ञान द्वारा **ऋञ्जन्**-यह मन हमारे जीवन को प्रसाधित करता है। इस प्रकार यह मन हमें देदीप्यमान जीवनवाला बनाता है।

भावार्थ—यह मन हमारे शत्रुओं का पराभव करता है। ज्ञान के आवरणभूत रजोगुण को दूर करके हमारे जीवन को दीप्त करता है।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—दधिक्राः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

'दुर्वर्तु' दधिक्रा

उत स्मास्य तन्यतोरिव द्योर्ऋघायतो अभियुजो भयन्ते।
यदा सहस्रमभि षीमयोधीदुर्वर्तुः स्मा भवति भीम ऋञ्जन् ॥ ८ ॥

(१) जब मन प्रभु की उपासना में प्रवृत्त होता है, तो **उत स्म**-निश्चय से **ऋघायतः** शत्रुओं का हिंसन करते हुए **अस्य** (अस्मात्) इस मन से **अभियुजः** आक्रमण करनेवाले काम क्रोध आदि शत्रु **भयन्ते** इस प्रकार भयभीत होते हैं, **इव** जैसे कि **द्योः** दीप्यमान **तन्यतोः**-शब्द करती हुई अशनि (विद्युत्) से। जैसे गर्जती हुई-कड़कती हुई विद्युत् प्राणियों के लिए भयंकर होती है, इसी प्रकार शत्रुओं का हिंसन करता हुआ यह दधिक्रा (मन) काम-क्रोध आदि के लिए भयावह होता है। (२) **यदा** जब यह मन **सीम्**=निश्चय से **सहस्रं अभि अयोधीत्**=हजारों शत्रुओं से युद्ध करता है, तो यह **स्म**-निश्चय से **दुर्वर्तुः भवति**=सब बुराइयों का निवारण करनेवाला होता है और **भीमः**-शत्रुओं के लिए भयंकर होता हुआ **ऋञ्जन्**-उपासकों के जीवन को प्रसाधित करता है।

भावार्थ—प्रभु की उपासना में चलता हुआ 'मन' काम क्रोध आदि शत्रुओं पर बिजली की तरह गिरता है। सब बुराइयों का निवारण करके हमारे जीवन को अलंकृत करता है।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—दधिक्राः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

'कृष्टिप्रा आशु' दधिक्रा

उत स्मास्य पनयन्ति जना जूतिं कृष्टिप्रो अभिभूतिमाशोः।
उतैनमाहुः समिथे वियन्तः परा दधिक्रा असरत्सहस्रैः ॥ ९ ॥

(१) **उत स्म**-और निश्चय से **जनाः**- लोग **अस्य** इस **कृष्टिप्रः** श्रमशील मनुष्यों का पूरण करनेवाले-उनकी न्यूनताओं को दूर करनेवाले **आशोः** शीघ्रता से व्यापनवाले मन के **अभिभूतिम्**-शत्रुओं के पराभृत करनेवाले **जूतिम्** वेग को **पनयन्ति** स्तुत करते हैं प्रशंसित करते हैं। यह मन जिस शीघ्रतावाले बल से शत्रुओं पर आक्रमण करता है, वह इसका बल प्रशंसनीय ही होता है। (२) **उत** और **समिथे**-संग्राम में **वियन्तः** विविध दिशाओं में भयभीत होकर भागते हुए शत्रु **एनं आहुः** इसके विषय में यही कहते हैं कि **दधिक्राः** यह मनुष्यों का धारण करके गति करता हुआ मन **सहस्त्रैः** हजारों बलों के साथ **परा असरत्**-सुदूर गतिवाला होता है। न जाने यह हमें कहाँ फेंकेगा। वस्तुतः स्तुति प्रवृत्त मन से शत्रु भयभीत होकर सुदूर भाग जाते हैं।

भावार्थ—मन अतिशयेन बलवान् व वेगवान् है। काम आदि शत्रु इससे भयभीत होकर दूर विनष्ट हो जाते हैं।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—दधिक्राः॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

ज्योतिषा आततान

आ द॒धि॒क्राः शव॑सा॒ पञ्च॑ कृ॒ष्टीः सूर्य॑इव॒ ज्योति॑षा॒पस्त॑तान।
स॒ह॒स्र॒साः श॑त॒सा वा॒ज्यर्वा॑ पृ॒णक्तु॒ मध्वा॒ समि॒मा वचां॑सि॥ १०॥

(१) **दधिक्राः** हमारा धारण करके गति करता हुआ यह मन **शवसा** अपने बल से **पञ्चकृष्टीः अपः**-पाँचों का विस्तार करनेवाली श्रमशील प्रजाओं को (पाँचों भूतों, पाँच प्राणों, पाँच कर्मेन्द्रियों, पाँच ज्ञानेन्द्रियों व अन्तःकरण पञ्चक का विस्तार करनेवाली प्रजाओं को) **सूर्य इव** सूर्य की तरह **ज्योतिषा आततान** समन्तात् ज्योति से विस्तृत करता है। मन हमारे जीवनों को ज्ञान ज्योति से जगमग कर देता है। हमारा भी यह कर्त्तव्य है कि हम श्रमशील बनें और पाँचों तत्त्वों की शक्ति का विस्तार करने के लिए यत्नशील हों। (२) **सहस्त्रसाः** हजारों शक्तियों को देनेवाला यह मन **शतसाः**-सौ के सौ वर्ष पर्यन्त हमें शक्तियों के देनेवाला है **वाजी** यह शक्तिशाली है, **अर्वः** शत्रु संहार में कुशल है। यह हमारे लिए **इमा वचांसि** इन स्तुति वचनों को **मध्वा संपृणक्तु**-माधुर्य से संपृक्त कर दे। हम बड़े मधुर शब्दों में सदा स्तुति करनेवाले बनें।

भावार्थ—प्रभुभक्ति की भावना से पूर्ण मन हमारे जीवन को ज्योतिर्मय कर दे। यह हमें शतवर्षपर्यन्त सहस्त्रों शक्तियों को देनेवाला हो।

अगला सूक्त भी दधिक्रा का ही वर्णन करता है—

[३९] एकोनचत्वारिंशं सूक्तम्

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—दधिक्राः॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

अति विश्वानि दुरितानि

आ॒शुं द॑धि॒क्रां तमु॒ नु ष्ट॑वाम दि॒वस्पृ॑थि॒व्या उ॒त च॑र्किराम।
उ॒च्छन्ती॒र्माम॒ुषस॑ः सूदय॒न्त्वति॒ विश्वा॑नि दु॒रि॒तानि॒ पर्ष॑न्॥ १॥

(१) हम **आशुम्** शीघ्रता से मार्गों का व्यापन करनेवाले **तम्** उस **दधिक्राम्** हमारा धारण करके क्रमण करनेवाले इस मन का **उ** ही **नु** अब **स्तवाम** स्तवन करें मन के महत्त्व को हम समझने का प्रयत्न करें। **उत**-और **दिवः पृथिव्याः**-द्युलोक व पृथिवी लोक से **चर्किराम** इसको वि-क्षिप्त करें। द्युलोक व पृथिवीलोक में भटकते हुए इस मन को उधर से हटाकर हम अन्दर ही

स्थापित करने का प्रयत्न करें। (२) **उच्छन्तीः**=अन्धकार का निवारण करती हुई **उषसः**-ये उषाएँ **माम्**-मुझे **सूदयन्तु**-प्रेरित करें। इनमें मन को द्युलोक व पृथिवीलोक से हटाकर मैं प्रभु-प्रेरणा को सुननेवाला बनूँ। इस प्रकार ये उषाएँ **विश्वानि दुरितानि**=सब बुराइयों के **अतिपर्षन्**=हमें पार ले चलें।

भावार्थ—मन का महत्त्व समझकर, इसे सब ओर से हटाकर, हम प्रभुप्रेरणा को सुनें। यह प्रेरणा हमें सब दुरितों से दूर करेगी।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—दधिक्राः॥ छन्दः—स्वराट्पङ्क्तिः॥ स्वरः—पञ्चमः॥

'ततुरि' दधिक्राव्ण=तारक मन

महश्चर्कर्म्यर्वतः क्रतुप्रा दधिक्राव्णः पुरुवारस्य वृष्णः।
यं पूरुभ्यो दीदिवांसं नाग्निं ददथुर्मित्रावरुणा ततुरिम्॥ २॥

(१) **क्रतुप्राः**=यज्ञों का पूरण करनेवाला-यज्ञों के द्वारा ही शक्ति व प्रज्ञान को अपने अन्दर भरनेवाला मैं **दधिक्राव्णः** हमारा धारण करके गति करनेवाले इस मन की **चर्कर्मि**=अत्यन्त स्तुति करता हूँ, जो कि **महः**-महान् है, **अर्वतः**-सब बुराइयों का संहार करनेवाला है, **पुरुवारस्य**=पालक व पूरक और अतएव वरणीय है, **वृष्णः**=शक्तिशाली है। (२) उस दधिक्रावा मन का मैं स्तवन करता हूँ, **यम्**=जिसको **पूरुभ्यः**=अपने नियत कर्म का पालन करनेवाले मनुष्यों के लिए **मित्रावरुणा**-मित्र और वरुण **ददथुः**-देते हैं। 'मित्र और वरुण देते हैं' इसका भाव यह है कि हम इस मन को स्नेह की भावनावाला (मित्र) तथा द्वेष भावना से रहित (वरुण) बनाने का प्रयत्न करें। ऐसा ही मन **अग्निं न दीदिवांसम्**=अग्नि की तरह देदीप्यमान होता है। तथा **ततुरिम्**-हमें इस भवसागर से तरानेवाला होता है।

भावार्थ—यज्ञों में लगे रहकर हम अपने मन को स्नेहयुक्त व निर्द्वेष बनाएँ। यही मन हमें भवसागर से तरानेवाला होगा।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—दधिक्राः॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

मित्रेण वरुणेना सजोषाः (सस्नेह व निर्द्वेष मन)

यो अश्वस्य दधिक्राव्णो अकारीत्समिद्धे अग्ना उषसो व्युष्टौ।
अनागसं तमदितिः कृणोतु स मित्रेण वरुणेना सजोषाः॥ ३॥

(१) **यः**-जो **उषसः व्युष्टौ**=उषःकाल के होते ही **अग्ना समिद्धे**=यज्ञाग्नि के दीप्त करने पर **अश्वस्य**-मार्गों का व्यापन करनेवाले (अश् व्याप्तौ) **दधिक्राव्णः** इस हमारा धारण करके क्रमण करनेवाले मन की **अकरीत्**-स्तुति करता है, **तम्**=उसे **अदितिः**=यह विषयों से खण्डित न होनेवाला मन **अनागसं कृणोतु**=निष्पाप बनाए। मन अश्व है शीघ्रता से देश-देशान्तर का व्यापन करनेवाला है। यह दधिक्रावा है-हमारा धारण करता हुआ जीवन-मार्ग में आगे बढ़ता है। हमें चाहिए कि हम उषा के होते ही यज्ञादि उत्तम कर्मों में इसे प्रवृत्त करें। यही इसका स्तवन है, यही इसे विषयों से बचाने का मार्ग है। यज्ञादि कर्मों में प्रवृत्त रहने पर यह 'अदिति' बनता है और हमें निष्पाप बनाता है। (२) **सः**=वह **मित्रेण**=मित्र से व **वरुणेन**=वरुण से **सजोषाः**-समानरूप से प्रीतिवाला होता है। मित्र व वरुण से संगत हुआ-हुआ यह मन सदा स्नेहवाला (मित्र) व द्वेष की भावना से रहित (वरुण) होता है।

भावार्थ—मन को उषा के होते ही यज्ञादि कर्मों में प्रवृत्त करना चाहिए, तभी यह विषयों

से न खण्डित हुआ-हुआ, सस्नेह व निर्द्वेष बना रहता है और हमें निष्पाप जीवनवाला बनाता है।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—दधिक्राः ॥ छन्दः—स्वराट्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

'वरुण-मित्र-अग्नि व इन्द्र' को पुकारना

दधिक्राव्ण इष ऊर्जो महो यदमन्महि मरुतां नाम भद्रम्।
स्वस्तये वरुणं मित्रमग्निं हवामह इन्द्रं वज्रबाहुम् ॥ ४ ॥

(१) हम **दधिक्राव्णः** इस धारण करके गति करनेवाले **इषः** प्रभु की प्रेरणा प्राप्त करनेवाले, **ऊर्जः** बल व प्राण शक्ति से सम्पन्न **महः** महान् मन का **यद्** जब **अमन्महि** स्तवन करते हैं इस मन का महत्त्व समझकर इसे अपने वश में करने का प्रयत्न करते हैं, तो **मरुताम्** मनुष्यों का **भद्रं नाम** निश्चय से कल्याण होता है। वशीभूत मन ही कल्याण का साधक है। (२) **स्वस्तये** कल्याणप्राप्ति के लिए हम **वरुणम्**-वरुण को, **मित्रम्**-मित्र को, **अग्निम्**-अग्नि को **हवामहे** पुकारते हैं। **वज्रबाहुम्**-वज्र को हाथ में लिए हुए **इन्द्रम्**-इन्द्र को पुकारते हैं। 'मित्र को पुकारना' अर्थात् मन को सस्नेह बनाने का प्रयत्न करना। 'वरुण को पुकारना' अर्थात् मन को निर्द्वेष बनाना। 'अग्नि को पुकारना' अर्थात् सदा आगे बढ़ने की भावनावाला होना। और 'वज्रबाहु इन्द्र को पुकारना' अर्थात् सदा क्रियाशील हाथोंवाला जितेन्द्रिय बनना, कर्मों में लगे रहना और इन्द्रियों को विषयों में नहीं फँसने देना। इस प्रकार 'वरुण, मित्र, अग्नि व वज्रबाहु इन्द्र' बनना ही कल्याण का मार्ग है

भावार्थ—हम मन का महत्त्व समझें। इसे वश में करके अपना कल्याण सिद्ध करें। निर्द्वेष, सस्नेह, प्रगतिशील व कर्मठ जितेन्द्रिय बनकर कल्याण मार्ग का अनुसरण करें।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—दधिक्राः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

युद्धों व यज्ञों में सफलता का साधक मन

इन्द्रमिवेदुभये वि ह्वयन्त उदीराणा यज्ञमुपप्रयन्तः।
दधिक्रामु सूदनं मर्त्याय ददथुर्मित्रावरुणा नो अश्वम् ॥ ५ ॥

(१) **इत्**-निश्चय से **उदीराणाः**-युद्ध के लिए उद्योग करते हुए और **यज्ञं उपप्रयन्तः** यज्ञ को समीपता से प्राप्त होते हुए **उभये** दोनों ही **इन्द्रं इव** जैसे प्रभु को **विह्वयन्ते** पुकारते हैं, इसी प्रकार वे **दधिक्राम्**-हमारा धारण करके गति करनेवाले इस मन को **उ** भी पुकारते हैं। यह मन ही उन्हें युद्धों में विजयी बनाता है और यज्ञों में सफल करता है। (२) **मित्रावरुणा** मित्र और वरुण **नः** हमारे लिए **अश्वम्**-इस मनरूप अश्व को **ददथुः** देते हैं, जो कि **मर्त्याय**-मनुष्य के लिए **सूदनम्**-सब शत्रुओं का संहार करनेवाला है। जिस समय मनुष्य मन में स्नेह (मित्र) व निर्द्वेषता (वरुण) की भावना को भरता है, उस समय सब आसुरभावों से ऊपर उठकर पवित्र भावनाओंवाला बनता है।

भावार्थ—युद्धों व यज्ञों में सफलता इस मन द्वारा ही प्राप्त होती है। यह मन ही प्रेम व निर्द्वेषता के भाव से युक्त होकर सब आसुरभावों से दूर होता है।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—दधिक्राः ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

मधुरभाषण व दीर्घजीवन

दधिक्राव्णो अकारिषं जिष्णोरश्वस्य वाजिनः।
सुरभि नो मुखा करत्प्र ण आयूंषि तारिषत् ॥ ६ ॥

(१) मैं **दधिक्राव्णः**-धारण करके गति करनेवाले इस मन का **अकारिषम्**=स्तवन करता हूँ। जो मन **जिष्णोः**-विजयशील है, **अश्वस्य**=(अशू व्याप्तौ) सदा कर्मों में व्याप्त होनेवाला है, **वाजिनः**-जो शक्तिशाली है। इस मन को मैं अपने अनुकूल करने का प्रयत्न करता हूँ। (२) यह दधिक्रावा (मन) **नः** हमारे **मुखा**-मुखों को **सुरभि करत्**-सुगन्धित करता है और **नः**-हमारे **आयूंषि**=आयुष्यों को **प्रतारिषत्**-अत्यन्त दीर्घ करता है। मन के वशीभूत होने पर हम मधुर शब्द बोलते हैं और दीर्घजीवनवाले बनते हैं।

भावार्थ—मन 'जिष्णु, अश्व व वाजी' है। इसको वशीभूत करके हम मधुरभाषी व दीर्घजीवी बनते हैं।

अगले सूक्त का प्रारम्भ भी इसी दधिक्रावा के वर्णन से करते हैं—

[४०] चत्वारिंशं सूक्तम्

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—दधिक्रावा॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

जिष्णु=सदा विजयी

दधिक्राव्ण इदु नु चर्किराम विश्वा इन्मामुषसः सूदयन्तु।
अपामग्नेरुषसः सूर्यस्य बृहस्पतेराङ्गिरसस्य जिष्णोः ॥ १ ॥

(१) **नु**=अब **इत् उ**=निश्चय से **दधिक्राव्णः**=हमारा धारण करके गति करनेवाले इस मन की **चर्किराम**-हम स्तुति करें। इस मन का महत्त्व समझें। **इत्**=निश्चय से **विश्वाः उषसः**=सब उषाकाल **माम्** मुझे **सूदयन्तु**-यज्ञादि उत्तम कर्मों में प्रेरित करें। मन को वश में करके हम सदा यज्ञादि कर्मों में ही प्रवृत्त हों। (२) हम इन उषाओं में **अपाम्**-(आपः रेतो भूत्वा०) इन रेतःकणों का स्तवन करें। इनका स्तवन करते हुए इनके रक्षण का निश्चय करें। **अग्नेः**-हम (अग्नि वाग् भूत्वा०) वाणी का उपासन करें। वाणी से भद्र शब्दों को ही बोलने का निश्चय करें। **उषसः**-उषा का स्तवन करें। इस समय प्रबुद्ध होकर सब मलों के दग्ध करने का निश्चय करें (उष दाहे)। **सूर्यस्य**-सूर्य का स्तवन करें-ज्ञानसूर्य को उदित करने के लिए यत्नशील हों। **बृहस्पतेः**=बृहस्पति-ब्रह्मणस्पति का स्तवन करें। ऊँचे से ऊँचे स्थान में पहुँचने के लिए यत्नशील हों। ऊर्ध्वादिक् के अधिपति बृहस्पति बनें। **आंगिरसस्य**=अंगिरस् के उपासक हों। एक-एक अंग को रसमय लोच लचकवाला बनाएँ। हमारे अंग सूखे काठ की तरह निर्जीव से न हो जाएँ। **जिष्णोः**=हम जिष्णु विजयशील के उपासक हों। जीवन में सदा विजेता बनें। कभी पराजित न हों।

भावार्थ—मन को वशीभूत करके हम दिव्य भावनाओं का उपासन करते हुए सदा विजयी बनें।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—दधिक्रावा॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

दुवन्यसत्-तुरण्यसत्

सत्वा भरिषो गविषो दुवन्यसच्छ्रवस्यादिष उषसस्तुरण्यसत्।
सत्यो द्रवो द्रवरः पतङ्गरो दधिक्रावेषमूर्जं स्वर्जनत् ॥ २ ॥

(१) **सत्वा** (सद् गतौ) गतिशील यह **दधिक्रावा**-हमारा धारण करके क्रमण करनेवाला मन **भरिषः**-हमारे भरण में कुशल है। मन ओजस्वी हो, तो यह शरीर का ठीक धारण करता है। **गविषः**-यह मन ज्ञानवाणियों का प्रेरक है। **दुवन्यसत्**=प्रभु के उपासकों में स्थित होता है (दुवन्येषु सीदति)। उपासना की वृत्ति होने पर मन स्थिर हो ही जाता है। उस समय यह हमारा

मन **द्रवः** प्रभु की प्रेरणाओं द्वारा और **उषसः** (उष दाहे) दोषों के दहन द्वारा **श्रवस्यात्** ज्ञान की कामना करे। यही मन सर्वश्रेष्ठ होता है। **तुरण्यसत्**-सदा त्वरा से यज्ञादि कर्मों में प्रवृत्त रहनेवालों में यह आसीन होता है। मन को स्थिर करने के दो ही साधन हैं -(क) उपासना, (ख) यज्ञादि कर्मों में लगे रहना। (२) **सत्यः**-(सत्सु तायमानः) उत्तम कर्मों में यह शक्ति के विस्तार को प्राप्त करता है। **द्रवः** गतिशील होता है। **द्रवरः**-इन्द्रियों को गतिवाला बनाता है (Driver)। **पतङ्गरः** निम्न गतिवाला होता हुआ हमें निगल जाता है। यदि मन विषयों की ओर चला गया, तो यह विनाश का कारण बनता ही है। विषयों की ओर न गया हुआ यह दधिक्रावा मन **इषम्** प्रभुप्रेरणा को, **ऊर्जम्** बल व प्राणशक्ति को तथा **स्वः** प्रकाश को **जनत्** उत्पन्न करता है।

भावार्थ—वशीभूत मन 'प्रभुप्रेरणाप्राणशक्ति व प्रकाश' को प्राप्त कराता है।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—दधिक्रावा ॥ छन्दः—स्वराट्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

बहिर्मुखी मन व अन्तर्मुखी मन

उत स्मास्य द्रवतस्तुरण्यतः पुर्णं न वेरनु वाति प्रगुर्धिनः।
श्येनस्येव ध्रजतो अङ्कसं परि दधिक्राव्णः सहोर्जा तरित्रतः॥ ३॥

(१) **उत**-और **स्म** निश्चय से **द्रवतः** गति करते हुए **तुरण्यतः**-त्वरा से कर्मों में व्याप्त होते हुए **प्रगर्धिनः** भौतिक वस्तुओं की लालसावाले इस मनरूपी पक्षी का **पर्णम्** पंख **वेः न** पक्षी के पंख के समान ही **अनुवाति** गतिवाला होता है। उस समय भौतिक विषयों की ओर गया हुआ यह मन अत्यन्त चञ्चल होता है। (२) इस **ऊर्जा सह** बल व प्राणशक्ति के साथ **तरित्रतः** संसार सागर को तैरनेवाले **अंकसं परि ध्रजतः** (अंकस् the body) शरीर की ओर गति करते हुए, विषय वासनाओं से निवृत्त होकर अन्तर्मुखी होते हुए **दधिक्राव्णः** मन का **वर्णम्** पालनात्मक कर्म **श्येनस्य इव** श्येन की तरह होता है शंसनीय गतिवाले पक्षी की तरह होता है। श्येन जैसे अपने शत्रुओं का विनाश कर डालता है, इसी प्रकार यह प्रत्याहृत होता हुआ मन सब शत्रुओं का विनाश करता है। आसुरभावनाओं के विनाश से हमारा मन प्रशंसनीय गतिवाला हो जाता है।

भावार्थ—विषयाभिलाषी मन तीव्र गति से इधर उधर भटकता है। भवसागर को तैरने की कामनावाला मन शरीर की ओर लौटता है और आसुरभावों को विनष्ट करके प्रशंसनीय होता है।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—दधिक्रावा ॥ छन्दः—भुरिक्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

संयम व अभ्रंश

उत स्य वाजी क्षिपणिं तुरण्यति ग्रीवायां बद्धो अपिकक्ष आसनि।
क्रतुं दधिक्रा अनु सन्तवीत्वत्पथामङ्कांस्यन्वापनीफणत्॥ ४॥

(१) **उत** और **स्यः** वह **वाजी** बलवान् मन **क्षिपणिम्** (a net) विषय जाल को **तुरण्यति** (तुर्-overcome)-जीतता है। विषयों से युद्ध करता है। उस समय यह **ग्रीवायां बद्धः** इस ग्रीवा में भोज्य पदार्थों को निगलनेवाली गरदन में बँधा हुआ होता है। ग्रीवा के बन्धन को धारण करता है खान पान में बड़े संयम से चलता है। **अपि कक्षे** कक्ष प्रदेश में बद्ध होकर चलता है, ब्रह्मचर्य व्रत को धारण करता है तथा **आसनि** मुख में यह बँधा हुआ होता है वाणी का संयम करके हित मितभाषी होता है। (२) **दधिक्राः** यह मन **क्रतुम्** प्रज्ञान व यज्ञादि कर्मों के **अनु** अनुसार **संतवीत्वत्** प्रवृद्ध बलवाला होता हुआ **पथां अंकासि अनु** मार्गों के चिह्नों

के अनुसार **आपनीफणत्**=निरन्तर गतिवाला होता है, महाजनों के मार्ग चिह्नों पर ही यह चलता है कभी मार्गभ्रष्ट नहीं होता।

भावार्थ—विषयजाल को परे फेंक कर मन खाने व बोलने के व्रत को धारण करता हुआ संयमी होता है। यह मार्गभ्रष्ट नहीं होता।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—सूर्यः॥ छन्दः—निचृज्जगती॥ स्वरः—निषादः॥

प्रभुदर्शन

हंसः शुचिषद्वसुरन्तरिक्षसद्धोता वेदिषदतिथिर्दुरोणसत्।
नृषद्वरसदृतसद्व्योमसदब्जा गोजा ऋतजा अद्रिजा ऋतम्॥ ५॥

(१) गतमन्त्र का मार्ग से न भ्रष्ट होनेवाला 'मन' प्रभु को देखता है और कह उठता है कि वे प्रभु ही **हंसः**-(हन्ति पाप्मानं) सब पापों को नष्ट करते हैं और **शुचिषद्**-पवित्र हृदय में आसीन होते हैं। **वसुः**=वे ही सबको वसानेवाले हैं और **अन्तरिक्षसद्**=(अन्तरिक्ष) मध्यमार्ग में आसीन होते हैं, अर्थात् मध्यमार्ग में चलनेवाले पुरुष को प्राप्त होते हैं। **होता**=वे ही वस्तुतः सब यज्ञादि कर्मों को करनेवाले हैं और **वेदिषत्**-यज्ञवेदि में आसीन होते हैं। **अतिथिः**=निरन्तर गतिवाले वे प्रभु **दुरोणसत्**-हमारे निर्मल शरीरगृहों में (दुर् ओण्) स्थित होते हैं। (२) **नृषत्**-निरन्तर आगे बढ़नेवालों में वे स्थित होते हैं। **वरसद्** श्रेष्ठों में स्थित होते हैं। **ऋतसद्**=सत्यकर्मा पुरुषों में स्थित होते हैं। **व्योमसद्**-(वी+ओम्, वी गतौ अव रक्षणे) गति द्वारा वासनाओं के आक्रमण से अपने को बचानेवालों में ये प्रभु स्थित होते हैं। (३) **अब्जाः**=(अप्सु जायते) नदियों के निरन्तर बहते हुए जलों में प्रभु की महिमा का प्रादुर्भाव होता है। **गोजाः**-इस पृथिवी में (पुण्यगन्ध के रूप में) प्रभु प्रादुर्भूत होते हैं। **ऋतजाः**=सृष्टि के अटल नियमों में (ऋत right) प्रभु का प्रादुर्भाव हो रहा है। **अद्रिजाः**=पर्वतों के अद्भुत दृश्यों में प्रभु दिखते हैं। **ऋतम्** वे प्रभु स्वयं ऋत हैं सत्यस्वरूप हैं।

भावार्थ—शुद्ध हृदय होकर हम 'हंस' के रूप में प्रभु का दर्शन करें। यह प्रभुदर्शन हमारे सब पापों को नष्ट करे।

अगले सूक्त में 'इन्द्र व वरुण' के नाम से प्रभु का आराधन है—

[४१] एकचत्वारिंशं सूक्तम्

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—इन्द्रावरुणौ॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

'नमस्वान्-क्रतुमान्' स्तोम

इन्द्रा को वां वरुणा सुम्नमाप स्तोमो हविष्माँ अमृतो न होता।
यो वां हृदि क्रतुमाँ अस्मदुक्तः पस्पर्शदिन्द्रावरुणा नमस्वान्॥ १॥

(१) 'इन्द्र' परमैश्वर्यशाली है (इदि परमैश्वर्ये)। 'वरुण' सब बुराइयों का निवारण करनेवाला है। सब बुराइयों के निवारण से ही परमैश्वर्य की प्राप्ति होती है। इन्हें संबोधन करते हुए कहते हैं कि **इन्द्रावरुणा**-हे इन्द्र और वरुण देवो! **कः**=कौन **वाम्** आपके **सुम्नम्** आनन्द को **आप**-प्राप्त करता है? संसार के विषयों में न फँसनेवाला कोई विरल व्यक्ति ही इन्द्र व वरुण के आनन्द को प्राप्त कर पाता है। वह इस आनन्द को प्राप्त करता है, **यः**-जो कि **स्तोमः** (स्तोमः अस्य अस्ति इति) स्तुतिवाला बनता है, **हविष्मान्**-त्यागपूर्वक अदन (भक्षण) वाला होता है। **अमृतः न**-अमृत सा, सदा नीरोग-सा बनता है अथवा विषयवासनाओं के पीछे मरता नहीं।

होता यज्ञशील होता है। (२) हे **इन्द्रावरुणा**-इन्द्र और वरुण देवो! **यः** जो **अस्मदुक्तः** हमारे से उच्चरित हुआ हुआ **वां हृदि** आपके हृदय में **पस्पर्शत्** स्पर्श करे, वही स्तवन ठीक है। यही स्तवन हमें इन्द्र और वरुण के सुख को प्राप्त करानेवाला होता है। यह स्तोम **क्रतुमान्** यज्ञादि उत्तम कर्मोंवाला है और **नमस्वान्** नम्रता से युक्त है। वस्तुतः जब हम नम्र व यज्ञशील बनकर प्रभु का स्तवन करते हैं, तभी हम प्रभु के प्रिय होते हैं।

भावार्थ—हम नम्र व यज्ञशील बनकर प्रभु का स्तवन करें। यही स्तवन हमें प्रभु का प्रिय बनाएगा और हम प्रभु के आनन्द में भागी हो सकेंगे।

ऋषिः—**वामदेवः** ॥ देवता—**इन्द्रावरुणौ** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

इन्द्र व वरुण के साथ मैत्री

इन्द्रा ह यो वरुणा चक्र आपी देवौ मर्तः सख्याय प्रयस्वान्।
स हन्ति वृत्रा समिथेषु शत्रूनवोभिर्वा महद्भिः स प्र शृण्वे॥ २॥

(१) गतमन्त्र में वर्णित 'नमस्वान् क्रतुमान् स्तोम' द्वारा **ह** निश्चय से **यः** जो **मर्तः** मनुष्य **इन्द्रावरुणा देवौ** परमैश्वर्यशाली पाप निवारक देव को **आपी चक्रे** मित्र बनाता है और जो **सख्याय** इनकी मित्रता के लिए **प्रयस्वान्** उद्योगवाला होता है। **सः** वह **वृत्रा हन्ति** ज्ञान की आवरणभूत सब वासनाओं को विनष्ट करनेवाला होता है। प्रभु की मित्रता में वासनारूप शत्रुओं का विनाश हो ही जाता है। महादेव के सामने कामदेव का क्या काम? (२) यह इन्द्र और वरुण को अपना मित्र बनानेवाला व्यक्ति **समिथेषु**-संग्रामों में **शत्रून् हन्ति**-काम क्रोध लोभ आदि शत्रुओं को विनष्ट करता है। **वा** और **महद्भिः अवोभिः**-महान् रक्षणों से **सः** वह **प्रशृण्वे** प्रसिद्ध होता है यह बड़े-बड़े प्रलोभनों में भी अपना रक्षण कर पाता है।

भावार्थ—हम इन्द्र व वरुण के मित्र बनने का प्रयत्न करें। यह मैत्री ही हमें विजयी बनाएगी।

ऋषिः—**वामदेवः** ॥ देवता—**इन्द्रावरुणौ** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

श्रेष्ठ रत्नों की प्राप्ति

इन्द्रा ह रत्नं वरुणा धेष्ठेत्था नृभ्यः शशमानेभ्यस्ता।
यदी सखाया सख्याय सोमैः सुतेभिः सुप्रयसा मादयैते॥ ३॥

(१) हे **ता इन्द्रावरुणा** प्रसिद्ध परमैश्वर्यशाली पापनिवारक देवो! आप **शशमानेभ्यः** प्लुतगति से कर्म करनेवाले (शश प्लुत गतौ) और इन कर्मों द्वारा ही प्रभु का शंसन करनेवाले (शंसमानेभ्यः) **नृभ्यः** लोगों के लिए **इत्था** सचमुच **रत्नं धेष्ठा** रमणीय धनों को धारण करते हो। (२) यह आप तब करते हो, **यद्** जब कि **ई** निश्चय से **सखाया** मित्रभूत आप **सुतेभिः सोमैः** उत्पन्न हुए हुए सोमों से तथा **सुप्रयसा** उत्तम सात्त्विक अन्नों के सेवन से **सख्याय** मित्रता के लिए **मादयैते** प्रसन्न होते हो। इन्द्र और वरुण हमारे मित्र तभी बनते हैं, जब कि हम सात्त्विक अन्नों का सेवन करते हुए सोम का रक्षण करते हैं। यह सोमरक्षण ही हमें 'इन्द्र वरुण' के जैसा बनने में समर्थ करता है। तभी हम रमणीय रत्नों के भागी होते हैं।

भावार्थ—(क) हम सात्त्विक अन्नों का सेवन करें, (ख) सोम का शरीर में ही व्यापन करें, (ग) सदा कर्मशील बने रहें। यही मार्ग है 'इन्द्र व वरुण' के प्रिय बनने का।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रावरुणौ ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

'दुरेव वृकति व दभीति' का विनाश

इन्द्रा युवं वरुणा दिद्युमस्मिन्नोजिष्ठमुग्रा नि वधिष्टं वज्रम्।
यो नो दुरेवो वृकतिर्दभीतिस्तस्मिन्मिमाथामभिभूत्योजः ॥ ४ ॥

(१) हे **इन्द्रावरुणा** इन्द्र और वरुण! **युवम्** आप **उग्रा**-अत्यन्त तेजस्वी हो। **अस्मिन्** इस हमारे शत्रु पर **दिद्युम्** दीप्त **ओजिष्ठम्**-ओजस्वितम **वज्रम्** वज्र को **निवधिष्टम्** निश्चय से प्रहत करो। आपके वज्र से यह हमारा शत्रु सुतरां विनष्ट हो जाए। (२) **यः** जो **नः** हमारा **दुरेवः** दुष्ट आचरणवाला (दुर् एव) कामरूप शत्रु है, **वृकतिः** आदान की वृत्तिवाला कभी न तृप्त होनेवाला लोभरूप शत्रु है, **दभीतिः**-हिंसन के स्वभाववाला क्रोधरूप शत्रु है। **तस्मिन्** उस 'काम लोभ क्रोध' रूप शत्रु पर **अभिभूत्योजः**=अभिभावक बल को **मिमाथाम्** बनाओ। इस शत्रु के विनाश के लिए इस अभिभावक बल का प्रयोग करो। इन शत्रुओं के विनष्ट होने पर ही हम विनाश से बच पाते हैं।

भावार्थ—इन्द्र व वरुण का उपासन हमें 'दुराचरणवाले काम, औरों के धन को भी छीननेवाले लोभ तथा हिंसकवृत्तिवाले क्रोध' से बचाता है।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रावरुणौ ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

वेदधेनु का हमारे जीवन में प्रेरण

इन्द्रा युवं वरुणा भूतमस्या धियः प्रेतारा वृषभेव धेनोः।
सा नो दुहीयद्यवसेव गत्वी सहस्रधारा पयसा मही गौः ॥ ५ ॥

(१) हे **इन्द्रावरुणा** इन्द्र व वरुण देवो! **युवम्** आप दोनों **वृषभा इव**-हमारे पर सुखों का सेचन करनेवालों के समान हो। आप **अस्याः** इस **धेनोः** ज्ञानदुग्ध को देनेवाली वेदवाणी रूप गौ की **धियः** बुद्धियों को ज्ञानों को **प्रेतारा भूतम्**-प्रेरित करनेवाले होओ। इन्द्र व वरुण की कृपा से हमारे लिए यह वेदधेनु प्रेरित हो। (२) **सा**-वह वेदधेनु **नः** हमारे लिए **यवसा इव** (यु मिश्रणामिश्रणयोः) सब बुराइयों के अमिश्रण व अच्छाइयों के मिश्रण के हेतु से ही **गत्वी**-गतिवाली होकर **दुहीयत्** ज्ञानदुग्ध को प्रपूरित करनेवाली हो। यह **गौः**=सब पदार्थों का ज्ञान देनेवाली वेदरूप गौ **सहस्रधारा**-सहस्रों प्रकार से हमारा धारण करनेवाली है। **पयसा मही** अपने ज्ञानदुग्ध के कारण महनीय है। मानव जीवन में इसका स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

भावार्थ—इन्द्र और वरुण हमारे लिए वेदवाणी रूप गौ को प्रेरित करते हैं। यह हमारे लिए ज्ञानदुग्ध को प्राप्त कराके हमारा नाना प्रकार से धारण करती है।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रावरुणौ ॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

शत्रु विनाश व सुन्दर जीवन

तोके हिते तनय उर्वरासु सूरो दृशीके वृषणश्च पौंस्ये।
इन्द्रा नो अत्र वरुणा स्यातामवोभिर्दस्मा परितक्म्यायाम् ॥ ६ ॥

(१) गतमन्त्र के अनुसार हमारे जीवनों में वेदधेनु को प्रेरित करके ज्ञान के प्रपूरण द्वारा **इन्द्रावरुणा** इन्द्र और वरुण **अत्र** यहाँ **परितक्म्यायाम्**-अज्ञानान्धकार से आवृत जीवन रात्रि में (परितक्म्या-रात्रि) **नः**-हमारे लिए **अवोभिः**-रक्षणों द्वारा **दस्मा** काम क्रोध लोभ आदि

शत्रुओं के विनष्ट करनेवाले **स्याताम्**-हों। (२) ये इन्द्र और वरुण हमें काम आदि शत्रुओं से इसलिए ऊपर उठाएँ कि **तोके हिते**-हितकर सन्तानों के निमित्त। (हिते तनये) हितकर पौत्रों के निमित्त। **उर्वरासु** नये नये विचारों को जन्म देनेवाली बुद्धियों के निमित्त। **सूरः दशीके** सूर्य के चिरकाल तक दर्शन के निमित्त चिर जीवन के लिए। **च** और **वृषणः पौंस्ये** शक्तिशाली पुरुष के वीरतापूर्ण कर्मों के निमित्त। वेदज्ञान को प्राप्त करके जब काम क्रोध लोभ से ऊपर उठते हैं, तो हमें सदा (क) हितकार्यों में प्रवृत्त होनेवाले सन्तान मिलते हैं, (ख) हमारी बुद्धि उर्वरा होती है, (ग) हम दीर्घजीवन को प्राप्त करते हैं और (घ) शक्तिशाली कर्मों को करनेवाले होते हैं।

भावार्थ—इन्द्र और वरुण हमारे शत्रुओं को नष्ट करके हमें 'उत्तम सन्तान, उर्वरा बुद्धि, दीर्घजीवन तथा शक्ति' प्राप्त कराएँ।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—इन्द्रावरुणौ॥ छन्दः—पङ्क्तिः॥ स्वरः—पञ्चमः॥

पितरा इव शम्भू

युवामिद्ध्यवसे पूर्व्याय परि प्रभूती गविषः स्वापी।
वृणीमहे सख्याय प्रियाय शूरा मंहिष्ठा पितरेव शंभू॥ ७॥

(१) **गविषः** (गो इष्) ज्ञानवाणियों की कामनावाले हम **पूर्व्याय अवसे**-हमारा पालन व पूरण करने में उत्तम रक्षण के लिए **युवां इत् हि** हे इन्द्र और वरुण! आपको ही **परिवृणीमहे** सर्वथा वरनेवाले हैं। आप ही **प्रभूती**-प्रकृष्ट ऐश्वर्यवाले हैं तथा **स्वापी** उत्तम बन्धु हैं। (२) हम **प्रियाय सख्याय**-सदा प्रीति को देनेवाली मित्रता के लिए आप को वरते हैं। जो आप **शूरा** हमारे शत्रुओं को शीर्ण करनेवाले हैं, **मंहिष्ठा** हमें अधिक से अधिक उन्नति के साधनभूत पदार्थों को प्राप्त करानेवाले हैं। **पितरा इव शम्भू**-माता पिता के समान हमारे लिए शान्ति को भावित करनेवाले हैं।

भावार्थ—इन्द्र और वरुण ही हमारे सच्चे मित्र हैं। ये ही हमारा रक्षण करते हैं। हमारा जीवन शान्त बनाते हैं।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—इन्द्रावरुणौ॥ छन्दः—स्वराट्पङ्क्तिः॥ स्वरः—पञ्चमः॥

इन्द्र व वरुण का स्तवन

ता वां धियोऽवसे वाजयन्तीराजिं न जग्मुर्युवयूः सुदानू।
श्रिये न गाव उप सोममस्थुरिन्द्रं गिरो वरुणं मे मनीषाः॥ ८॥

(१) हे **सुदानू** शोभन ज्ञानों के देनेवाले इन्द्र और वरुण! **वाजयन्तीः**-शक्ति की कामनावाली **युवयूः** आप को प्राप्त करने की कामनावाली **ताः धियः** वे स्तुतियाँ **अवसे** रक्षण के लिए **वां जग्मुः** आपके प्रति प्राप्त होती हैं। इस प्रकार प्राप्त होती हैं, **न** जैसे कि **आजिम्**-युद्ध को सेनाएँ प्राप्त हुआ करती हैं। जीवन भी एक संग्राम है। इसमें विजय प्राप्ति के लिए अपने को सशक्त बनाने की कामनावाली प्रजाएँ इन्द्र और वरुण का स्तवन करती हैं। (२) **न** जैसे **गावः**-ये वेदवाणियाँ **श्रिये** शोभा के लिए **सोमम्**-सोमरक्षण करनेवाले विनीत विद्यार्थी को **उप अस्थुः** समीपता से प्राप्त होती हैं। इसी प्रकार **मे गिरः** मेरी ये ज्ञानवाणियाँ तथा **मनीषाः**-मननपूर्वक की जाने वाली स्तुतियाँ **इन्द्रं वरुणम्**-इन्द्र व वरुण का उपासन करती हैं। इन्द्र व वरुण का उपासन करती हुई ये मेरी शोभा की वृद्धि के लिए होती हैं।

भावार्थ—इन्द्र व वरुण की उपासना से ज्ञानवृद्धि को प्राप्त करके हम जीवन को शोभा सम्पन्न बनाएँ।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—इन्द्रावरुणौ॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

धन व ज्ञान (धन) की प्राप्ति

इमा इन्द्रं वरुणं मे मनीषा अग्मन्नुप द्रविणमिच्छमानाः।
उपेमस्थुर्जोष्टारइव वस्वो रघ्वीरिव श्रवसो भिक्षमाणाः॥ ९॥

(१) **द्रविणम्**=ज्ञानधन को **इच्छमानाः**=चाहती हुई **इमाः**=ये **मे**=मेरी **मनीषाः**-बुद्धियाँ व स्तुतियाँ **इन्द्रम्**-इन्द्र को व **वरुणम्**=वरुण को **उप अग्मन्**=समीपता से प्राप्त होती हैं। इन्द्र व वरुण की उपासना से ही तो ज्ञानधन की प्राप्ति होती है। इन्द्र व वरुण की सच्ची उपासना यही है कि हम जितेन्द्रिय व निर्द्वेष बनें। यह जितेन्द्रिय (इन्द्र) निर्द्वेष (वरुण) व्यक्ति ही ज्ञानी बन पाता है। (२) मेरी बुद्धियाँ **ईम्**=निश्चय से इन्द्र व वरुण का **उप अस्थुः**=उपासन इस प्रकार करती हैं, **इव** जैसे कि **जोष्टारः**=सेवक लोग **वस्वः भिक्षमाणाः**=धन का भिक्षण करते हुए स्वामी के समीप उपस्थित होते हैं और **इव**-जैसे कि **श्रवसः**-(भिक्षमाणाः) ज्ञान का भिक्षण करती हुई **रघ्वीः** छोटी छोटी प्रजाएँ (छोटे बालक) आचार्य के समीप उपस्थित होती हैं।

भावार्थ—इन्द्र व वरुण का उपासन ही हमें धन व ज्ञान (धन) को प्राप्त कराता है।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—इन्द्रावरुणौ॥ छन्दः—स्वराट्पङ्क्तिः॥ स्वरः—पञ्चमः॥

अश्व्य व रथ्य धन

अश्व्यस्य त्मना रथ्यस्य पुष्टेर्नित्यस्य रायः पतयः स्याम।
ता चक्राणा ऊतिभिर्नव्यसीभिरस्मत्रा रायो नियुतः सचन्ताम्॥ १०॥

(१) हम **त्मना**-स्वयं, अर्थात् अपने पुरुषार्थ से **रायः**=धन के **पतयः**=स्वामी **स्याम**-हों। उस धन के, जो कि **नित्यस्य**-अस्थिर नहीं है, **अश्व्यस्य**=उत्तम इन्द्रियाश्वोंवाला है तथा **रथ्यस्य**-उत्तम शरीर रूप रथवाला है तथा **पुष्टेः**=हमारा उचित पोषण करनेवाला है। धन वही हमें धन्य बनानेवाला है, जिसके द्वारा इन्द्रियाँ सशक्त बनी रहें, शरीर दृढ़ बना रहे तथा परिवार के सभी व्यक्तियों का जिसके द्वारा उचित पोषण होता रहे। (२) **ता**=वे इन्द्र और वरुण **नव्यसीभिः ऊतिभिः**-स्तुत्य रक्षणों द्वारा **चक्राणा**-हमारे लिए सब कार्यों को सिद्ध करनेवाले हों। उनकी कृपा से **अस्मत्रा**-हमारे जीवन में **रायः**=सब ऐश्वर्य तथा **नियुतः**=उत्तम इन्द्रियाश्व **सचन्ताम्**=समवेत हों। हमें ऐश्वर्य तथा उत्तम इन्द्रियाश्व प्राप्त हों।

भावार्थ—इन्द्र व वरुण की कृपा से हमें वे धन प्राप्त हों, जो कि इन्द्रियों व शरीर को उत्तम बनाएँ-हमारा ठीक से पोषण करें।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—इन्द्रावरुणौ॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

क्रियाशीलता व व्रतबन्धन

आ नो बृहन्ता बृहतीभिरूती इन्द्र यातं वरुण वाजसातौ।
यद्दिद्यवः पृतनासु प्रक्रीळान्तस्य वां स्याम सनितार आजेः॥ ११॥

(१) हे **बृहन्ता**-अत्यन्त वृद्धि को प्राप्त **इन्द्र वरुण**-इन्द्र और वरुण! आप **वाजसातौ** इस जीवनसंग्राम में **बृहतीभिः**-हमारी वृद्धि को कारणभूत **ऊती**=रक्षणों के साथ **नः**=हमें **आयातम्**-प्राप्त

होओ। इन्द्र और वरुण की कृपा से ही हमने इस जीवनसंग्राम में विजयी बनना है। (२) **यद्** जब **दिद्यवः** दीप्त अस्त्र **पृतनासु**-शत्रु-सैन्यों पर **प्रक्रीडान्** खेलनेवाले हों, **तस्य** उस **वाम्** आपके **आजेः** संग्राम के **सनितारः** सेवन करनेवाले **स्याम** हों। हमारे जीवन के अध्यात्म-संग्राम में काम क्रोध आदि शत्रु इन्द्र के वज्र से प्रहत हों तथा वरुण के पाशों से जकड़े जाएँ। 'इन्द्र के वज्र' का भाव यह है कि हम जितेन्द्रिय बनकर सदा क्रियाशील बने रहें। 'वरुण के पाशों' का भाव यह है कि हम पापों के निवारण के लिए अपने को व्रतों के बन्धन में बाँधनेवाले हों। ऐसा होने पर ही हम अध्यात्म संग्राम में विजयी बनते हैं।

भावार्थ—हम इन्द्र के उपासक बनकर जितेन्द्रिय व क्रियाशील हों। वरुण के उपासक बनकर व्रतों के बन्धन में अपने को बाँधकर निष्पाप बनें।

इस प्रकार इन्द्र व वरुण का उपासक 'त्रसदस्यु' बनता है, जिससे दास्यव वृत्तियाँ भयभीत होकर दूर भागती हैं। यह 'पौरुकुत्स्य' होता है, अत्यन्त ही बुराई का संहार करनेवाला यह प्रार्थना करता है कि—

[४२] द्विचत्वारिंशं सूक्तम्

ऋषिः—त्रसदस्युः पौरुकुत्स्यः॥ देवता—आत्मा॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

'श्रमशील उपासक' का जीवन

मम॑ द्वि॒ता रा॒ष्ट्रं क्ष॒त्रिय॑स्य वि॒श्वायो॒र्विश्वे॑ अ॒मृता॒ यथा॑ नः।
क्रतुं॑ सचन्ते॒ वरु॑णस्य दे॒वा राजा॑मि कृ॒ष्टेरु॑प॒मस्य॑ व॒व्रेः॥ १॥

(१) **क्षत्रियस्य** क्षतों से अपना त्राण करनेवाले, **विश्वायोः** पूर्ण जीवनवाले (शरीर में स्वस्थ, मन में निर्मल तथा बुद्धि में तीव्र) **मम** मेरा **राष्ट्रम्** यह शरीररूप राष्ट्र **द्विता** दोनों का विस्तार करनेवाला है, शरीर में शक्ति का तथा मस्तिष्क में दीप्ति का। (२) मैं ऐसा प्रयत्न करता हूँ कि **विश्वे अमृताः** सब देव **यथा** जैसे **नः**-हमारे होते हैं। **देवाः**-देववृत्ति के पुरुष **वरुणस्य क्रतुम्** वरुण के प्रज्ञान व शक्ति को **सचन्ते**-प्राप्त करते हैं। देवों को दिव्य गुणों को अपनाकर मैं देव बनता हूँ। देव बनकर वरुण की शक्ति व प्रज्ञा को प्राप्त करता हूँ। (३) ऐसा होने पर मैं **कृष्टेः**-एक श्रमशील व्यक्ति के, **उपमस्य**-प्रभु के अन्तिकतम व्यक्ति के प्रभु के उपासक के **वव्रेः** रूप या **राजाभि** राजा होता हूँ। मेरा जीवन एक 'श्रमशील उपासक' का जीवन होता है।

भावार्थ—मैं क्षत्रिय व विश्वायु बनकर शरीर राष्ट्र में शक्ति व ज्ञान का विस्तार करता हूँ। प्रयत्न करता हूँ कि मेरा जीवन एक श्रमशील उपासक का जीवन हो।

ऋषिः—त्रसदस्युः पौरुकुत्स्यः॥ देवता—आत्मा॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

आसुरभावों का विनाशक बल

अ॒हं राजा॒ वरु॑णो॒ मह्यं॒ तान्य॑सु॒र्या॑णि प्रथ॒मा धा॑रयन्त।
क्रतुं॑ सचन्ते॒ वरु॑णस्य दे॒वा राजा॑मि कृ॒ष्टेरु॑प॒मस्य॑ व॒व्रेः॥ २॥

(१) वरुण की उपासना करता हुआ **अहम्**-मैं स्वयं भी **राजा** राजा **वरुणः** देदीप्यमान वरुण बन जाता हूँ। **मह्यम्** मेरे लिए सब **देवाः**-देव **तानि**-उन **प्रथमा** मुख्य **असुर्याणि** असुरों के विघातक बलों को **धारयन्त** धारण करते हैं। इन बलों को प्राप्त करके मैं आसुरभावों का विनाश करके देव बन जाता हूँ। (२) **देवाः**-देववृत्ति के पुरुष **वरुणस्य क्रतुम्**-वरुण की प्रज्ञा व शक्ति

को **सचन्ते**=प्राप्त करते हैं। मैं भी **कृष्टेः**-श्रमशील **उपमस्य**-उपासक के **वव्रेः**-रूप का **राजामि** राजा बनता हूँ।

भावार्थ—प्रभु की उपासना से असुरविघातक बलों को प्राप्त करके मैं प्रभु जैसा ही बनता हूँ।

ऋषिः—त्रसदस्युः पौरुकुत्स्यः॥ देवता—आत्मा॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

जितेन्द्रिय व निष्पाप

अहमिन्द्रो वरुणस्ते महित्वोर्वी गभीरे रजसी सुमेके।
त्वष्टेव विश्वा भुवनानि विद्वान्त्समैरयं रोदसी धारयं च॥ ३॥

(१) **अहम्** मैं **इन्द्रः**-इन्द्र बनता हूँ-जितेन्द्रिय बनता हूँ। **वरुणः**-वरुण बनता हूँ, निष्पाप होता हूँ। जितेन्द्रिय व निष्पाप बनकर **महित्वा**-प्रभु की उपासना द्वारा **ते रजसी**-द्यावापृथिवी को मस्तिष्क व शरीर को **उर्वी** विशाल बनाता हूँ, **गभीरे** गम्भीर बनाता हूँ, **सुमेके** उत्तम निर्माणवाला करता हूँ। (२) **त्वष्टा इव**=एक निर्माता के समान **विश्वा भुवनानि** सब भुवनों को लोकों को शरीर के अंग-प्रत्यंग को **विद्वान्**-जानता हुआ **समैरयम्**-सम्यक् गतिवाला करता हूँ। सब अंगों को ठीक से कार्य में व्यापृत करता हूँ। **च**-और **रोदसी**-द्यावापृथिवी को **धारयम्** धारण करता हूँ-शरीर व मस्तिष्क दोनों को ही ठीक रखने के लिए यत्नशील होता हूँ।

भावार्थ—हम जितेन्द्रिय व निष्पाप बनकर शरीर व मस्तिष्क का ठीक प्रकार से धारण करें।

ऋषिः—त्रसदस्युः पौरुकुत्स्यः॥ देवता—आत्मा॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

अदिति का पुत्र 'ऋतावा'

अहमपो अपिन्वमुक्षमाणा धारयं दिवं सदन ऋतस्य।
ऋतेन पुत्रो अदितेर्ऋतावोत त्रिधातु प्रथयद्वि भूम॥ ४॥

(१) **अहम्**-मैं **उक्षमाणाः**=शरीर के अंग-प्रत्यंग को सिक्त करते हुए **अपः**-रेतःकणों को **अपिन्वम्**-शरीर में ही सिक्त करता हूँ। शरीर में व्याप्त होकर ये रेतःकण अंग प्रत्यंग को सुपुष्ट करते हैं। (२) मैं **दिवं**-अपने मस्तिष्करूप द्युलोक को **ऋतस्य सदने** ऋत के सदन में ऋत के उत्पत्ति-स्थान प्रभु में, **धारयम्** धारण करता हूँ। अपनी बुद्धि से सदा प्रभु का चिन्तन करता हूँ। (३) मैं **ऋतेन**=ऋत द्वारा-सब कार्यों को ठीक समय पर करने द्वारा, **अदितेः पुत्रः**-अदिति का पुत्र बनता हूँ पूर्ण स्वस्थ बनता हूँ (अ दिति=खण्डन)-अपने स्वास्थ्य को नष्ट नहीं होने देता। मैं **ऋतावा**-ऋत का रक्षण करनेवाला होता हूँ। **उत**-और **त्रिधातु**=तीनों का जिसमें धारण किया गया है (शरीर, मन व बुद्धि=पृथिवी, अन्तरिक्ष व द्यौः) उस **भूम**=पार्थिव शरीर का **वि प्रथयत्**-विशेषरूप से विस्तार करता हूँ। इस शरीर में 'वात, पित्त व कफ़' इन तीनों का ठीक रूप में समन्वय होने पर स्वास्थ्य ठीक बना रहता है 'त्रिधातु' शब्द वस्तुतः इसी बात को व्यक्त कर रहा है। वात की अविकृति शरीर को ठीक रखती है, कफ़ की अविकृति मन को तथा पित्त की अविकृति बुद्धि को ठीक रखती है।

भावार्थ—मैं शरीर में सोमकणों का रक्षण करूँ। मस्तिष्क को प्रभु के विचार में लगाऊँ। ऋत का पालन करते हुए स्वस्थ बनूँ। शरीर में 'वात, पित्त व कफ़' तीनों का ठीक से धारण करूँ।

ऋषिः—त्रसदस्युः पौरुकुत्स्यः ॥ देवता—आत्मा ॥ छन्दः—निचृत्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

प्रभु को पुकारता व विजयी बनना

मां नरः स्वश्वा वाजयन्तो मां वृताः समरणे हवन्ते।
कृणोम्याजिं मघवाहमिन्द्र इयर्मि रेणुमभिभूत्योजाः॥ ५॥

(१) प्रभु कहते हैं कि **स्वश्वाः**-उत्तम इन्द्रियाश्वोंवाले, **वाजयन्तः**-शक्ति को प्राप्त करने की कामनावाले **नरः**-उन्नतिपथ पर बढ़नेवाले लोग **माम्**-मुझे **हवन्ते**=पुकारते हैं। **वृताः**-शत्रुओं से घिरे हुए ये लोग **समरणे** युद्ध में **माम्**-मुझे ही पुकारते हैं। मेरे साहाय्य से ही उन्होंने युद्ध में विजयी बनना होता है। (२) वस्तुतः **अहम्**-मैं **इन्द्रः**-शत्रुओं का विद्रावण करनेवाला **मघवा** परमैश्वर्यशाली होता हुआ **आजिं कृणोमि**=युद्ध को करता हूँ। **अभिभूत्योजाः**-शत्रुओं के अभिभावक बलवाला मैं ही **रेणुं इयर्मि** शत्रुओं में भागदौड़ पैदा करके धूल को उड़ानेवाला होता हूँ।

भावार्थ—हम उत्तम इन्द्रियाश्वोंवाले व शक्ति का संचय करनेवाले बनकर प्रभु को पुकारें। इस संसार संग्राम में प्रभु ही हमें विजयी बनाएँगे।

ऋषिः—त्रसदस्युः पौरुकुत्स्यः ॥ देवता—आत्मा ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

सोमरक्षण व स्तवन

अहं ता विश्वा चकरं नकिर्मा दैव्यं सहो वरते अप्रतीतम्।
यन्मा सोमासो ममदन्यदुक्थोभे भयेते रजसी अपारे॥ ६॥

(१) **अहम्**-मैं **ता विश्वा**-उन सब शत्रुओं के साथ संग्राम आदि कार्यों को **चकरम्**-करता हूँ। **अप्रतीतम्** युद्ध से पराङ्मुख न होनेवाले **मा**-मुझ को **दैव्यं सहः**-सब देवों का तेज भी **नकिः वरते**-रोक नहीं पाता। प्रकृति की सब सूर्य चन्द्र, नक्षत्र आदि में प्रकट होनेवाली शक्तियाँ ही 'दैव्यं सहः' हैं। इन सब का विरोध भी मुझे युद्ध में आगे बढ़ने के निश्चय से विचलित नहीं कर पाता। (२) **यत्** जब **मा**-मुझे **सोमासः**-सोमकण शरीर में सुरक्षित होकर **ममदन्**-आनन्दित करते हैं और **यद्**=जब **उक्था**=प्रभु के स्तोत्र मुझे आनन्दित करनेवाले होते हैं, तो **उभे** ये दोनों **अपारे** अनन्त दूरी तक फैले हुए **रजसी** द्यावापृथिवी **भयेते** मेरे से भयभीत होते हैं। सारा संसार ही मेरा विरोध नहीं कर पाता।

भावार्थ—शरीर में सोमकणों का रक्षण और प्रभुस्तवन मुझे वह शक्ति प्राप्त कराते हैं कि सारा संसार भी मेरा विरोध नहीं कर पाता।

ऋषिः—त्रसदस्युः पौरुकुत्स्यः ॥ देवता—इन्द्रावरुणौ ॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

वृत्र-हनन व ज्ञान-प्रवाह

विदुष्टे विश्वा भुवनानि तस्य ता प्र ब्रवीषि वरुणाय वेधः।
त्वं वृत्राणि शृण्विषे जघन्वान्त्वं वृताँ अरिणा इन्द्र सिन्धून्॥ ७॥

(१) गतमन्त्र के अनुसार सोम का रक्षण करनेवाला वरुण का स्तवन करता हुआ कहता है कि **विश्वा भुवनानि**=सब लोक **तस्य ते**-उस तेरी **विदुः** महिमा को अनुभव करते हैं। हे **वेधः** संसार के निर्माता सर्वज्ञ प्रभो! आप ही **वरुणाय**=व्रतों के बन्धन में अपने को बाँधनेवाले व्यक्ति के लिए **ता**-उन ज्ञानवाणियों को **प्रब्रवीषि**-कहते हैं। (२) **त्वम्**-आप ही **वृत्राणि**

जघन्वान्-वृत्रों-वासनाओं को विनष्ट करनेवाले **शृण्विषे**-सुने जाते हैं और **त्वम्**=आप ही **वृतान्** वासनाओं से आवृत हुए-हुए **सप्त सिन्धून्**=शरीरस्थ सप्तर्षियों के सात ज्ञान प्रवाहों को **अरिणाः** गतिमय करते हैं। 'कर्णाविमौ नासिके चक्षणी मुखम्' ये शरीरस्थ सप्तर्षि हैं। प्रभु ने इन्हें ज्ञानप्राप्ति के लिए शरीर में स्थापित किया है। वासना इस ज्ञानप्रवाह को रोकती है, सो 'वृत्र' कहलाती है। प्रभु इस वृत्र को विनष्ट करके पुनः ज्ञानधाराओं को प्रवाहित करते हैं।

भावार्थ—हम अपने को व्रतों के बन्धन में बाँधने का प्रयत्न करें। प्रभु वृत्र का विनाश करके हमारे जीवन में ज्ञान-प्रवाहों को प्रवृत्त करेंगे।

ऋषिः—त्रसदस्युः पौरुकुत्स्यः॥ देवता—इन्द्रावरुणौ॥ छन्दः—भुरिक्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

मन का बन्धन

अस्माकमत्र पितरस्त आसन्त्सप्त ऋषयो दौर्गहे बध्यमाने।
त आयजन्त त्रसदस्युमस्या इन्द्रं न वृत्रतुरमर्धदेवम् ॥ ८॥

(१) मन का ग्रहण करना बड़ा कठिन है सो यह 'दौर्गह' है। इस **दौर्गहे**-दुर्ग्रहणीय मन के **बध्यमाने**=बाँधे जाने पर-इस मन को वश में कर लेने पर **अत्र**=इस जीवन में **अस्माकम्**=हमारे **ते**-वे **सप्त ऋषयः**=शरीरस्थ सात ऋषि (कर्णाविमौ नासिके चक्षणी मुखम्) दो कान, दो नासिका छिद्र, दो आँखें व मुख **पितरः**-पालक **आसन्**=हो जाते हैं। मन के वशीभूत न होने पर ये इन्द्रियाँ विषयों में फँस जाती हैं। इसके वशीभूत हो जाने पर ये ही ज्ञान को प्राप्त कराती हुई हमारा रक्षण करनेवाली होती हैं। (२) **न**=अब (संप्रत्यर्थे) **ते**=वे सप्त ऋषि **त्रसदस्युम्**-जिससे दास्यववृत्तियाँ भयभीत होती हैं, उस पुरुष को **अस्याः**-इस देह द्वारा **इन्द्रम्**=उस प्रभु के साथ **आयजन्त**-मेल कराते हैं, जो कि **वृत्रतुरम्**-वासना को विनष्ट करनेवाले हैं और **अर्धदेवम्**=देवों के समीप वर्तमान हैं (अर्ध समीपे)। मन वश में न था तो यह हमें भटकानेवाला था। वशीभूत हुआ तो यह हमें प्रभु को प्राप्त करानेवाला बन गया।

भावार्थ—मन के वशीभूत होते ही इन्द्रियाँ हमारा रक्षण करनेवाली होती हैं और प्रभु से हमारा मेल कराने का साधन बनती हैं।

ऋषिः—त्रसदस्युः पौरुकुत्स्यः॥ देवता—इन्द्रावरुणौ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

पुरुकुत्सानी

पुरुकुत्सानी हि वामदाशद्धव्येभिरिन्द्रावरुणा नमोभिः।
अथा राजानं त्रसदस्युमस्या वृत्रहणं ददथुरर्धदेवम् ॥ ९॥

(१) हे **इन्द्रावरुणा**-परमैश्वर्यशाली पापनिवारक प्रभो! **पुरुकुत्सानी**-अपना पालन व पूरण करने के लिए वासनाओं के संहार करने की वृत्ति (पृ पालन पूरणयोः, कुथ हिंसायाम्) **हि**= निश्चय से **हव्येभिः**-दानपूर्वक अदन की वृत्ति से-यज्ञशीलता से तथा **नमोभिः**=नम्रता से **वाम्**=आपके प्रति **अदाशत्**=अपना अर्पण करती है। जिस समय मनुष्य में वासनाओं के संहार करने की वृत्ति उत्पन्न होती है, उस समय त्याग की भावना (हव्य) व नम्रता से (नमस्) युक्त होकर प्रभु के प्रति अपना अर्पण करनेवाला बनता है। (२) **अथा**-अब **राजानम्**-जीवन को दीप्त बनानेवाले **त्रसदस्युम्**-दास्यव-भावों को अपने से दूर करनेवाले इस 'त्रसदस्यु' को **अस्याः**=इस देह के द्वारा **वृत्रहणम्** वासनाओं के विनाशक **अर्धदेवम्**=सब देवों के समीप वर्तमान उस प्रभु को **ददथुः**-देते हो, अर्थात् इन्द्र और वरुण=जितेन्द्रियता व निष्पापता इसे प्रभु के समीप प्राप्त कराती हैं।

भावार्थ—हमारे में वासनाओं को दूर करने की वृत्ति हो। इस वृत्ति को धारण करके हम 'इन्द्र व वरुण' के उपासक बनें। जितेन्द्रियता व निष्पापता को धारण करें। यही प्रभुप्राप्ति का मार्ग है।

ऋषिः —त्रसदस्युः पौरुकुत्स्यः ॥ देवता —इन्द्रावरुणौ ॥ छन्दः —त्रिष्टुप् ॥ स्वरः धैवतः ॥

यज्ञों द्वारा धन का संविभाग

राया वयं ससवांसो मदेम हव्येन देवा यवसेन गावः।

तां धेनुमिन्द्रावरुणा युवं नो विश्वाहा धत्तमनपस्फुरन्तीम्॥ १०॥

(१) **वयम्** हम **राया**-धन के द्वारा **ससवांसः**-संविभाग करते हुए, अर्थात् सबके साथ मिलकर धन का उपभोग करते हुए **मदेम**-आनन्द का अनुभव करें। हमारे धनों में से **हव्येन**-हव्य द्वारा **देवाः** सब वायु आदि देव अपने भाग को प्राप्त करें तथा **यवसेन** घास आदि द्वारा **गावः** गौवें भी पशु भी अपना भाग प्राप्त करनेवाले हों। हम 'ब्रह्मयज्ञ' द्वारा राष्ट्र के सब बच्चों के लिए धन का संविभाग करें। 'पितृयज्ञ' द्वारा अपने बड़ों के लिए तथा 'अतिथियज्ञ' द्वारा विद्वानों के लिए धन का संविभाग करते हुए, देवयज्ञ तथा बलिवैश्व देव यज्ञ भी अवश्य करें। (२) हे **इन्द्रावरुणा** जितेन्द्रियता व निष्पापता के देवो! **युवम्**-आप **नः** हमारे लिए **विश्वाहा** सदा **ताम्** उस **अनपस्फुरन्तीम्**-अविहिंसित **धेनुम्**-वेदवाणी रूप गौ को **धत्तम्**-धारण करो। वेदज्ञान प्राप्त करने के लिए जितेन्द्रियता व निष्पापता सहायक हैं।

भावार्थ—धन को हम यज्ञों के द्वारा बाँटकर उपयुक्त करें। जितेन्द्रिय व निष्पाप बनकर वेदवाणी रूप गौ को प्राप्त करनेवाले हों।

इस सूक्त के अनुसार यज्ञ करनेवाले व्यक्ति 'त्रसदस्यु पौरुकुत्स्य' कहलाते हैं। अगले सूक्त में 'सौहोत्र' कहलाते हैं। ये अत्यन्त सुखों का सेचन करनेवाले होने से 'पुरुमीढ' हैं और अपनी भी आहुति दे डालने से 'अजमीढ' हैं (अजो ९४०)। ये कहते हैं—

[४३] त्रिचत्वारिंशं सूक्तम्

ऋषिः—पुरुमीळहाजमीळहौ सौहोत्रौ ॥ देवता—अश्विनौ ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

'सुहव्या देवी' सुष्टुति

क उ श्रवत्कतमो यज्ञियानां वन्दारु देवः कतमो जुषाते।

कस्येमां देवीममृतेषु प्रेष्ठां हृदि श्रेषाम सुष्टुतिं सुहव्याम्॥ १॥

(१) **यज्ञियानाम्**-उपासना के योग्य देवों में **कतमः**-अत्यन्त आनन्दमय **कः** अनिरुक्त प्रजापति शब्दों से अवर्णनीय वह प्रभु, **उ** निश्चय से **श्रवत्**-हमारी इस प्रार्थना को सुनता है। वह **कतमः देवः**-अत्यन्त आनन्दमय देव **वन्दारु**-इस वन्दनशील स्तोत्र को **जुषाते** प्रीतिपूर्वक सेवन करता है। (२) **कस्य**-शब्दों से अवर्णनीय उस प्रभु की **इमाम्** इस **देवीम्** हमारे जीवन को प्रकाशमय करनेवाली व दिव्य गुणों से भरनेवाली **सुहव्याम्** उत्तम शब्दों से पुकारे जानेवाली **सुष्टुतिम्**-उत्तम स्तुति को **हृदि श्रेषाम** हृदय में आलिङ्गित करते हैं, जो कि **अमृतेषु प्रेष्ठाम्** देवों में प्रियतम है जो स्तुति देववृत्ति के लोग प्रेमपूर्वक किया करते हैं।

भावार्थ—हमारे से की गयी स्तुति प्रभु के लिए प्रिय हो। यह स्तुति उत्तम शब्दों से उच्चारित की जाती हुई हमारे जीवनों को प्रकाशमय व दिव्य गुणोंवाला बनाए।

ऋषिः—पुरुमीळहाजमीळ्हौ सौहोत्रौ ॥ देवता—अश्विनौ ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

उत्तम शरीर-रथ

को मृळाति कतम आगमिष्ठो देवानामु कतमः शंभविष्ठः।
रथं कमाहुर्द्रवदश्वमाशुं यं सूर्यस्य दुहितावृणीत ॥ २ ॥

(१) गतमन्त्र के अनुसार **सुष्टुत कः**=वे शब्दों से अवर्णनीय प्रभु **मृडाति**=हमें सुखी करते हैं। **कतमः**=वे अत्यन्त आनन्दमय प्रभु **आगमिष्ठः**=हमें प्राप्त होते हैं। **उ**=और **देवानाम्**=देवों के मध्य में **कतमः**=अत्यन्त आनन्दमय वे सर्वमहान् देव **शम्भविष्ठः**=हमारे लिए अधिक से अधिक शान्ति को देनेवाले होते हैं। (२) उस समय **रथम्**=इस शरीर-रथ को भी **कम्**=आनन्दमय **आहुः** कहते हैं। यह रथ **द्रवदश्वम्**=शीघ्र गतिवाले इन्द्रियाश्वोंवाला होता है, **आशुम्**=शीघ्रता से मार्ग का व्यापन करनेवाला होता है। यह वह रथ होता है, **यम्**=जिसको कि **सूर्यस्य दुहिता**=ज्ञानसूर्य का प्रपूरण करनेवाली बुद्धि **अवृणीत**=वरती है, अर्थात् यह शरीर-रथ बुद्धि के प्रकाश से प्रकाशमय होता है।

भावार्थ—हमें प्रभु प्राप्त हों। इसी से शान्ति मिलती है। इसी से यह रथ उत्तम गतिवाला व प्रकाशमय होता है।

ऋषिः—पुरुमीळहाजमीळ्हौ सौहोत्रौ ॥ देवता—अश्विनौ ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

अन्धकार में भी प्रकाश

मक्षू हि ष्मा गच्छथ ईवतो द्यूनिन्द्रो न शक्तिं परितक्म्यायाम्।
दिव आजाता दिव्या सुपर्णा कया शचीनां भवथः शचिष्ठा ॥ ३ ॥

(१) हे प्राणापानो! आप **हि स्म**=निश्चय से **ईवतः द्यून्**=आगामी दिनों में **मक्षू**=शीघ्र ही **गच्छथः**=हमें प्राप्त होते हो। **न** जैसे **इन्द्रः**=एक जितेन्द्रिय पुरुष **परितक्म्यायाम्**=रात्रि में-अन्धकार में भी **शक्तिम्**=शक्ति को प्राप्त करता है। जीवनयात्रा में घने अन्धकार के भी दिन आते हैं। उन दिनों में एक जितेन्द्रिय पुरुष घबराता नहीं। जैसे यह इन्द्र शक्ति को प्राप्त करता है, इसी प्रकार आगामी दिवसों में हम प्राणापान को प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं। प्राणापान की आराधना ही हमें जीवनयात्रा में अन्धकारमय दिनों में भी व्याकुलता से बचाएगी। (२) **दिवः आजाता**=ये प्राणापान प्रकाश के हेतु से प्रादुर्भूत किये गये हैं-इनकी साधना से अशुद्धि का क्षय होकर ज्ञान चमक उठता है। **दिव्या**=ये प्राणापान हमारे जीवन में दिव्य गुणों को जन्म देनेवाले हैं। **सुपर्णा**=उत्तमता से हमारा पालन व पूरण करनेवाले हैं और ये प्राणापान **कया**=अपनी आनन्दप्रद शक्ति से **शचीनां शचिष्ठा भवथः**=अतिशयेन शक्तिवाले होते हैं। प्राणसाधना से हमें अद्भुत शक्ति प्राप्त होती है।

भावार्थ—प्राणायाम द्वारा प्राणापान की साधना हमारे जीवन में शक्ति का संचार करती है और अन्धकारमय दिनों में भी प्रकाश को प्राप्त कराती है।

ऋषिः—पुरुमीळहाजमीळ्हौ सौहोत्रौ ॥ देवता—अश्विनौ ॥ छन्दः—स्वराट्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

'माध्वी दस्त्रा' अश्विना

का वां भूदुपमातिः कया न आश्विना गमथो हूयमाना।
को वां महश्चित्त्यजसो अभीक उरुष्यतं माध्वी दस्त्रा न ऊती ॥ ४ ॥

(१) हे प्राणापानो! **वाम्**=आपकी **उपमातिः**=उपमा **का भूत्**=क्या हो सकती है। आप तो

शरीर में स्थित आत्मा के अद्भुत सेवक हो। जैसे निष्ठावान् सेवक स्वामी की सेवा में तत्पर रहता है, उसी प्रकार आत्मा के सेवक ये प्राणापान हैं। जब सब सो जाते हैं, तब भी ये प्राणापान जागते ही रहते हैं। **हूयमाना**-पुकारे जाते हुए ये **अश्विना**-प्राणापान **नः**-हमारे लिए **कया** अद्भुत ही (अवर्णनीय) शक्ति के साथ **आगमथः**-आते हैं। (२) **कः** कौन **वाम्** आपके **महः त्यजसः** महान् त्याग के **अभीके चित्**-समीप भी पहुँच सकता है? ये प्राणापान दिन रात अनथक सेवक के समान जागते हैं 'तत्र जागृतः अस्वप्नजौ सत्रसदौ च देवौ'। **माध्वी** ये हमारे जीवन को अत्यन्त मधुर बनाते हैं। **दस्त्रा**-हमारी बुराइयों का उपक्षय करते हैं। **नः ऊती**: हमारे रक्षण के लिए होते हैं।

भावार्थ—प्राणपान अद्भुत शक्ति के साथ हमें प्राप्त होते हैं। ये हमारे जीवन को मधुर बनाते हैं और हमारे सब रोगों का उपक्षय करते हैं।

ऋषिः—पुरुमीळहाजमीळ्हौ सौहोत्रौ॥ देवता—अश्विनौ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

द्युलोक की ओर

उरु वां रथः परि नक्षति द्यामा यत्समुद्रादभि वर्तते वाम्।
मध्वा माध्वी मधु वां प्रुषायन्यत्सीं वां पृक्षो भुरजन्त पक्वाः॥ ५॥

(१) हे अश्विनी देवो! प्राणापानो! **वां रथः** आपकी साधनावाला यह शरीररथ **उरु** अत्यन्त **द्याम्** द्युलोक की ओर **परिनक्षति**-सब प्रकार से गतिवाला होता है। **यत्** क्योंकि **समुद्रात्** (स मुद्) उस आनन्दमय प्रभु से यह रथ **वां अभि आवर्तते** आपकी ओर ही आनेवाला होता है। वस्तुतः प्रभु ने इस शरीर रथ को प्राणापान का ही रथ बनाया है। प्राणसाधना करने पर शरीर में शक्ति का रक्षण होता है। यह शक्ति ज्ञानाग्नि को दीप्त करती है एवं यह रथ द्युलोक की ओर गति कर रहा होता है प्रकाशमय लोक की ओर चलता है। (२) **मध्वा** इस शरीर में रक्षित सोम द्वारा आप **माध्वी** जीवन को अति मधुर बनाते हो। **वाम्** आपका **मधु** यह सोम आपकी साधना से रक्षित हुआ हुआ यह सोम **प्रुषायन्** शरीर के सब अंगों को सिक्त करता है। यह सब होता तब है, **यत्**=जब कि **सीम्**-निश्चय से **वाम्** आपको **पक्वाः** पके हुए **पृक्षः** ये वानस्पतिक अन्न **भुरजन्त** पोषित करते हैं। (पृक्षः इति अन्ननाम नि० २।७) वानस्पतिक पदार्थों के सेवन से जब प्राणापान का पोषण होता है, तो शरीर में सोम का रक्षण सुगम होता है। इसके रक्षण से जीवन सशक्त व मधुर बनता है।

भावार्थ—प्रभु ने यह शरीर रथ वस्तुतः प्राणापान का ही बनाया है। इनकी साधना होने पर यह रथ द्युलोक की ओर (प्रकाश की ओर) गतिवाला होता है।

ऋषिः—पुरुमीळहाजमीळ्हौ सौहोत्रौ॥ देवता—अश्विनौ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्॥ स्वरः धैवतः॥

रसया-घृणा

सिन्धुर्ह वां रसया सिञ्चदश्वान्घृणा वयोऽरुषासः परि ग्मन्।
तदू षु वामजिरं चेति यानं येन पती भवथः सूर्यायाः॥ ६॥

(१) हे प्राणापानो! **सिन्धुः** शरीर में प्रवाहित होनेवाला यह सोम **ह**-निश्चय से **वाम्** आपके **अश्वान्**=इन इन्द्रियाश्वों को **रसया**-रस से लोच लचक से तथा **घृणा** दीप्ति से **सिंचत्** सिक्त करता है। सोम के सुरक्षित होने पर इन्द्रियाश्व सूखे काठ की तरह नहीं हो जाते और ये दीप्ति से युक्त बने रहते हैं। उस समय ये इन्द्रियाश्व **वयः**-गतिवाले तथा **अरुषासः**-आरोचमान होते

हुए **परिग्मन्**=सब ओर गतिवाले होते हैं। (२) हे प्राणापानो! **वाम्**=आपका **तद्**=वह **यानम्**=गमन **ऊ षु**=निश्चय से **अजिरम्** (अज क्षेपणे) सब मलों को परे फेंकनेवाला **चेति**=जाना जाता है, **येन**=जिस गमन से आप **सूर्यायाः**=सूर्या के **पती**=रक्षक **भवथः** होते हैं। 'सूर्य की दुहिता' (सूर्या) शरीर में बुद्धि ही है। इसका रक्षण ये प्राणापान ही करते हैं। प्राणसाधना से सब इन्द्रियों के दोष दूर होकर सब मलिनताओं का निराकरण होकर 'बुद्धि' दीप्त हो उठती है।

भावार्थ—प्राणसाधना से शरीर में सोम का रक्षण होता है। रक्षित सोम जहाँ इन्द्रियों को रस व दीप्ति से युक्त करता है, वहाँ ज्ञानाग्नि को भी दीप्त करता है।

ऋषिः—पुरुमीळ्हाजमीळ्हौ सौहोत्रौ॥ देवता—अश्विनौ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

सुमति व शक्ति

इहेह यद्वां समना पपृक्षे सेयमस्मे सुमतिर्वाजरत्ना।
उरुष्यतं जरितारं युवं ह श्रितः कामो नासत्या युवद्रिक्॥ ७॥

(१) हे **समना**=(सं अन प्राणने) सम्यक् प्राणित करनेवाले प्राणापानो! **इह इह**=इस जीवन में और इस जीवन में ही **यद्**=जब **वां पपृक्षे**=मैं आपके सम्पर्क में आता हूँ, अर्थात् आपकी साधना में प्रवृत्त होता हूँ, तो **सा इयम्**=वह यह **अस्मे**=हमारी **सुमतिः** कल्याणीमति **वाजरत्ना**=शक्तिरूप रमणीय धनवाली होती है। आपकी साधना से जहाँ मुझे बुद्धि प्राप्त होती है, वहाँ मुझे शक्ति भी मिलती है। (२) **युवम्**=आप दोनों **जरितारम्**=स्तोता को **ह**=निश्चय से **उरुष्यतम्**=रक्षित करो। हे **नासत्या**=सब असत्य को हमारे से दूर करनेवाले प्राणापानो! **कामः**=हमारी इच्छा **युवद्रिक्**=आपकी ओर आनेवाली होती हुई **श्रितः**=हमें प्राप्त होती है, अर्थात् हमें आपकी ही साधना का विचार हो। हम प्राणायाम की रुचिवाले बनते हैं।

भावार्थ—प्राणसाधना से 'सुमति व शक्ति' प्राप्त होती है। सो हमारी कामना यही होती है कि हम प्राणसाधना करनेवाले बनें।

अगला सूक्त भी 'अश्विनौ' का ही है—

[४४] चतुश्चत्वारिंशं सूक्तम्

ऋषिः—पुरुमीळ्हाजमीळ्हौ सौहोत्रौ॥ देवता—अश्विनौ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

पृथुज्रय रथ

तं वां रथं वयमद्या हुवेम पृथुज्रयमश्विना संगतिं गोः।
यः सूर्यां वहति वन्धुरायुर्गिर्वाहसं पुरुतमं वसूयुम् ॥ १॥

(१) हे **अश्विना**=प्राणापानो! **वयम्**=हम **अद्य**=आज **वाम्**=आपके **तं रथम्**=उस शरीररथ की **हुवेम**=पुकार करते हैं=उस शरीररथ को प्राप्त करने की कामना करते हैं, जो कि **पृथुज्रयम्**=बड़े वेगवाला है स्फूर्तियुक्त है, **गो संगतिम्**=ज्ञानकिरणों के मेलवाला है। शक्ति के कारण गतिवाला व प्रकाशमय है। (२) **यः**=जो रथ **सूर्याम्**=सूर्य की दुहिता को—बुद्धि को **वहति**=धारण करता है, **वन्धुरायुः** सब सौन्दर्यों को अपने साथ जोड़नेवाला है। हम उस रथ की कामना करते हैं, जो कि **गिर्वाहसम्**=ज्ञानपूर्वक स्तुतिवाणियों का धारण करता है, **पुरुतमम्**=अत्यन्त पालक व पूरक है, **वसूयुम्**=निवास के लिए आवश्यक सब धनों को अपने में लिये हुए है।

भावार्थ—प्राणसाधना से हमारा शरीर स्फूर्तिमय, ज्ञान के प्रकाशवाला, बुद्धिसम्पन्न, सुन्दर ज्ञानपूर्वक स्तुतिवाणियों को धारण करनेवाला, नीरोग व उत्तम निवासवाला बनता है।

ऋषिः—पुरुमीळहाजमीळ्हौ सौहोत्रौ ॥ देवता—अश्विनौ ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

श्रीसम्पन्नता

युवं श्रियमश्विना देवता तां दिवो नपाता वनथः शचीभिः ।
युवोर्वपुरभि पृक्षः सचन्ते वहन्ति यत्ककुहासो रथे वाम् ॥ २ ॥

(१) हे **दिवः नपाता** ज्ञान को न नष्ट होने देनेवाले, **देवता** (देवते) दिव्यगुणोंवाले **अश्विना** प्राणापानो! **युवम्**-आप **शचीभिः**-अपने कर्मों व प्रज्ञानों द्वारा **तां श्रियम्** उस प्रसिद्ध श्री (शोभा) को **वनथः** विजय करते हो (Win)। प्राणापान ही कर्मेन्द्रियों से कर्म करते हैं तथा ज्ञानेन्द्रियों द्वारा ज्ञान प्राप्त करते हैं। इस प्रकार ये शरीर को शोभासम्पन्न करते हैं। (२) **युवो** आप दोनों के इस **वपुः**-शरीर को **पृक्षः**-सात्त्विक अन्न **अभिसचन्ते** प्रातः सायं सेवन करते हैं। (**अभि** दिन के दोनों ओर प्रातः सायम्)। यह सब तब होता है, **यत्** जब कि **वाम्**-आप दोनों को **ककुहासः** (महन्नाम नि० ३।७) महान् इन्द्रियाश्व **रथे**-इस शरीररथ में **वहन्ति** धारण करते हैं। शरीर में प्राणसाधना होने पर ही अन्न का पाचन हुआ करता है।

भावार्थ—प्राणसाधना से शरीर श्रीसम्पन्न बनता है। प्राणसाधना से ही अन्न का ठीक से पाचन होता है।

ऋषिः—पुरुमीळहाजमीळ्हौ सौहोत्रौ ॥ देवता—अश्विनौ ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

ऊतये-सुतपेयाय

को वामद्या करते रातहव्य ऊतये वा सुतपेयाय वार्कैः ।
ऋतस्य वा वनुषे पूर्व्याय नमो येमानो अश्विना ववर्तत् ॥ ३ ॥

(१) हे **अश्विना**-प्राणापानो! **कः**-कोई विरल पुरुष ही **रातहव्यः**-दिये हैं हव्य पदार्थ जिसने, अर्थात् जो यज्ञशील है, वह **ऊतये** रक्षण के लिए **वा** तथा **सुतपेयाय** सोमपान के लिए **वाम्**-आपकी **अद्या**-आज **अर्कैः** स्तुति मन्त्रों से **करते**-आराधना करता है। स्तुति-मन्त्रों का उच्चारण करते हुए प्राणापान की साधना से जहाँ वासनाओं के आक्रमण से हमारा बचाव होता है, वहाँ शरीर में सोम का रक्षण होता है। हमारी वृत्ति यज्ञों की ओर होती है भोगप्रवृत्ति से हम दूर होते हैं। (२) कोई विरल व्यक्ति ही **नमः येमानः** नम्रता को अपने अन्दर धारण करता हुआ **ऋतस्य**-ऋत के सत्य के **पूर्व्याय वनुषे** (सर्वमुख्य विजय) सर्वोत्तम के लिए **अश्विना** प्राणापानों को **आवर्तत्**-आवृत्त करता है। प्राणायाम करता हुआ अपने अन्दर सत्य को धारण करता है।

भावार्थ—प्राणसाधना द्वारा शरीर का रक्षण होता है, सोम का शरीर में व्यापन होता है और ऋत का हम विजय कर पाते हैं।

ऋषिः—पुरुमीळहाजमीळ्हौ सौहोत्रौ ॥ देवता—अश्विनौ ॥ छन्दः—भुरिक्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

हिरण्यय रथ

हिरण्ययेन पुरुभू रथेनेमं यज्ञं नासत्योप यातम् ।
पिबाथ इन्मधुनः सोम्यस्य दधथो रत्नं विधते जनाय ॥ ४ ॥

(१) हे **पुरुभू** (पृ पालनपूरणयोः) पालक व पूरक होते हुए **नासत्या** अश्विनी देवो प्राणापानो! आप **हिरण्ययेन रथेन** ज्योतिर्मय शरीररथ से **इमं यज्ञम्** हमारे इस जीवनयज्ञ को **उपयातम्** समीपता से प्राप्त होओ। आपकी साधना से हमारा यह शरीर-रथ ज्योतिर्मय व तेजस्वी

बने। इसके द्वारा हम जीवनयज्ञ को सुन्दरता से पूर्ण करनेवाले हों। (२) हे प्राणापानो! आप **इत्** निश्चय से **सोमस्य मधुनः**-इस सोम सम्बन्धी मधु का **पिबाथः**-पान करते हो। सोम को शरीर में ही सुरक्षित करते हो। हे प्राणापानो! आप **विधते जनाय**=परिचर्या करनेवाले उपासक मनुष्य के लिए **रत्नं दधथः**=रमणीय वस्तुओं को धारण करते हो।

भावार्थ--प्राणसाधना से शरीररथ ज्योतिर्मय व तेजस्वी बनता है, सोम का रक्षण होता है तथा शरीर में सब रत्नों का धारण होता है।

ऋषिः—पुरुमीळ्हाजमीळ्हौ सौहोत्रौ॥ देवता—अश्विनौ॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

'हिरण्यय सुवृत्' रथ

आ नो यातं दिवो अच्छा पृथिव्या हिरण्ययेन सुवृता रथेन।
मा वामन्ये नि यमन्देवयन्तः सं यद्ददे नाभिः पूर्व्या वाम्॥ ५॥

(१) हे प्राणापानो! **दिवः पृथिव्याः अच्छा**=द्युलोक व पृथिवीलोक का लक्ष्य करके, अर्थात् मस्तिष्करूप द्युलोक व शरीररूप पृथिवीलोक का ध्यान करके **आ**=हमारे लिए आप **हिरण्ययेन** ज्योतिर्मय **सुवृता** (सुष्ठु वर्तते) तथा बिल्कुल ठीकठाक, अर्थात् सकलांगपूर्ण **रथेन** शरीररथ से **आयातम्** प्राप्त होओ। प्राणापान की साधना ही शरीर-रथ को सुन्दर बनाती है। (२) **अन्ये** दूसरे **देवयन्तः** द्यूत आदि क्रीड़ाओं को करते हुए लोग **वाम्**-आपको **मा नियमन्**-रोकनेवाले न हों, अर्थात् हम अन्य व्यवहारों में उलझकर आपकी साधना को कभी भूल न जाएँ। **यत्** क्योंकि **वाम्**-आपका तो **पूर्व्या**=सर्वमुख्य-सर्वप्रथम **नाभिः**-(नह बन्धने) सम्बन्ध **संददे** मुझे आपके साथ बाँधता है। मेरा सर्वोत्तम सम्बन्ध आपके साथ ही तो है। आत्मा के साथ प्राणों का सम्बन्ध शाश्वत है। प्राणसाधना से ही मस्तिष्क हिरण्यय (ज्योतिर्मय) बनता है तथा शरीर सुवृत् (पूर्ण स्वस्थ) होता है।

भावार्थ—प्राणसाधना द्वारा हमारा शरीर 'हिरण्यय-सुवृत्' हो, ज्योतिर्मय सकलांगपूर्ण।

ऋषिः पुरुमीळ्हाजमीळ्हौ सौहोत्रौ॥ देवता—अश्विनौ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

प्राणायाम व सम्मिलित प्रार्थना

नू नो रयिं पुरुवीरं बृहन्तं दस्रा मिमाथामुभयेष्वस्मे।
नरो यद्वामश्विना स्तोममावन्त्सधस्तुतिमाजमीळ्हासो अग्मन्॥ ६॥

(१) **अस्मे**-हमारे **उभयेषु** दोनों में पुरुमीढ व अजमीढों में रहनेवाली **पुरुवीरम्**-अत्यन्त वीरतावाली **बृहन्तम्** वृद्धि की कारणभूत **रयिम्**-सम्पत्ति को **नु**=निश्चय से, हे **दस्रा**-दुःखों का उपक्षय करनेवाले प्राणापानो! **नः मिमाथाम्**=हमारे लिए बनाओ। हमें वह सम्पत्ति प्राप्त कराओ, जो कि पुरुमीढ व अजमीढों में रहा करती है जो सम्पत्ति हमें वीर बनाती है व हमारी वृद्धि का कारण बनती है। (२) हे **अश्विना** प्राणापानो! **नरः**-उन्नतिपथ पर चलनेवाले लोग **यद्**=जब **वाम्** आपके **स्तोमम्**-स्तवन का **आवन्**-अपने में रक्षण करते हैं, उस समय **आजमीढासः** गति के द्वारा सब बुराइयों को दूर करके सुखों का सेचन करनेवाले (अज गतिक्षेपणयोः, मिह सेचने) ये लोग **सधस्तुतिम्** मिलकर उपासनावृत्ति को **अग्मन्**=प्राप्त होते हैं। ये लोग परिवार में सब के सब एकत्रित होकर प्रभु की उपासनावाले बनते हैं। सब प्राणायाम करते हैं और मिलकर प्रभु का गायन करते हैं।

भावार्थ—हम प्राणायाम करें और मिलकर प्रभु का स्तवन करें। इसी से पुरुवीर-बृहन् रयि को प्राप्त करेंगे।

ऋषिः—पुरुमीळ्हाजमीळ्हौ सौहोत्रौ॥ देवता—अश्विनौ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

सुमतिः वाजरत्ना

इहेह यद्वां समना पपृक्षे सेयमस्मे सुमतिर्वाजरत्ना।
उरुष्यतं जरितारं युवं ह श्रितः कामो नासत्या युवद्रिक्॥ ७॥

मन्त्र की व्याख्या ४३.७ पर द्रष्टव्य है।

अगले सूक्त में भी 'अश्विनौ' का ही वर्णन है—

[४५] पञ्चचत्वारिंशं सूक्तम्

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—अश्विनौ॥ छन्दः—जगती॥ स्वरः—निषादः॥

द्वन्द्व त्रयी

एष स्य भानुरुदियर्ति युज्यते रथः परिज्मा दिवो अस्य सानवि।
पृक्षासो अस्मिन्मिथुना अधि त्रयो दृतिस्तुरीयो मधुनो वि रप्शते॥ १॥

(१) **एषः**-यह **स्यः**-वह प्रसिद्ध (सुपरिचित्) **भानुः** सूर्य **उदियर्ति** उदय होता है और **रथः** हमारा यह शरीररथ **युज्यते** इन्द्रियाश्वों से युक्त किया जाता है। **परिज्मा** यह रथ चारों ओर गतिवाला होता है 'धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष' इन चतुर्विध पुरुषार्थों को सिद्ध करनेवाला होता है। **अस्य दिवः सानवि** यह रथ हमें द्युलोक के शिखर पर पहुँचाता है। हम प्राणसाधना करते हुए ज्ञानाग्नि को दीप्त करते हैं और ज्ञान के शिखर पर पहुँचने के लिए यत्नशील होते हैं। (२) **अस्मिन् अधि** इस शरीर रथ में **त्रयः मिथुनाः** तीन द्वन्द्व **पृक्षासः** सम्पर्कवाले होते हैं (पृची सम्पर्के)। सब से प्रथम द्वन्द्व 'ज्ञाने मौनं' ज्ञान व मौन का है। ज्ञानी होते हुए ये मौन रहते हैं ज्ञान का प्रदर्शन नहीं करते फिरते। द्वितीय द्वन्द्व 'क्षमा शक्तौ' शक्ति व क्षमा का है। विरोधी को कुचलने में समर्थ होते हुए भी ये क्षमा की वृत्तिवाले होते हैं। तृतीय द्वन्द्व 'त्यागे श्लाघाविपर्ययः' त्याग व निरहंकारता का है। त्यागी होते हुए उस त्याग के अहंकार से रहित होते हैं। प्रथम द्वन्द्व का सम्बन्ध मस्तिष्क से है। दूसरे का सम्बन्ध भुजाओं से है और तीसरे का सम्बन्ध हृदय से है। यह **तुरीयः** चौथा **मधुनः दृतिः**-सोम का (वीर्यशक्ति का) आधारभूत चर्मपात्र के समान यह शरीर **विरप्शते**-विशेषरूप से प्रभु के नामों का उच्चारण करता है। शरीर में सोमरक्षण होने पर प्रभुस्तवन की वृत्ति उत्पन्न होती है-उस वृत्ति के प्रबल होने पर यह साधक प्रभु के नामों का जप करने लगता है।

भावार्थ—हमें सूर्योदय होते ही क्रियाशील जीवन को प्रारम्भ करना है। हमारा लक्ष्य है ज्ञान के शिखर पर पहुँचना। हम शरीर में 'ज्ञान-मौन' 'शक्ति क्षमा' त्याग अश्लाघा रूप तीन द्वन्द्वों को धारण करें। शरीर को सोम (वीर्य) का पात्र बनाते हुए प्रभु के नामों का जप करें।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—अश्विनौ॥ छन्दः—भुरिक्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

मधुर व ज्ञानदीप्त जीवन

उद्वां पृक्षासो मधुमन्त ईरते रथा अश्वास उषसो व्युष्टिषु।
अपोर्णुवन्तस्तम आ परीवृतं स्व१र्ण शुक्रं तन्वन्त आ रजः॥ २॥

(१) हे अश्विनौ! प्राणापानो! **वाम्**-आपके **पृक्षासः** सम्पर्कवाले, अर्थात् प्राणसाधना से युक्त हुए हुए और अतएव **मधुमन्तः** माधुर्यवाले **रथाः**-ये शरीर-रथ व **अश्वासः** इन्द्रियाश्व **उषसः**

व्युष्टिषु उषाकालों के उदित होते ही **उदीरते**-उत्कृष्ट गतिवाले होते हैं। जिस समय हम प्राणायाम के अभ्यासी बनते हैं, उस समय शरीर व इन्द्रियाँ निर्दोष होकर जीवन को मधुर बनानेवाली होती हैं। (२) **आ परीवृतम्**-चारों ओर से घिरे हुए **तमः**-अज्ञानान्धकार को **अप ऊर्णुवन्तः** दूर करते हुए ये रथ व अश्व (शरीर व इन्द्रियाँ) **रजः**-हृदयान्तरिक्ष को **स्वः न** सूर्य के समान **शुक्रम्** दीप्त **आतन्वन्तः**-विस्तृत करते हैं। प्राणायाम द्वारा इन्द्रियों के दोष दूर हो जाते हैं 'प्राणायामैर्दहेद् दोषान्'। उस समय निर्मल हृदय ज्ञानदीप्ति से चमक उठता है 'योगाङ्गानुष्ठाद् अशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिराविवेकख्यातेः'।

भावार्थ—प्राणायाम से शरीर व इन्द्रियाँ निर्दोष होकर जीवन को मधुर बनाती हैं और हृदय ज्ञानदीप्ति से चमक उठता है।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—अश्विनौ॥ छन्दः—जगती॥ स्वरः—निषादः॥

मधुमान् रथ

मध्वः पिबतं मधुपेभिरासभिरुत प्रियं मधुने युञ्जाथां रथम्।
आ वर्तनिं मधुना जिन्वथस्पथो दृतिं वहेथे मधुमन्तमश्विना॥ ३॥

(१) हे **अश्विना**=प्राणापानो! आप **मधुपेभिः आसभिः**-सोम (वीर्य) रूप मधु का पान करनेवाले मुखों द्वारा **मध्वः पिबतम्** मधु का (सोम का) पान करो। प्राणायाम के होने पर सोम की शरीर में ऊर्ध्वगति होती है उस समय सब इन्द्रियाँ इस सोम का पान करनेवाली बन जाती हैं। ये इन्द्रियाँ मानो प्राणापान की मुख बनती हैं, इनके द्वारा वे सोम का पान करते हैं। **उत** और इस **प्रियं रथम्**=प्रीति से युक्त (प्रसन्न) शरीर-रथ को **मधुने**-इस सोमरूप मधु की प्राप्ति के लिए **युञ्जाथाम्**-निरन्तर कार्य में लगाए रखो। इस में घोड़े जुते ही रहें यह सदा मार्ग पर आगे और आगे बढ़ता ही रहे। (२) हे प्राणापानो! आप **वर्तनिम्**-इस शरीररूप गृह को तथा **पथः** जीवनमार्गों को **मधुना** सोमरूप मधु से **आ जिन्वथः**-सर्वथा प्रीणित करनेवाले होओ। आप **मधुमन्तम्**-सोमरूप मधु से परिपूर्ण **दृतिम्**-इस शरीररूप चर्मपात्र को **वहेथे**=धारण करते हैं।

भावार्थ—प्राणसाधना से सोमरूप मधु शरीर में ही सुरक्षित रहता है। इससे सारा जीवन मधुर बन जाता है।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—अश्विनौ॥ छन्दः—जगती॥ स्वरः—निषादः॥

कैसे इन्द्रियाश्व?

हंसासो ये वां मधुमन्तो अस्रिधो हिरण्यपर्णा उहुव उषर्बुधः।
उदप्रुतो मन्दिनो मन्दिनिस्पृशो मध्वो न मक्षः सवनानि गच्छथः॥ ४॥

(१) हे अश्विनौ-प्राणापानो! **ये**=जो **वाम्**=आपके **उहुवः**-वहन करनेवाले अश्व हैं, वे हमारे **सवनानि**=जीवनयज्ञ के प्रातःसवन, माध्यन्दिनसवन तथा सायन्तनसवनों में **गच्छथः**=प्राप्त होते हैं। उसी प्रकार प्राप्त होते हैं, **न**-जैसे कि **मक्षः**-मक्खियाँ **मध्वः**=शहद के छत्ते को प्राप्त होती हैं। (२) यहाँ इन्द्रियाँ ही अश्व हैं। ये प्राणापान के इसलिए कहलाते हैं कि प्राणशक्ति ही तो इनमें काम करती है। ये इन्द्रियाश्व **हंसासः**=(हन् हिंसागत्योः) गतिशीलता द्वारा सब बुराइयों का हिंसन करनेवाले हैं। अपने अपने कर्म में लगे रहने से ये विषयों में फँसती नहीं। **मधुमन्तः**-स्वस्थ इन्द्रियाँ जीवन को अत्यन्त मधुर बनानेवाली हैं। **अस्रिधः**=हमारा द्रोह व हिंसन करनेवाली नहीं। **हिरण्यपर्णा**=वीर्य व ज्ञान द्वारा ये हमारा पालन व पूरण करनेवाली हैं। वीर्य द्वारा पालन और

ज्ञान द्वारा पूरण। (हिरण्यं वै वीर्यम्, हिरण्यं वै ज्योतिः)। **उषर्बुधः** ये उषाकाल में ही प्रबुद्ध होनेवाली हैं। (२) ये इन्द्रियरूप अश्व **उदप्रुतः**-वीर्यरूप जल से अपने को सिक्त करनेवाले हैं। **मन्दिनः** अत्यन्त प्रसन्नतावाले हैं और **मन्दिनिस्पृशः** उस आनन्दमय प्रभु में स्पर्श करनेवाले हैं। सोमरक्षण से कर्मेन्द्रियाँ सशक्त बनती हैं और ज्ञानेन्द्रियाँ दीप्त होती हैं।

भावार्थ—प्राणसाधना से इन्द्रियाश्व निष्पाप बनकर (हंस) अन्ततः प्रभु को प्राप्त करानेवाले होते हैं (मन्दिनिस्पृशः)।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—अश्विनौ॥ छन्दः—निचृज्जगती॥ स्वरः—निषादः॥

निक्तहस्त, तरणि व विचक्षण

स्वध्वरासो मधुमन्तो अग्नयं उस्रा जरन्ते प्रति वस्तोरश्विना।
यन्निक्तहस्तस्तरणिर्विचक्षणः सोमं सुषाव मधुमन्तमद्रिभिः॥ ५॥

(१) **स्वध्वरासः**-उत्तम यज्ञमय जीवनवाले, **मधुमन्तः**-माधुर्ययुक्त स्वभाववाले, **अग्नयः** प्रगतिपथ के पथिक लोग **प्रतिवस्तोः**-प्रतिदिन **उस्रा**-दीप्तिवाले (Bright, Shining) अथवा प्रातःकाल के साथ सम्बद्ध (relating to morning) इन **अश्विना**-प्राणापान को **जरन्ते** स्तुत करते हैं। प्राणापान का स्तवन प्राणायाम के द्वारा इनकी साधना ही है। (२) **यत्**-जो **निक्तहस्तः** यज्ञादि कर्मों के कारण शुद्ध हाथोंवाला है, **तरणिः**-सब वासनाओं को तैरनेवाला है और **विचक्षणः**-विशिष्ट द्रष्टा (ज्ञानी) है, वह **अद्रिभिः** उपासनाओं द्वारा **मधुमन्तम्**-माधुर्यवाले **सोमम्** सोम का **सुषाव** अपने में उत्पादन करता है। इस सोम के उत्पादन व रक्षण से ही वस्तुतः वह 'शरीर में निक्तहस्त, मन में तरणि तथा मस्तिष्क में विचक्षण' बन पाता है। इस सोमरक्षण में प्राणसाधना व प्रभु की उपासना साधन बनते हैं।

भावार्थ—हम प्राणसाधना द्वारा 'स्वध्वर, मधुमान् अग्नि' बनें। इस प्रकार सोम का रक्षण करते हुए 'निक्तहस्त, तरणि व विचक्षण' हों।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—अश्विनौ॥ छन्दः—विराड्जगती॥ स्वरः—निषादः॥

आकेनिपासः

आकेनिपासो अहंभिर्दविध्वतः स्वर्ण शुक्रं तन्वन्त आ रजः।
सूरश्चिदश्वान्युयुजान ईयते विश्वाँ अनु स्वधया चेतथस्पथः॥ ६॥

(१) प्राणापान के अश्व, अर्थात् प्राणसाधना करने पर इन्द्रियाश्व **आके निपासः** (आके समीपे निपतन्ति) इधर-उधर भटकनेवाले न होकर समीप प्राप्त होनेवाले होते हैं। **अहभिः** (अह व्याप्तौ) कर्मों में व्यापन द्वारा ये **दविध्वतः**-सब वासनाओं को कम्पित करके दूर करनेवाले होते हैं। **स्वः न** सूर्य की तरह **शुक्रम्**-दीप्त **रजः**-हृदयान्तरिक्ष को **आतन्वन्तः**-विस्तृत करते हुए होते हैं। प्राणसाधना से इन्द्रियाँ निरुद्ध होती हैं वासनाओं से शून्य होती हैं तथा प्रकाश करनेवाली होती हैं। (२) इसलिए **सूरः** ज्ञानी पुरुष **चित्**-निश्चय से **अश्वान्** इन इन्द्रियाश्वों को **युयुजानः** कर्मों में व्यापृत करता हुआ **ईयते** जीवनयात्रा में चलता है। हे प्राणापानो! आप **विश्वान् पथः** सब मार्गों को **स्वधया**-आत्मधारण शक्ति के साथ **अनुचेतथः** अनुकूलता से ज्ञापित करते हो। प्राणसाधना से चित्तवृत्ति का निरोध होता है, आत्मतत्त्व का हम धारण करनेवाले बनते हैं और हृदयस्थ प्रभु की प्रेरणा से हमें कर्त्तव्यमार्गों का ज्ञान होता है।

भावार्थ—प्राणसाधना से इन्द्रियाँ निरुद्ध होकर प्रकाशमय होती हैं। इन इन्द्रियों को यज्ञादि

कर्मों में लगाए रहने से ये मलिन नहीं होतीं। इस समय हमें अन्तःप्रकाश प्राप्त होता है।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—अश्विनौ ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

'स्वश्वः अजरः' रथः

प्र वामवोचमश्विना धियंधा रथः स्वश्वो अजरो यो अस्ति।
येन सद्यः परि रजांसि याथो हविष्मन्तं तरणिं भोजमच्छ॥ ७॥

(१) **धियन्धाः**-प्रज्ञा व कर्मों को धारण करनेवाला मैं, हे **अश्विना**=प्राणापानो! **वाम्** आपकी **प्रवोचम्** प्रकृष्ट स्तुति करता हूँ। आप उस रथ से मुझे प्राप्त होइये, **यः रथा** जो रथ कि **स्वश्वः**-उत्तम इन्द्रियाश्वोंवाला है और **अजरः**-जीर्ण शीर्ण अंगोंवाला नहीं। (२) उस रथ से मुझे प्राप्त होइये, **येन**-जिस से कि **सद्यः**-शीघ्र ही **रजांसि परियाथः**-सब लोकों में आप शीघ्रता से प्राप्त होते हो, अर्थात् जो रथ शीघ्र गतिवाला होता है और सब कर्त्तव्यकर्मों को करने के लिए उस उस स्थान पर पहुँचता है। उस रथ से मुझे प्राप्त होइये, जिससे कि आप **हविष्मन्तम्**-त्यागपूर्वक अदन करनेवाले, **तरणिम्**-अज्ञानान्धकार को दूर करनेवाले सूर्य के समान **भोजम्**-अपना पालन करनेवाले-रोगों से अपने को बचानेवाले व्यक्ति की **अच्छ**-ओर आप प्राप्त होते हो, अर्थात् आपकी साधना से मन में मैं 'हविष्मान्' बनूँ, मस्तिष्क में 'तरणि' होऊँ और शरीर में 'भोज' बनूँ।

भावार्थ—प्राणसाधना से हमारा शरीर-रथ 'उत्तम इन्द्रियाश्वोंवाला व दृढ़ हो'। इस साधना से हम 'हविष्मान्, तरणि व भोज' बनें।

प्राणसाधना से हम जितेन्द्रिय 'इन्द्र' बनते हैं। क्रियाशील होते हैं 'वायु'। 'इन्द्रवायू' ही अगले सूक्त के देवता हैं—

पञ्चमोऽनुवाकः

[४६] षट्चत्वारिंशं सूक्तम्

ऋषिः—वामदेव ॥ देवता—इन्द्रवायू ॥ छन्दः—विराड्गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

क्रियाशीलता द्वारा सोमरक्षण

अग्रं पिबा मधूनां सुतं वायो दिविष्टिषु। त्वं हि पूर्वपा असि॥ १॥

(१) **वायो**-हे गतिशील पुरुष! तू **दिविष्टिषु**=ज्ञानप्राप्ति की एषणाओं के निमित्त, अर्थात् ज्ञानप्राप्ति के लिए **सुतम्**-उत्पन्न हुए-हुए इस **मधूनां अग्रम्**=सारभूत वस्तुओं के सर्वश्रेष्ठ इस सोम को **पिब**-पीनेवाला बन। गतिशीलता द्वारा तू इस सोम का अपने अन्दर रक्षण कर। यह सोम अत्यन्त उत्कृष्ट मधु है। यही ज्ञानाग्नि का ईंधन बनकर तेरी ज्ञानाग्नि को दीप्त करता है। (२) हे वायो! **त्व** तू **हि**-ही **पूर्वपाः असि**-सब से प्रथम इस सोम का पान करनेवाला है। सोमपान का सर्वप्रथम साधन यही है कि हम क्रियाशील बने रहें। इससे वासनाओं से बचे रहेंगे और सोम को रक्षित कर पाएँगे।

भावार्थ—सोमरक्षण के लिए क्रियाशीलता सर्वमुख्य साधन है।

ऋषिः—वामदेव ॥ देवता—इन्द्रवायू ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

'इन्द्र सारथि' बनना

शतेना नो अभिष्टिभिर्नियुत्वाँ इन्द्रसारथिः। वायो सुतस्य तृम्पतम्॥ २॥

(१) हे **वायो**-क्रियाशील जीव! **नियुत्वान्**-प्रशस्त इन्द्रियाश्वोंवाला, **इन्द्रसारथिः**

परमैश्वर्यशाली प्रभु को अपना सारथि बनानेवाला उसके हाथ में जीवन की बागडोर को सौंपनेवाला होता हुआ तू **शतेन अभिष्टिभिः** वासनाओं पर शतशः आक्रमणों द्वारा **नः** हमारे **सुतस्य** उत्पन्न किये हुए सोम का **तृम्पतम्** तृप्तिपूर्वक पान करो। (२) वायु और इन्द्र ने सोम का पान करना है। क्रियाशील व जितेन्द्रिय व्यक्ति ही सोम का रक्षण करते हैं। हम अपने इस जीवन में वासनाओं पर सतत आक्रमण करते हुए प्रशस्त इन्द्रियाश्वोंवाले बनें। प्रभु को अपना सारथि बनाएँ रथ की बागडोर प्रभु को सौंप दें। ऐसा होने पर ही वासनाओं से अनाक्रान्त रहकर हम सोम का रक्षण कर पाएँगे।

भावार्थ—हम वासनाओं पर प्रभुस्तवन द्वारा सतत आक्रमण करें। प्रशस्तेन्द्रिय बनकर सोम का पान करें।

ऋषिः—वामदेव॥ देवता—इन्द्रवायू॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

अभि प्रयः

आ वां सहस्रं हरय इन्द्रवायू अभि प्रयः। वहन्तु सोमपीतये॥ ३॥

(१) हे **इन्द्रवायू** जितेन्द्रिय गतिशील पुरुषो! **वाम्** आपको **हरयः** ये इन्द्रियाश्व **सहस्रम्** आनन्दपूर्वक (स हस्) **प्रयः अभि** अन्न की ओर **आवहन्तु** प्राप्त कराएँ, अर्थात् ये इन्द्रियाश्व प्रसन्नतापूर्वक सात्त्विक भोजन करनेवाले हों। यह भोजन ही सोमरक्षण के लिए अनुकूल होता है। 'प्रयः' शब्द का अर्थ प्रयत्न भी है। ये इन्द्रियाश्व सदा प्रयत्नपूर्वक गतिवाले हों, आलस्य ही तो सोमविनाश का कारण बनता है। (२) ये इन्द्रियाश्व **सोमपीतये** सोमरक्षण के लिए जितेन्द्रिय व क्रियाशील पुरुष को ले चलें। वस्तुतः जितेन्द्रियता और क्रियाशीलता ही सोमरक्षण का साधन बनते हैं।

भावार्थ—हम इन्द्र बनें जितेन्द्रिय व क्रियाशील बनें, वायु। सात्त्विक अन्न का सेवन करते हुए तथा सतत प्रयत्न में लगे हुए हम सोम का रक्षण करनेवाले हों।

ऋषिः—वामदेव॥ देवता—इन्द्रवायू॥ छन्दः—निचृद्गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

'हिरण्यवन्धुर, स्वध्वर व दिविस्पृश्' रथ

रथं हिरण्यवन्धुरमिन्द्रवायू स्वध्वरम्। आ हि स्थाथो दिविस्पृशम्॥ ४॥

(१) हे **इन्द्रवायू**-जितेन्द्रिय व क्रियाशील पुरुषो! आप **हि**-निश्चय से **रथं आस्थाथः** इस शरीररथ पर आरूढ़ होओ, जो शरीररथ **हिरण्यवन्धुरम्** (हिरण्यं वै वीर्यम्) वीर्य को अपने में बाँधनेवाला है अथवा वीर्यबन्धन के कारण जो सुन्दर है। (२) उस शरीररथ पर तुम स्थित होओ, जो कि **स्वध्वरम्**-उत्तम अध्वरोंवाला है, जिसके द्वारा निरन्तर यज्ञात्मक कर्मों का साधन होता है। **दिविस्पृशम्**-जो ज्ञान में स्पर्श करनेवाला है जो ज्ञानदीप्तिवाला है। (२) इस शरीररथ की ये तीन ही विशेषताएँ हैं। प्रथम यह वीर्य के रक्षण से शक्ति सम्पन्न व सुन्दर है, दूसरे सदा अध्वरों को सिद्ध करनेवाला तथा तृतीय स्थान में यह ज्ञान की दीप्तिवाला है।

भावार्थ—इन्द्र और वायु अपने शरीररथ को 'हिरण्यवन्धुर, स्वध्वर व दिविस्पृश्' बनाते हैं।

ऋषिः—वामदेव॥ देवता—इन्द्रवायू॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

जितेन्द्रियता व क्रियाशीलता

रथेन पृथुपाजसा दाश्वांसमुप गच्छतम्। इन्द्रवायू इहा गतम्॥ ५॥

(१) हे **इन्द्रवायू**=जितेन्द्रियता व क्रियाशीलतारूप दिव्यगुणो! आप **पृथुपाजसा** प्रभूत

बलवाले **रथेन** इस शरीर रथ से **दाश्वांसम्**-आप के प्रति अपने को देनेवाले पुरुष को **उपगच्छतम्** समीपता से प्राप्त होओ। इस दाश्वान् के शरीर-रथ को आप बड़ा शक्तिशाली बनाओ। (२) हे इन्द्रवायू! आप **इह**- इसी जीवनयज्ञ में **आगतम्**=हमें प्राप्त होओ। हम इस जीवन में जितेन्द्रिय व क्रियाशील बनें। ऐसा बनने से हमारा यह शरीररथ प्रभूत बलवाला हो।

भावार्थ—जितेन्द्रियता व क्रियाशीलता हमारे शरीर-रथ को अत्यन्त शक्तिशाली बनाते हैं।

ऋषिः—वामदेव॥ देवता—इन्द्रवायू॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

सोमरक्षण से दिव्यगुणों की प्राप्ति

इन्द्र॑वायू अ॒यं सु॒तस्तं दे॒वेभि॑: स॒जोष॑सा। पिब॑तं दा॒शुषो॑ गृ॒हे॥ ६॥

(१) हे **इन्द्रवायू**=जितेन्द्रियता व क्रियाशीलतारूप दिव्य गुणो! **अयं**=यह सोम तुम्हारे लिए **सुतः**-उत्पन्न किया गया है। **तम्**-उस सोम को **देवेभिः सजोषसः**-सब दिव्यगुणों के साथ प्रीतिवाले होते हुए **दाशुषः गृहे**-इस आपके प्रति अपना अर्पण करनेवाले पुरुष के घर में इस शरीररूप गृह में **पिबतम्**-पीनेवाले होइये। (२) इस सोमशक्ति को आप इस शरीर में ही सुरक्षित करिए। जो भी व्यक्ति जितेन्द्रियता व क्रियाशीलता को ही अपने जीवन का ध्येय बना लेता है, वह इस सोमशक्ति का रक्षण कर पाता है। इसके रक्षण से सब दिव्यगुणों की उत्पत्ति होती है।

भावार्थ—जितेन्द्रियता व क्रियाशीलता से सोमरक्षण करते हुए हम अपने जीवन में दिव्यगुणों को उत्पन्न करें।

ऋषिः—वामदेव॥ देवता—इन्द्रवायू॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

इन्द्र वायू का 'प्रयाण व विमोचन'

इ॒ह प्र॒याण॑मस्तु वा॒मिन्द्र॑वायू वि॒मोच॑नम्। इ॒ह वां॒ सोम॑पीतये॥ ७॥

(१) हे **इन्द्र वायू**-जितेन्द्रियता व क्रियाशीलता रूप दिव्य गुणो! **इह**=यहाँ हमारे जीवन में **वाम्**-आपका **प्रयाणं अस्तु**-प्रकृष्ट गमन हो। हमारे जीवन में सब क्रियाएँ आप के उद्देश्य से ही हों। (२) हे इन्द्र वायू! इस जीवन में आपका **विमोचनम्**-सब विषय वासनाओं से छुटकारा हो। आपके कारण हमारे जीवन में कोई भी अशुभ वासना स्थान न पा सके। **इह**=हमारे जीवनों में **सोमपीतये** सोम (वीर्य) रक्षण के लिए **वाम्**-आपका निवास हो। जितेन्द्रिय व क्रियाशील बनकर हम सदा सोमशक्ति का रक्षण करनेवाले बनें।

भावार्थ—हमारे जीवन में सर्वत्र जितेन्द्रियता व क्रियाशीलता का प्रसार हो। इनके द्वारा सब वासनाओं का हमारे से पार्थक्य हो।

अगले सूक्त में भी 'इन्द्रवायू' का ही वर्णन है—

[४७] सप्तचत्वारिंशं सूक्तम्

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—वायुः॥ छन्दः—अनुष्टुप्॥ स्वरः—गान्धारः॥

क्रियाशीलता रूप स्पृहणीय देव

वायो॑ शु॒क्रो अ॑यामि ते॒ मध्वो॒ अग्रं॒ दिवि॑ष्टिषु। आ या॑हि॒ सोम॑पीतये स्पा॒र्हो दे॑व नि॒युत्व॑ता॥ १॥

(१) हे **वायो**=क्रियाशीलता रूप दिव्यगुण! **शुक्रः**=व्रत से दीप्त हुआ हुआ मैं **ते**=तेरे लिए **दिविष्टिषु**-(दिवः एषणेषु) ज्ञानप्राप्ति की कामनाओं के होने पर **अग्रम्**-सर्वप्रथम **मध्वः**=सोम को **अयामि**=आययामि (अयतिरन्तर्भावितण्यर्थः) प्राप्त कराता हूँ। क्रियाशीलता से वासनाओं का आक्रमण न होकर, सोम का रक्षण होता है। इससे ज्ञानाग्नि दीप्त होती है। (२) हे **देव**-क्रियाशीलता-

रूप दिव्यगुण! **स्पार्हः** तू स्पृहणीय है। तू **नियुत्वता**-प्रशस्त इन्द्रियाश्वोंवाले इस शरीर रथ में **सोमपीतये** सोमरक्षण के लिए **आयाहि**-हमें प्राप्त हो। क्रियाशीलता से ही हमें सोमपान के योग्य बनाना है।

भावार्थ—क्रियाशील बनकर हम सोम का रक्षण करें। यह सोम हमें ज्ञान का प्रकाश प्राप्त कराएगा।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—इन्द्रवायू॥ छन्दः—भुरिगुष्णिक्॥ स्वरः—ऋषभः॥

इन्द्रवायू का सोमपान

इन्द्रश्च वायवेषां सोमानां पीतिमर्हथः। युवां हि यन्तीन्दवो निम्नमापो न सध्र्यक्॥ २॥

(१) हे **वायो** क्रियाशीलता रूप देव! तू **च** और **इन्द्रः**-यह जितेन्द्रियतारूप देवसम्राट **एषाम्** इन **सोमानाम्** सोमकणों के **पीतिम्**-पान के **अर्हथः**-योग्य होते हो। क्रियाशीलता व जितेन्द्रियता से ही सोम का रक्षण होता है। (२) **हि** निश्चय से **युवाम्**-आप दोनों को ही **इन्दवः** ये सोमकण **यन्ति**-प्राप्त होते हैं। उसी प्रकार ये सोमकण आपको प्राप्त होते हैं, **न** जैसे कि **आपः** जलकण **सध्र्यक्**-साथ साथ गतिवाले होते हुए **निम्नम्** निम्न प्रदेश को प्राप्त होते हैं। जलों का झुकाव निम्न प्रदेश की ओर होता है, इन सोमकणों का झुकाव जितेन्द्रिय व क्रियाशील पुरुष की ओर होता है।

भावार्थ—जितेन्द्रिय व क्रियाशील बनकर हम सोमकणों के केन्द्र बनें।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—इन्द्रवायू॥ छन्दः—अनुष्टुप्॥ स्वरः—गान्धारः॥

शुष्म व शवस्

वायविन्द्रश्च शुष्मिणा सरथं शवसस्पती। नियुत्वन्ता न ऊतय आ यातं सोमपीतये॥ ३॥

(१) **वायो** हे क्रियाशीलता रूप देव! तू **च**-और **इन्द्रः** यह जितेन्द्रियता रूप देवसम्राट् **सुष्मिणा**-काम-क्रोध आदि शत्रुओं के शोषण के बलवाले हो। **शवसः पती**-शक्ति के स्वामी हो। मानस बल 'शुष्म' है, शरीर बल 'शवस्' है। (२) आप दोनों **सरथम्** इस समान रथ में **नियुत्वन्ता** प्रशस्त इन्द्रियाश्वोंवाले होकर **ऊतये**-रक्षा के लिए **यः** हमें **आयातम्** प्राप्त होइये और **सोमपीतये** सोम (वीर्य) रक्षण के लिये होइये। सोम को शरीर में व्याप्त करते हुए आप हमें 'शुष्म व शवस्' को प्राप्त कराते हैं। इन्द्र का बल 'शुष्म' है। इससे यह काम क्रोध आदि शत्रुओं का शोषण करता है। वायु का बल 'शवस्' है। इससे यह सदा क्रियाशील बना रहता है।

भावार्थ—हम जितेन्द्रिय व क्रियाशील बनकर 'शुष्मी' व 'शवसस्पति' बनें।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—इन्द्रवायू॥ छन्दः—निचृदनुष्टुप्॥ स्वरः—गान्धारः॥

चाहने योग्य इन्द्रियाश्व

या वां सन्ति पुरुस्पृहो नियुतो दाशुषे नरा। अस्मे ता यज्ञवाहसेन्द्रवायू नि यच्छतम्॥ ४॥

(१) हे **नरा** हमें उन्नतिपथ पर ले चलनेवाले **इन्द्रवायू** इन्द्र और वायु! **दाशुषे** आपके प्रति अपना अर्पण करनेवाले पुरुष के लिए **याः** जो **वाम्**-आपके **पुरुस्पृहः** बहुत ही चाहने योग्य **नियुतः** इन्द्रियरूप अश्व **सन्ति**-हैं, **ताः** उन इन्द्रियाश्वों को **अस्मे**-हमारे लिए **नियच्छतम्** प्राप्त कराइये। (२) आप ही **यज्ञवाहसः**-हमारे जीवनयज्ञ को चलानेवाले हैं। जीवन जितेन्द्रियता व क्रियाशीलता से ही सफल होता है। जितेन्द्रियता व क्रियाशीलता से इन्द्रियाश्व सबल बने रहते हैं इनकी सबलता ही हमें लक्ष्य स्थान पर पहुँचाती है।

भावार्थ—जितेन्द्रियता व क्रियाशीलता से हमारे इन्द्रियाश्व सबल बनें।

अगले सूक्त में भी जीव को 'वायु' नाम से स्मरण करते हैं। क्रियाशील बनकर ही तो यह 'जितेन्द्रिय' भी बन पाता है—

[४८] अष्टचत्वारिंशं सूक्तम्

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—वायुः ॥ छन्दः—निचृदनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

'अवीत होत्र' ऐश्वर्य

विहि होत्रा अवीता विपो न रायो अर्यः। वायवा चन्द्रेण रथेन याहि सुतस्य पीतये॥ १॥

(१) **विपः न**-शत्रुओं को कम्पित करनेवाले एक पुरुष के समान **अर्यः**-अपना स्वामी होता हुआ तू **होत्राः**=(होमसाधिकाः) यज्ञों को सिद्ध करनेवाले **अवीताः**=(Not gone away) जिनका विलासों में व्यर्थ ही व्यय नहीं हुआ, ऐसे **रायः**=ऐश्वर्यों का **विहि**-उपभोग कर। तू धनों को प्राप्त कर। परन्तु काम आदि शत्रुओं को कम्पित करके जितेन्द्रिय बनकर तू उन ऐश्वर्यों का यज्ञादि उत्तम कार्यों में ही व्यय कर। ये धन विलास में व्ययित न हों, अवीत बने रहें। (२) हे **वायो**-गतिशील पुरुष तू **चन्द्रेण रथेन**-मनःप्रसाद से युक्त इस शरीर रथ से **आयाहि**=समन्तात् कर्त्तव्यकर्मों में प्रवृत्त हो, ताकि तू **सुतस्य पीतये**-इस उत्पन्न सोम का पान कर सके सोम को शरीर में ही सुरक्षित रख सके।

भावार्थ—हम उन ऐश्वर्यों को प्राप्त करें, जो कि यज्ञादि का साधन बनें-विलासों में व्ययित न हों। सदा प्रसन्नतापूर्वक कर्त्तव्यकर्मों में लगे हुए हम सोम का रक्षण करें।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—वायुः ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

इन्द्रसारथि

निर्युवाणो अशस्तीर्नियुत्वाँ इन्द्रसारथिः। वायवा चन्द्रेण रथेन याहि सुतस्य पीतये॥ २॥

(१) हे **वायो** गतिशील पुरुष! तू **अशस्तीः**-सब अप्रशस्त बातों को **निर्युवाणः**-अपने से पृथक् करता हुआ, **नियुत्वान्**=प्रशस्त इन्द्रियाश्वोंवाला होता हुआ, **इन्द्रसारथिः**-उस परमैश्वर्यशाली प्रभु को अपना सारथि बनाकर, इस **चन्द्रेण**-मनःप्रसादयुक्त **रथेन**-शरीर-रथ से **आयाहि**-कर्त्तव्यों में प्रवृत्त हो, ताकि **सुतस्य पीतये**=तू सोम को शरीर में ही सुरक्षित कर सके। (२) सोमरक्षण के लिये आवश्यक है कि, (क) हम निन्द्य बातों को अपने से दूर करें, (ख) इन्द्रियों को प्रशस्त बनाएँ, (ग) प्रभु को अपने रथ का सारथि बनाएँ। (घ) मनःप्रसाद के साथ सदा क्रिया में लगे रहें।

भावार्थ—अप्रशस्तता से दूर होकर और सदा क्रियाशील बनकर हम सोम का रक्षण करें।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—वायुः ॥ छन्दः—भुरिगनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

'वसुधिती' द्यावापृथिवी

अनु कृष्णे वसुधिती येमाते विश्वपेशसा। वायवा चन्द्रेण रथेन याहि सुतस्य पीतये॥ ३॥

(१) गतमन्त्र के अनुसार प्रभु को सारिथ बनाकर जीवनयात्रा में चलने से हमारे द्यावापृथिवी मस्तिष्क व शरीर **कृष्णे** एक दूसरे को आकृष्ट करनेवाले-परस्पर सम्बद्ध **वसुधिती**-ज्ञान व शक्ति रूप वसुओं को धारण करनेवाले-ब्रह्म व क्षत्र का अपने में समन्वय करनेवाले, **विश्वपेशसा**-सब अंग-प्रत्यंगों का ठीक से निर्माण करनेवाले **अनुयेमाते**=अनुकूलता से संयत होते हैं। मस्तिष्क व शरीर ठीक होने पर, सब ठीक ही रहता है। (२) हे **वायो**=क्रियाशील जीव! तू **चन्द्रेण रथेन**-

मन:प्रमादवाले शरीर रथ से **सुतस्य पीतये** सोमपान के लिए वीर्य के रक्षण के लिए, **आयाहि** समन्तात् कर्त्तव्यों में प्रवृत्त हो। कर्त्तव्यकर्मों में लगे रहने से ही तू शरीर में सोम का रक्षण कर पाएगा।

भावार्थ—हमारे मस्तिष्क व शरीर परस्पर सम्बद्ध व ब्रह्म व क्षत्र का धारण करनेवाले हों।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—वायुः ॥ छन्दः—भुरिगनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

'मत्वा कर्माणि सीव्यति'

वहन्तु त्वा मनोयुजो युक्तासो नवतिर्नव। वायवा चन्द्रेण रथेन याहि सुतस्य पीतये ॥ ४ ॥

(१) हे **वायो** क्रियाशील जीव! **त्वा**-तुझे **मनोयुजः** मन के साथ सम्बद्ध होकर कार्यों में प्रवृत्त होनेवाले, **युक्तासः**-शरीर रथ में जुते हुए अपने कर्त्तव्य कर्मों में प्रवृत्त इन्द्रियाश्व **नवतिर्नव** निन्यानवे वर्षों तक **वहन्तु**-ले चलनेवाले हों, अर्थात् जीवन के अन्तिम क्षणों तक तू क्रियाशील बना रह। (२) **चन्द्रेण रथेन** मन:प्रसादवाले शरीर रथ से तू **आयाहि** समन्तात् कर्त्तव्यकर्मों में प्रवृत्त रह, ताकि **सुतस्य पीतये**-तू सोम का पान कर सके। यह कर्त्तव्यपरायणता हमें वासनाओं से बचाती है और इस प्रकार सोमरक्षण के योग्य बनाती है।

भावार्थ—हम जीवन के अन्तिम क्षणों तक मननपूर्वक कार्यों में प्रवृत्त रहें। 'मत्वा कर्माणि सीव्यति' के अनुसार मनुष्य बनें।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—वायुः ॥ छन्दः—भुरिगनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

शतवर्षपर्यन्त क्रियाशील जीवन

वायो शतं हरीणां युवस्व पोष्याणाम्। उत वा ते सहस्रिणो रथ आ यातु पाजसा ॥ ५ ॥

(१) हे **वायो** क्रियाशील जीव! **पोष्याणाम्**-जिनका उत्तमता से पोषण किया गया है, ऐसे **हरीणाम्** इन्द्रियाश्वों को **शतम्** शतवर्षपर्यन्त **युवस्व** तू शरीर रथ में जोतनेवाला हो। अन्त तक तेरी इन्द्रियाँ शक्तिशाली हों और तू क्रियाशील जीवनवाला हो। (२) **उत वा**-और निश्चय से **ते** तेरा **सहस्रिणः रथः** (स हस्) सदा प्रसन्नता से युक्त यह शरीर रथ **पाजसा** शक्ति से युक्त हुआ हुआ **आयातु** सदा क्रिया में प्रवृत्त रहे और लक्ष्य स्थान पर पहुँचनेवाला हो।

भावार्थ—हम शतवर्षपर्यन्त शक्ति सम्पन्न होते हुए (पाजसा), प्रसन्नतापूर्वक (सहस्रिणः) क्रियाओं में प्रवृत्त रहें सदा कर्त्तव्यकर्मों के करने में लगे रहें।

हम अपने जीवन का लक्ष्य 'इन्द्राबृहस्पती' को बनाएँ। 'सर्वाणि बलकर्माणि इन्द्रस्य' शक्तिशाली हों तथा बृहस्पति ब्रह्मणस्पति ज्ञान के स्वामी बनें। इन्हीं का उल्लेख अगले सूक्त में है—

[४९] एकोनपञ्चाशं सूक्तम्

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्राबृहस्पती ॥ छन्दः—निचृद्गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

हवि, उक्थ व मद

इदं वामास्ये हविः प्रियमिन्द्राबृहस्पती। उक्थं मदश्च शस्यते ॥ १ ॥

(१) हे **इन्द्राबृहस्पती**-शक्ति व ज्ञान का ऐश्वर्य प्राप्त करनेवाले व्यक्तियो! **इदम्** यह **वाम्** आपके **आस्ये** मुख में **प्रियम्**-प्रीतिकारक **हविः** यज्ञशेष के रूप में सात्त्विक अन्न **शस्यते** प्रशंसा के योग्य होता है। 'आप यज्ञशेष' का सेवन करते हो। वस्तुत: यह यज्ञशेष का सेवन ही आपको शक्ति व ज्ञान का ऐश्वर्य प्राप्त कराता है। (२) **उक्थम्** आप से किया जानेवाला

यह प्रभु का स्तवन प्रशंसनीय होता है। यह स्तवन ही आपको संसार के विषयों में फँसने से बचाता है। **च**-और **मदः** आपका यह उल्लास शंसनीय होता है। आप सात्त्विक अन्न के सेवन व स्तवन से उल्लासमय जीवनवाले बनते हैं।

भावार्थ—यदि हम सात्त्विक अन्न के सेवन व प्रभुस्तवन को अपनाएँगे तो उत्साहमय जीवनवाले बनकर 'इन्द्र' (शक्तिशाली) व 'बृहस्पति' (ज्ञानी) बनेंगे।

ऋषिः—**वामदेवः** ॥ देवता—**इन्द्राबृहस्पती** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

चारुर्मदाय पीतये

अयं वां परि षिच्यते सोम इन्द्राबृहस्पती। चारुर्मदाय पीतये॥ २॥

(१) हे **इन्द्राबृहस्पती**=शक्ति व ज्ञान के ऐश्वर्यवाले व्यक्तियो! **अयं सोमः**-यह सोम (वीर्य) **वाम्** आपके शरीरों में **परिषिच्यते**=अंग प्रत्यंग में सिक्त होता है। इसका शरीर में ही व्यापन होता है। (२) **चारुः**-यह शरीर में सिक्त हुआ-हुआ सोम सुन्दर होता है-यह जीवन को सुन्दर बनाता है। **मदाय** यह जीवन में उल्लास का कारण बनता है। **पीतये**-यह रक्षण के लिए होता है। शरीर में रक्षित हुआ-हुआ यह शरीर के रक्षण का हेतु होता है।

भावार्थ—शरीर में सुरक्षित सोम हमारे जीवन को सुन्दर उल्लासमय व रोगों से अनाक्रान्त बनाता है।

ऋषिः—**वामदेवः** ॥ देवता—**इन्द्राबृहस्पती** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

इन्द्र और बृहस्पति

आ न इन्द्राबृहस्पती गृहमिन्द्रश्च गच्छतम्। सोमपा सोमपीतये॥ ३॥

(१) **इन्द्राबृहस्पती**-शक्ति व ज्ञान के देवता **इन्द्रः च**-और वे परमैश्वर्यशाली प्रभु **नः**-हमारे **गृहम्**-इस शरीररूप गृह में **आगच्छतम्**-आएँ। हमारा लक्ष्य शक्ति व ज्ञान का सम्पादन हो। तथा इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए हम प्रभु की उपासना करें। (२) **सोमपा**-(सोमपौ) ये इन्द्र और बृहस्पति सोम का पान करनेवाले हैं। जब हम शक्ति व ज्ञानप्राप्ति को अपना लक्ष्य बनाते हैं, तो हम सोम (वीर्य) का रक्षण करने में समर्थ होते हैं। सो ये इन्द्र और बृहस्पति **सोमपीतये**=इस सोमपान (रक्षण) के लिए हमें यहाँ शरीरगृह में प्राप्त हों।

भावार्थ—शक्ति व ज्ञानप्राप्ति को जीवन का ध्येय बनाने से सोम (वीर्य) का पान सुगम हो जाता है।

ऋषिः—**वामदेवः** ॥ देवता—**इन्द्राबृहस्पती** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

'शतग्विनम् अश्वावन्तं सहस्त्रिणम्'

अस्मे इन्द्राबृहस्पती रयिं धत्तं शतग्विनम्। अश्वावन्तं सहस्त्रिणम्॥ ४॥

(१) **इन्द्राबृहस्पती**-शक्ति व ज्ञान के अधिष्ठातृदेव **अस्मे**=हमारे लिए **रयिं धत्तम्**=ऐश्वर्य को धारण करें। उस ऐश्वर्य का, जो कि **शतग्विनम्**=शतवर्षपर्यन्त ठीक कार्य करनेवाला ज्ञानेन्द्रियोंवाला है। जो ऐश्वर्य **अश्वावन्तम्**=प्रशस्त कर्मेन्द्रियोंवाला है तथा **सहस्त्रिणम्**-जो (स+हस्) आनन्द से युक्त है। (२) शक्ति व ज्ञान की प्राप्ति को अपना लक्ष्य बनाने पर हम उत्तम ज्ञानेन्द्रियों, उत्तम कर्मेन्द्रियों व आनन्द को प्राप्त करते हैं। ये ही वस्तुतः हमारे विज्ञानमय, मनोमय व आनन्दमय कोश के धन हैं।

भावार्थ—'शक्ति व ज्ञान' प्राप्ति का लक्ष्य हमारे सब कोशों को उत्तम बनाने में सहायक होता है।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्राबृहस्पती ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

सोम का सम्पादन व रक्षण

इन्द्राबृहस्पती वयं सुते गीर्भिर्हवामहे। अस्य सोमस्य पीतये ॥ ५ ॥

(१) **वयम्**=हम **सुते**-सोम के उत्पादन के होने पर **गीर्भिः**-स्तुतिवाणियों द्वारा **इन्द्राबृहस्पती**-शक्ति व ज्ञान के अधिष्ठातृदेवों को **हवामहे**=पुकारते हैं। सोम ही शरीर में सुरक्षित होकर शक्ति का वर्धन करता है और यही ज्ञानाग्नि का भी ईंधन बनता है। (२) हम इन्द्र और बृहस्पति को **'अस्य सोमस्य पीतये'**-इस सोमपान के लिए पुकारते हैं। वस्तुतः इन दोनों देवों का आराधन ही हमें सोमपान के योग्य बनाता है।

भावार्थ—सोम के सम्पादन व रक्षण के लिए हम 'इन्द्र व बृहस्पति' के उपासक बनते हैं, शक्ति व ज्ञान प्राप्ति को अपना लक्ष्य बनाते हैं।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्राबृहस्पती ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

आनन्दमय जीवन

सोममिन्द्राबृहस्पती पिबतं दाशुषो गृहे। मादयेथां तदोकसा ॥ ६ ॥

(१) हे **इन्द्राबृहस्पती**-शक्ति व ज्ञान के अधिष्ठातृदेवो! आप **दाशुषः**=आपके प्रति अपने को दे डालनेवाले के **गृहे**=शरीरगृह में **सोमं पिबतम्**=सोम का पान करो। जो व्यक्ति शक्ति व ज्ञान की प्राप्ति में जुट जाता है, वह सोम का रक्षण कर पाता है। (२) हे इन्द्राबृहस्पती! **तदोकसा**-सोमरक्षणवाले शरीररूप गृह के स्वामी होते हुए आप **मादयेथाम्** हमें आनन्दयुक्त जीवनवाला करिए। वस्तुतः शक्ति-सम्पन्न ज्ञानयुक्त जीवन आनन्दवाला होता ही है। सोमरक्षण इस जीवन का साधन बनता है।

भावार्थ—हम शक्ति व ज्ञान का सम्पादन करके आनन्दयुक्त जीवनवाले हों।

अगले सूक्त में भी 'बृहस्पति' का मुख्यतया उल्लेख है। समाप्ति पर उसके साथ इन्द्र का भी उल्लेख होगा—

[५०] पञ्चाशं सूक्तम्

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—बृहस्पतिः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

प्रभु के गुणों का धारण

यस्तस्तम्भ सहसा वि ज्मो अन्तान्बृहस्पतिस्त्रिषधस्थो रवेण।
तं प्रत्नास ऋषयो दीध्यानाः पुरो विप्रा दधिरे मन्द्रजिह्वम् ॥ १ ॥

(१) **यः**-जो **ज्मः अन्तान्**-पृथिवी के अन्तों को, दसों दिशाओं को **सहसा**-शक्ति से **वितस्तम्भ**-थामता है। **बृहस्पतिः**-जो ब्रह्मणस्पति है सब ज्ञानों का स्वामी है। **रवेण**='निस्तोवाच उदीरते हरिरेति कनिक्रदत' ज्ञान, कर्म व उपासना की वाणियों से **त्रिषधस्थः**-पृथिवी, अन्तरिक्ष व द्युलोक रूप तीनों लोक में स्थित है-सर्वत्र इन वाणियों का प्रसार कर रहा है। (२) **तम्**-उस **मन्द्रजिह्वम्**-अत्यन्त मधुर जिह्वावाले-मधुरता से ज्ञानोपदेश करनेवाले प्रभु को **पुरःदधिरे** अपने सामने धारण करते हैं-उसे आदर्श के रूप में अपने सामने स्थापित करते हैं। उसके गुणों को अपना

आदर्श बनाकर उन्हें धारण करने के लिए यत्नशील होते हैं। एक तो '**प्रत्नासः ऋषयः**'- पुराणे, अर्थात् बड़ी आयु के तत्त्वज्ञानी पुरुष! फिर **दीध्यानाः** ज्ञानदीप्ति से दीप्त होनेवाले पुरुष तथा **विप्राः** अपना विशेषरूप से पूरण करनेवाले पुरुष। ये सब उस प्रभु को अपना लक्ष्य बनाकर तदनुसार अपना जीवन बनाने का प्रयत्न करते हैं।

भावार्थ—ऋषि व विप्र लोग प्रभु को अपना लक्ष्य बनाकर उसके गुणों को अपने में धारण करने के लिये यत्न करते हैं।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—बृहस्पतिः॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

स्वाध्याय व दोषनिवारण

धुनेतयः सुप्रकेतं मदन्तो बृहस्पते अभि ये नस्ततस्त्रे।
पृषन्तं सृप्रमदब्धमूर्वं बृहस्पते रक्षतादस्य योनिम् ॥ २॥

(१) हे **बृहस्पते**=ज्ञान के स्वामिन् प्रभो! **ये**=जो **नः**=हमारे में से **धुनेतयः**=(धुना ईतिर्येषां) शत्रुओं को कम्पित करनेवाली गतिवाले, **सुप्रकेतं मदन्तः**-उत्कृष्ट ज्ञान के साथ आनन्द का अनुभव करते हुए **अभिततस्त्रे**- प्रातः-सायं दोनों समय दोषों को अपने से दूर फेंकते हैं (reject, cast), **अस्य** हमारे में से इस मनुष्य के **योनिम्**-इस बुराइयों के अमिश्रण व अच्छाइयों के मिश्रण के प्रयत्न की **रक्षतात्**-आप रक्षा करें। (२) यह योनि ही **पृषन्तम्**=सब सुखों का सेचन करनेवाली है। **सृप्रम्** इसे निरन्तर अग्रगति करानेवाली है। **अदब्धम्**=अहिंसित है-इसे हिंसित नहीं होने देती और **ऊर्वम्** विशाल है। इस प्रातः सायं दोषनिराकरण के कार्य से ही इसका जीवन सुखसिक्त, अग्रगतिवाला, अहिंसित तथा विशाल बनता है।

भावार्थ—हम प्रातः-सायं स्वाध्याय में आनन्द लेते हुए दोष-निराकरण के लिए यत्नशील हों। प्रभु कृपा करेंगे और हमारा यह कार्य हमारे लिए सुखवर्षक-उन्नतिकारक, अहिंसक व हमें विशाल बनानेवाला होगा।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—बृहस्पतिः॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

यज्ञशीलता से स्वर्गप्राप्ति

बृहस्पते या परमा परावदत आ त ऋतस्पृशो नि षेदुः।
तुभ्यं खाता अवता अद्रिदुग्धा मध्वः श्चोतन्त्यभितो विरप्शम्॥ ३॥

(१) हे **बृहस्पते**-सर्वोच्च दिशा के अधिपते! परमात्मन्! **या**-जो **ते**=आपके **परावत् परमा**-सुदूर से सुदूर देश से भी उत्कृष्ट स्थान हैं, उनमें **ऋतस्पृशः**=(ऋतं-यज्ञ) यज्ञों के सम्पर्कवाले यज्ञशील पुरुष **आनिषेदुः**-आसीन होते हैं। पृथ्वीलोक से ऊपर अन्तरिक्षलोक है, अन्तरिक्ष से ऊपर द्युलोक है। यह द्युलोक ('दिवो नाकस्य पृष्ठात्') स्वर्गलोक का पृष्ठ है। इस स्थान पर यज्ञशील पुरुष ही पहुँचते हैं। (२) **तुभ्यम्**=तेरी प्राप्ति के लिए **अद्रिदुग्धाः**- उपासना द्वारा अपने अन्दर पूरित हुए-हुए **मध्वः**=सोमकण **अभितः विरप्शम्**=दोनों ओर महान् शब्दराशि को (रप् व्यक्तायां वाचि) **श्चोतन्ति**=क्षरित करते हैं। अपरा विद्या की शब्दराशि ही प्रकृतिविद्या है और पराविद्या की शब्दराशि आत्मविद्या है। जब सोमकणों का हम रक्षण करते हैं, तो ये दोनों ही विद्याएँ हमें प्राप्त होती हैं। एक इहलोक को सुन्दर बनाती है, तो दूसरी परलोक को ('अभितः') शब्द इसी भाव का द्योतक है। ये सोमकण **खाताः अवताः**=खोदे गये कुओं के समान हैं। ये कुएँ जलराशि को प्राप्त कराते हैं और ये सोमकण ज्ञान की जलराशि को प्राप्त करानेवाले हैं।

भावार्थ—यज्ञशील बनकर हम स्वर्ग में स्थित होते हैं। शरीर में सुरक्षित सोमकण हमें ज्ञानजलराशि को प्राप्त कराते हैं। उसमें स्नान करके हम प्रभु को प्राप्त करनेवाले होते हैं।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—बृहस्पतिः ॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

सप्तास्यः-सप्तरश्मिः

बृहस्पतिः प्रथमं जायमानो महो ज्योतिषः परमे व्योमन्।
सप्तास्यस्तुविजातो रवेण वि सप्तरश्मिरधमत्तमांसि ॥ ४ ॥

(१) **बृहस्पतिः**-यह ज्ञान का स्वामी प्रभु **परमे व्योमन्**-उत्कृष्ट हृदयाकाश में **महः ज्योतिषः** महान् ज्ञान-ज्योति से **प्रथमं जायमानः**-विस्तार के साथ प्रादुर्भूत होता हुआ **रवेण** ज्ञानवाणियों के उच्चारण से **तमांसि**-अन्धकारों को **वि अधमत्**-विनष्ट करता है। हृदय में प्रभु का प्रकाश होते ही सब अन्धकार विनष्ट हो जाता है। (२) ये प्रभु **सप्तास्यः** सात छन्दों से बनी हुई वेदवाणीरूप सात मुखोंवाले हैं। **तुविजातः**-महान् प्रादुर्भाववाले हैं, **सप्तरश्मिः** सात रश्मियोंवाले सूर्य की तरह ये प्रभु सात छन्दोरूप वेदवाणी रूप सात रश्मियोंवाले हैं। इन सात रश्मियों से ही ये प्रभु 'भूः, भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः व सत्यम्' इन सात लोकों को प्रकाशित करते हैं।

भावार्थ—प्रभु ज्योतिर्मय हैं। सप्त छन्दोमयी वेदवाणियाँ ही प्रभु के सात मुख हैं। ये ही प्रभुरूप सूर्य की सात रश्मियाँ हैं। इनके द्वारा प्रभु हमारे अज्ञानान्धकार को नष्ट करते हैं।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—बृहस्पतिः ॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

वलासुर का विनाश

स सुष्टुभा स ऋक्वता गणेन वलं रुरोज फलिगं रवेण।
बृहस्पतिरुस्रिया हव्यसूदः कनिक्रदद्वावशतीरुदाजत् ॥ ५ ॥

(१) **सः** वह **बृहस्पतिः** ज्ञान के स्वामी प्रभु **सुष्टुभा** उत्तम स्तुतियोंवाले **गणेन** मन्त्र समूह से तथा **सः** वे प्रभु **ऋक्वता**-ऋचाओंवाले-विज्ञानवाले **गणेन**-मन्त्रसमूह से **वलं रुरोज** ज्ञान के आवरणभूत (veil) इस वल नामक असुर को **रुरोज**-विनष्ट करते हैं। **रवेण** हृदयस्थरूपेण इन ज्ञानवाणियों के उच्चारण से **फलिगम्** विशीर्णता की ओर ले जाने (फल विशरणे) वाली आसुरवृत्ति को विनष्ट करते हैं। ज्ञान द्वारा प्रभु हमारे में उत्तम वृत्तियों को उत्पन्न करके हमारा कल्याण करते हैं। (२) **बृहस्पतिः**-वे ज्ञान के स्वामी प्रभु **हव्यसूदः** सब हव्यपदार्थों को पवित्र यज्ञिय पदार्थों को प्राप्त करानेवाली **वावशतीः**-हमारा अत्यन्त हित चाहती हुई **उस्रियाः** ज्ञान रश्मियों को **उदाजत्**-हमारे में उत्कर्षेण प्रेरित करते हैं। इन ज्ञानरश्मियों को प्राप्त करके ही हम इस संसार में अयज्ञिय बातों से दूर रहकर अपना हित सिद्ध कर पाते हैं।

भावार्थ—प्रभु ज्ञानवाणियों द्वारा ज्ञान की आवरणभूत वासना को विनष्ट करते हैं। सब विशीर्ण करनेवाली आसुरवृत्तियों को विनष्ट करते हैं। हव्य पदार्थों की ओर हमारा झुकाव होता है।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—बृहस्पतिः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

यज्ञैः नमसा हविर्भिः

एवा पित्रे विश्वदेवाय वृष्णे यज्ञैर्विधेम नमसा हविर्भिः।
बृहस्पते सुप्रजा वीरवन्तो वयं स्याम पतयो रयीणाम्॥ ६॥

(१) गतमन्त्र के अनुसार वलासुर को विनष्ट करके हम **एवा**-सचमुच उस **पित्रे** पालक **विश्वदेवाय**-सब दिव्यगुणों के पुञ्ज **वृष्णे**-शक्तिशाली व सुखवर्षक प्रभु के लिए **यज्ञैः** श्रेष्ठतम कर्मों से, **नमसा** उन कर्मों के अहंकार को छोड़कर नम्रभाव से **हविर्भिः**-सदा दानपूर्वक अदन से **विधेम**=पूजा को करें। (२) हे **बृहस्पते**=ज्ञान के स्वामिन् प्रभो! इस प्रकार आपका यज्ञों, नमन व हवियों से पूजन करते हुए **वयम्**-हम **सुप्रजाः**-उत्तम प्रजाओंवाले **वीरवन्तः**-वीरत्व की भावनावाले तथा **रयीणां पतयः**-धनों के स्वामी (न कि दास) **स्याम**-हों।

भावार्थ—यज्ञों, नम्रता व हवियों से प्रभुपूजन करते हुए हम 'उत्तम सन्तान, वीरता व धन का स्वामित्व' प्राप्त करें। यज्ञों से उत्तम प्रजा को प्रभु के प्रति नमन से वीरता को तथा हवियों से धन के स्वामित्व को प्राप्त करनेवाले हों।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—बृहस्पतिः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

प्रतिजन्य-धनों का धारण

स इद्राजा प्रतिजन्यानि विश्वा शुष्मेण तस्थावभि वीर्येण।
बृहस्पतिं यः सुभृतं बिभर्ति वल्गूयति वन्दते पूर्वभाजम्॥ ७॥

(१) **सः**-वह बृहस्पति का उपासक **इत्**-ही **राजा** दीप्त जीवनवाला होता है। **विश्वा** सब **प्रतिजन्यानि**-प्रत्येक जन के लिए हितकर, अर्थात् व्यक्ति सम्बद्ध धनों का **अभितस्थौ** अपने में धारण करनेवाला बनता है। **शुष्मेण** शत्रुशोधक बलों द्वारा यह मानस धनों को प्राप्त करता है और **वीर्येण** वीर्यशक्ति द्वारा रोगकृमियों को नष्ट करके शारीरिकधनों का अधिष्ठाता बनता है। (२) इन प्रतिजन्य धनों को वही प्राप्त कर पाता है, **यः**-जो कि **सुभृतम्**-(सुष्ठु भृतं यस्मात्) उत्तम भरण करनेवाले **बृहस्पतिम्**-उस सर्वज्ञ प्रभु को **बिभर्ति**=अपने हृदय में धारण करता है, **वल्गूयति**=उसके ही स्तुति-वचनों का उच्चारण करता है और **पूर्वभाजम्**=सब से प्रथम सेवनीय उस बृहस्पति का ही **वन्दते**=अभिवादन करता है।

भावार्थ—प्रभु का आराधक ही प्रतिजन्यधनों को प्राप्त करता है और यह शुष्म व वीर्य-सम्पन्न होकर मानस व शारीरिक बलों का धारण करता है।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—बृहस्पतिः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

'ब्राह्मण का आदर करनेवाला' राजा

स इत्क्षेति सुधित ओकसि स्वे तस्मा इळा पिन्वते विश्वदानीम्।
तस्मै विशः स्वयमेवा नमन्ते यस्मिन्ब्रह्मा राजनि पूर्व एति॥ ८॥

(१) **सः**-वह **इत्**-ही राजा **सुधितः**=उत्तमता से तृप्त हुआ-हुआ (Satisfied) **स्वे ओकसि** अपने गृह में **क्षेति**-निवास करता है, अर्थात् उसी का जीवन शान्तिपूर्वक बीतता है। **तस्मै**-उसी के लिए **इडा**-यह पृथिवी **विश्वदानीम्**-सदा **पिन्वते**=अन्न आदि से प्रीणन (प्रीति) करनेवाली होती है, अर्थात् इसके राज्य में कभी अकाल आदि की पीड़ा नहीं होती। तथा

तस्मै उसके लिए **विशः**-प्रजाएँ **स्वयं एव**-अपने आप ही **आनमन्ते**-नम्र होती हैं-झुकनेवाला होती हैं उपद्रव आदि की भावना से शून्य होती हैं। **यस्मिन् राजनि**-जिस राजा में **ब्रह्मा**-ज्ञानी ब्राह्मण **पूर्वः एति**-पहले चलनेवाला होता है, अर्थात् जिसके राज्य में ब्राह्मण को प्रथम स्थान प्राप्त होता है जो राजा उन ब्राह्मणों से दिये गये परामर्श के अनुसार चलता है। (२) ब्राह्मण के परामर्श से सब कार्यों को करनेवाले राजा के राज्य में, (क) अशान्ति नहीं होती, (ख) अकाल नहीं पड़ते तथा (ग) प्रजाएँ सदा स्वयमेव कर आदि देती हुई उपद्रव की भावना से दूर होती हैं।

भावार्थ—राष्ट्र में ब्राह्मण का आदर होने पर अध्यात्म, अधिदैव तथा अधिभूत सम्बन्धी कोई कष्ट नहीं होता।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—बृहस्पतिः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

देवों से रक्षित होनेवाला राजा

अप्रतीतो जयति सं धनानि प्रतिजन्यान्युत या सजन्या।
अवस्यवे यो वरिवः कृणोति ब्रह्मणे राजा तमवन्ति देवाः ॥ ९ ॥

(१) **अप्रतीतः**-शत्रुओं से प्रतिरुद्ध न किया गया हुआ वह राजा **धनानि**-उन सब धनों को **संजयति**-सम्यक् जीतता है , जो धन **प्रतिजन्यानि**-प्रत्येक व्यक्ति से अर्जन के योग्य हैं, **उत या** और जो **सजन्या** समाज के लिए हितकर हैं अथवा मिलकर कमाने योग्य हैं, अर्थात् वैयक्तिक व सामाजिक धनों का वह विजेता बनता है। (२) **यः राजा**-जो राजा **अवस्यवे** रक्षण की कामनावाले **ब्रह्मणे** ज्ञानीपुरुष के लिए **वरिवः कृणोति** धनों को देता है, **तम्** उस राजा की **देवाः** सब देव **अवन्ति**-रक्षा करते हैं। ब्राह्मणों का आदर करनेवाले इस राजा के राज्य में आधिदैविक कष्ट नहीं आते।

भावार्थ—ब्राह्मणों का आदर करनेवाला राजा 'प्रतिजन्य व सजन्य' धनों का विजेता होता है और सब देव उसका रक्षण करते हैं।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रा बृहस्पतिः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

ब्राह्मण+क्षत्रिय (बृहस्पति+इन्द्र)

इन्द्रश्च सोमं पिबतं बृहस्पतेऽस्मिन्यज्ञे मन्दसाना वृषण्वसू।
आ वां विशन्त्विन्दवः स्वाभुवोऽस्मे रयिं सर्ववीरं नि यच्छतम् ॥ १० ॥

(१) **अस्मिन् यज्ञे** इस राष्ट्र-यज्ञ में हे **बृहस्पते**-ज्ञान के स्वामिन् ब्राह्मण! तू **च इन्द्रः**-और बल के कर्मों को करनेवाला इन्द्र (राजा) दोनों ही **सोमं पिबतम्**-सोम का पान करनेवाले होओ। **मन्दसाना** तुम दोनों हर्ष का अनुभव करो और **वृषण्वसू**-शक्तिशाली धनवाले व प्रजा पर धन की वर्षा करनेवाले होओ। (२) **वाम्**-आप दोनों को **इन्दवः**-ये सोमकण **आविशन्तु**-आविष्ट हों, जो कि **स्वाभुवः**-(सुष्ठु सर्वतो भवन्ति) सम्यक् सब अंगों में व्याप्त होनेवाले हैं। आप **अस्मे** हम सब के लिए **सर्ववीरम्**-सब वीरताओं से युक्त **रयिम्**-धन को **नियच्छतम्**-देनेवाले होइये।

भावार्थ—राष्ट्र में ब्राह्मण व क्षत्रिय सोम का (वीर्य का) रक्षण करनेवाले हों। ऐसे ही ब्राह्मण व क्षत्रिय (पुरोहित व राजा) प्रजाओं को आनन्दित व धन्य बना सकते हैं।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रा बृहस्पतिः ॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

राज कर्त्तव्य

बृहस्पत इन्द्र वर्धतं नः सचा सा वां सुमतिर्भूत्वस्मे।
अविष्टं धियो जिगृतं पुरन्धीर्जजस्तमर्यो वनुषामरातीः॥ ११॥

(१) हे **बृहस्पते**-ज्ञानी ब्राह्मण! **इन्द्र**=शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले क्षत्रिय! आप **सचा**-मिलकर **नः वर्धतम्**=हमें बढ़ानेवाले होइये। **वाम्**=आपकी **सा सुमतिः**=वह कल्याणीमति **अस्मे भूतु**=हमें प्राप्त हो। आपका प्रजा-रक्षण का शुभ विचार सदा बना रहे। हम आपके अशुभ विचार के शिकार न हो जाएँ। (२) आप दोनों मिलकर **धियः अविष्टम्**=हमारे कर्मों का रक्षण करें। **पुरन्धीः** शरीररूप नगरियों का धारण करनेवाली बुद्धियों को **जिगृतम्**=जगाओ और **वनुषाम्**-सम्भजन करनेवाले हम लोगों के **अर्यः**=(गंत्रीः) आक्रमण करनेवाले **अरातीः**-शत्रुओं को **जजस्तम्**=(क्षपयतम्) नष्ट करनेवाले होइये।

भावार्थ—पुरोहित व राजा मिलकर राष्ट्र का रक्षण करें। वे प्रजाओं के उत्तम कर्मों का रक्षण करें, प्रजाओं में पालक बुद्धि को पैदा करने का प्रयत्न करें। शत्रुओं के आक्रमण से प्रजाओं का रक्षण करें।

ऐसे राष्ट्र में सदा उत्तम उषाओं का प्रादुर्भाव होता है। उस उषा का वर्णन अगले सूक्त में करते हैं—

[५१] एकपञ्चाशं सूक्तम्

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—उषाः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

पालक व प्रज्ञापक ज्योति

इदमु त्यत्पुरुतमं पुरस्ताज्ज्योतिस्तमसो वयुनावदस्थात्।
नूनं दिवो दुहितरो विभातीर्गातुं कृणवन्नुषसो जनाय॥ १॥

(१) **इदम्**-यह **उ**=निश्चय से **त्यत्**-वह प्रसिद्ध **पुरुतमम्**=अतिशयेन पालक व पूरक **वयुनावत्**-अतिप्रशस्त प्रज्ञानवाली (प्रशस्त कान्तिवाली) **ज्योतिः**=ज्योति **पुरस्तात्**=पूर्व दिशा में **तमसः उद् अस्थात्**-अन्धकार को विनष्ट करके उठ खड़ी हुई है। (२) **नूनम्**=निश्चय से **दिवः दुहितरः**-ज्ञान का पूरण करनेवाली **विभातीः**=चमकती हुई **उषसः**-उषाएँ **जनाय**=लोगों के लिए **गातुं कृणवन्**=मार्ग को करती हैं। ये उषायें अन्धकार को दूर करके मार्ग को दिखानेवाली होती हैं।

भावार्थ—उषाकाल का प्रकाश पालक (पुरुतमं) व प्रज्ञापक (वयुनावत्) है। ये उषाएँ प्रकाश को करती हुई हमारे लिये मार्गदर्शन करती हैं।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—उषाः ॥ छन्दः—पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

'दीप्त व पवित्र जीवन को बनानेवाली' उषाएँ

अस्थुरु चित्रा उषसः पुरस्तान्मिताइव स्वरवोऽध्वरेषु।
व्यू व्रजस्य तमसो द्वारोच्छन्तीरव्रञ्छुचयः पावकाः ॥ २॥

(१) **उ**-निश्चय से **चित्राः**-चायनीय-पूजा के योग्य अथवा (चित् र) ज्ञान देनेवाली, प्रज्ञापक

उषसः उषाएँ **पुरस्तात्** पूर्व दिशा में **अस्थुः**-स्थित हैं। उसी प्रकार **इव** जैसे कि **अध्वरेषु** यज्ञों में **मिताः स्वरवः**-निर्मित यज्ञस्तम्भ। जिस प्रकार उन यज्ञ स्तम्भों की शोभा होती है, इसी प्रकार ये उषाएँ शोभावाली हैं। (२) ये उषाएँ **उ** निश्चय से **व्रजस्य** (वारकस्य) घेर लेनेवाले **तमसः** अन्धकार के **द्वारा** द्वारों को, **वि उच्छन्तीः**-अन्धकारशून्य व प्रकाशमय करती हुई, **अव्रन्** खोल डालती हैं। अन्धकार को दूर करती हुई ये उषाएँ **शुचयः** दीप्ति को प्राप्त करानेवाली हैं और **पावकाः**-पवित्र करनेवाली हैं।

भावार्थ—अन्धकार को दूर करती हुई उषाएँ हमारे जीवनों को दीप्त व पवित्र बनाती हैं।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—उषाः॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

भोज व पणि

उच्छन्तीरद्य चितयन्त भोजान्राधोदेयायोषसो मघोनीः।
अचित्रे अन्तः पणयः ससन्त्वबुध्यमानास्तमसो विमध्ये॥ ३॥

(१) **मघोनीः उषसः** ऐश्वर्यवाली उषाएँ **अद्य** आज **उच्छन्तीः** अन्धकार को दूर करती हुईं **भोजान्** औरों का पालन करनेवाले लोगों को **राधो देयाय** कार्यसाधक धनों को देने के लिए **चितयन्त** प्रज्ञानयुक्त करती हैं। इन उषाओं में ये 'भोज' जागते हैं और धन का दान करनेवाले इनके लिये उषाएँ सचमुच 'मघोनी' होती हैं ऐश्वर्योंवाली होती हैं। (२) इन भोजों के विपरीत **पणयः** वणिक्वृत्तिवाले कृपण लोग **अचित्रे** अचायनीय (अप्रशंसनीय) **तमसः विमध्ये** अन्धकार के मध्य में, **अन्तः** इस अन्धकार के अन्दर, **अबुध्यमानाः** जागृति को न प्राप्त करते हुए, **ससन्तु**-सोये रह जाएँ।

भावार्थ—उषाकालों में प्रबुद्ध होकर दान की वृत्तिवाले 'भोज' हम बनें। पणि बनकर कृपण बनकर सोये ही न रह जाएँ।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—उषाः॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

नवग्व अंगिर, दशग्व सप्तास्य

कुवित्स देवीः सनयो नवो वा यामो बभूयादुषसो वो अद्य।
येना नवग्वे अङ्गिरे दशग्वे सप्तास्ये रेवती रेवदूष॥ ४॥

(१) **देवीः उषसः**-दिव्य गुणोंवाली उषाओ! **सनयः** पुराणा **नवः वा** या नया जैसा भी वह **यामः**-शरीर रथ है **सः** वह **अद्य**-आज **कुवित्**-अत्यन्त ही **वः** आपका **बभूयात्** हो। हम वृद्ध हों या युवा हों, सदा प्रातःकाल उठनेवाले हों। प्रातःकाल उठना ही इस शरीर रथ को उषाकालों का बनाना है। (२) **येन** जिस रथ से **रेवतीः**-प्रशस्त धनोंवाली तुम **नवग्वे** नवमदशक तक नव्वे साल की आयु तक जानेवाले इस **अंगिरे**-गतिशील पुरुष में (अगि गतौ), तथा **दशग्वे** दशम दशक तक जानेवाले १०० वर्ष तक पहुँचनेवाले **सप्तास्ये** सप्त छन्दोमयी वेदवाणी रूप मुखवाले, अर्थात् अत्यन्त ज्ञान को प्राप्त करनेवाले पुरुष में **रेवत्** प्रशस्त धनयुक्त **ऊष** (विभातं कृतवत्य) प्रकाश को प्राप्त कराती हो।

भावार्थ—सदा प्रातः प्रबुद्ध होनेवाला व्यक्ति नव्वे साल के आयुष्य में भी गतिशील होता है। सौवें वर्ष में भी खूब ज्ञान की चेतनावाला बनता है।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—उषाः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

गतिशीलता की प्रेरिका उषाएँ

यूयं हि देवीर्ऋतयुग्भिरश्वैः परिप्रयाथ भुवनानि सद्यः।
प्रबोधयन्तीरुषसः ससन्तं द्विपाच्चतुष्पाच्चरथाय जीवम्॥ ५॥

(१) हे **उषसः** उषाओ! **यूयम्**-तुम **हि**-निश्चय से **देवीः**-प्रकाशमयी हो। **ऋतयुग्भिः** ऋत के साथ जो भी ठीक है, उसके साथ मेलवाले **अश्वैः**=इन इन्द्रियाश्वों द्वारा **सद्यः**-शीघ्र ही **भुवनानि** सब लोकों में **परिप्रयाथ**-चारों ओर आती हो। ये उषाएँ सब प्राणियों को प्राप्त हों प्रत्येक ऋतु में प्रवृत्त होनेवाले इन्द्रियाश्वों को प्राप्त कराती हैं। सामान्यतः उषा में जगनेवाले लोग यज्ञादि उत्तम कर्मों में प्रवृत्त होते हैं। (२) ये **उषसः**-उषाएँ **ससन्तम्**-सोये हुए **द्विपात् चतुष्पात्**-दोपाये व चौपाये **जीवम्** सब जीवों को **चरथाय**-गतिशील होने के लिए अपने अपने कार्यों में लगने के लिए **प्रबोधयन्तीः**=प्रबुद्ध करती हैं।

भावार्थ—उषाएँ जगाती हैं। गतिशील बनने के लिए प्रेरित करती हैं। हमारे इन्द्रियाश्वों को ऋत (यज्ञ) की ओर ले जाती हैं।

अथ द्वितीयो वर्गः॥ २॥

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—उषाः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

प्रारम्भ, मध्य व अन्त की उषाएँ

क्व स्विदासां कतमा पुराणी यया विधाना विदधुर्ऋभूणाम्।
शुभं यच्छुभ्रा उषसश्चरन्ति न वि ज्ञायन्ते सदृशीरजुर्याः॥ ६॥

(१) **आसाम्** इन उषाओं में **कतमा**-अत्यन्त आनन्द को देनेवाली वह **पुराणी** पुराकाल में होनेवाली उषा **क्व स्वित्**-भला अब कहाँ है। **यया**=जिस उषा से **ऋभूणाम्**-(उरु भान्ति) ज्ञानदीप्त पुरुषों के **विधाना**=कार्यों को चार भागों में बटे वेदज्ञान प्राप्ति रूप कार्य को **विदधुः** करते थे। वह जीवन यज्ञ के प्रातःसवन (प्रथम चौबीस वर्षों की) की उषाएँ अब कहाँ हैं? उन उषाओं में तो हम ऋभुओं के कार्यों को करने में ही तत्पर थे-ज्ञानप्राप्ति मात्र ही हमारा कार्य था। कितना आनन्द था उन उषाकालों में। (२) **यत्**-जो **शुभ्राः**-दीप्त **उषसः**=उषाएँ **शुभम्**-यज्ञादि शुभ कार्यों को करती थीं, वे माध्यन्दिनसवन की (पच्चीस से अड़सठ वर्ष तक की) उषाएँ भी अब कहाँ है? जिस समय गृहस्थ में सदा प्रातः प्रबुद्ध होकर हम पञ्चयज्ञों में प्रवृत्त हुआ करते थे, वे उषाएँ भी जा चुकीं। (३) अब इस सायन्तनसवन में भी (उनहत्तर से एक सौ सोलह वर्ष तक) ये उषाएँ उसी प्रकार चल रही हैं। पहली उषाओं से भिन्न रूप में **न विज्ञायन्ते**-ये नहीं जानी जातीं। **सदृशीः**-ये उसी प्रकार से चल रही हैं, उन पुराणी उषाओं से भिन्न नहीं प्रतीत होती। **अजुर्याः**-ये जीर्ण हो गयी प्रतीत नहीं होतीं। हम जीर्ण होने से पहली सुन्दर उषाओं को निःसन्देह स्मरण करें। परन्तु उषाएँ तो एकरूप से चलती-चलती रहती हैं, इनमें पुराणपन नहीं आ जाता, ये अजुर्य हैं।

भावार्थ—जीवन के प्रारम्भ में हम ऋभु बनकर ज्ञानदीप्ति की प्राप्ति में लगे थे। मध्य में शुभ यज्ञादि कर्मों में प्रवृत्त रहें। अब अन्त में भी ये उषाएँ हमारे लिए उसी प्रकार अक्षीणतावाली बनी रहें।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—उषाः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

उत्थान के लिये आत्मप्रेरणा

ता घा ता भद्रा उषसः पुरासुरभिष्टिद्युम्ना ऋतजातसत्याः।
यास्वीजानः शशमान उक्थैः स्तुवञ्छंसन्द्रविणं सद्य आप॥ ७॥

(१) **ताः**-वे **घ** निश्चय से **ताः**-प्रसिद्ध **भद्राः**-कल्याणकर **उषसः** उषाकाल **पुरा आसुः**-पहले थे। ये उषाकाल **अभिष्टि द्युम्नाः**-(अनिष्टि-attack) वासनाओं पर आक्रमण के कारण ज्योतिर्मय थे तथा **ऋतजातसत्याः**-ऋत के विकास के कारण ये उषाकाल सत्य थे इन उषाकालों में हम सब कार्य ऋत के अनुसार-नियमपूर्वक करते थे। अतएव हमारे जीवन सत्य प्रधान थे। (२) **यासु**-जिन उषाओं में **ईजानः**-यज्ञ करता हुआ, **शशमानः**=प्लुत गति से कार्यों को करता हुआ यह **उक्थैः**-स्तोत्रों से **स्तुवन् शंसन्**-स्तुति व शंसन करता हुआ पुरुष **सद्यः** शीघ्र ही **द्रविणं आप**-धन को प्राप्त करता था। हमारे जीवनों के वे उषाकाल कितने सुन्दर थे। कितना पवित्र व समृद्ध जीवन था। उन्हीं उषाओं को फिर से लाने का हम प्रयत्न करें।

भावार्थ—भद्र उषाकाल वे हैं, जिनमें हम (क) वासनाओं पर आक्रमण करके ज्ञान-ज्योति को बढ़ाने का प्रयत्न करते हैं, (ख) नियमितता के विकास के जीवन को सत्यमय बनाते हैं, (ग) यज्ञशील व स्फूर्ति से कार्यों को करनेवाले होते हैं, (घ) प्रभु का स्तवन व शंसन करते हुए द्रविणों को प्राप्त करते हैं।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—उषाः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

'यज्ञ, स्वाध्याय व स्तवन' वाली उषाएँ

ता आ चरन्ति समना पुरस्तात्समानतः समना पप्रथानाः।
ऋतस्य देवीः सदसो बुधाना गवां न सर्गा उषसो जरन्ते॥ ८॥

(१) **ताः** वे उषाएँ **समना**-(सं अन् प्राणने) सम्यक् प्राणित करनेवाली **पुरस्तात्**-पूर्व दिशा में **आचरन्ति** गतिवाली होती हैं। ये उषाएँ **समानतः**=समानरूप से सब को **समना**-प्राणित करनेवाली **पप्रथानाः** विस्तृत हो रही हैं। उषाकाल के वायुओं में ओजोन गैस प्रचुर मात्रा में होती है। वही प्राणित करने का साधन बनती है। (२) ये **देवीः उषसः**-दिव्य (प्रकाशमय) उषाएँ **ऋतस्य सदसः** यज्ञों के स्थानों का बोध कराती हुई, **गवां सर्गाः न** प्रकाशरश्मियों की सृष्टियों के समान **जरन्ते**-स्तुत होती हैं, अर्थात् इन उषाओं में भद्र लोग यज्ञ करते हैं, स्वाध्याय द्वारा ज्ञानरश्मियों को उत्पन्न करते हैं और स्तवन में प्रवृत्त होते हैं। उषाकाल के मुख्य कार्य 'यज्ञ, स्वाध्याय व प्रभुस्तवन' ही हैं।

भावार्थ—उषाकाल का वायु स्वास्थ्यवर्धक है। इन उषाओं में प्रबुद्ध होकर हम यज्ञ, स्वाध्याय व स्तवन-स्तुति आदि पवित्र कार्यों में प्रवृत्त हों।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—उषाः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

शक्तिसम्पन्न, पवित्र व दीप्त ज्ञान

ता इन्न्वे३व समना समानीरमीतवर्णा उषसश्चरन्ति।
गूहन्तीरभ्वमसितं रुशद्भिः शुक्रास्तनूभिः शुचयो रुचानाः॥ ९॥

(१) **ताः** वे **एव**-ही **इत् नु** निश्चय से अब **समना**=सम्यक् प्राणित करनेवाली **समानीः** समान

रूप से चली आ रही **अमीतवर्णाः**-अहिंसित वर्णवाली-तेजस्वी **उषसः**-उषाएँ **चरन्ति**-गतिवाली होती हैं। (२) **अभ्वम्**=महान् **असितम्**-कृष्णवर्ण-रात्रि के अन्धकार को **रुशद्भिः** चमकते हुए अपने प्रकाशों से **गूहन्तीः**=अपने अन्दर छिपाती हुई, **तनूभिः शुक्राः**=अपने शरीरों से (शुक्रम्-वीर्यम्) शक्ति सम्पन्न, **शुचयः**=पवित्र व **रुचानाः**-दीप्तिवाली हैं। वस्तुतः ये उषाएँ हमें शरीर में (शुक्र) वीर्य-सम्पन्न, मन में (शुचि) पवित्र तथा मस्तिष्क में (रुच दीप्तौ) दीप्त ज्ञानवाला बनाती हैं।

भावार्थ—उषाएँ अन्धकार को दूर करनेवाली हैं। इनमें जागनेवाला पुरुष शक्ति-सम्पन्न, पवित्र व दीप्त ज्ञानवाला बनता है।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—उषाः॥ छन्दः—भुरिक्पङ्क्तिः॥ स्वरः—पञ्चमः॥

उत्तम सन्तान, धन व सुवीर्य

र॒यिं दि॑वो दुहितरो विभा॒तीः प्र॒जाव॑न्तं यच्छता॒स्मासु॑ देवीः।
स्यो॒नादा वः॑ प्रति॒बुध्य॑मानाः सु॒वीर्य॑स्य॒ पत॑यः स्याम॥ १०॥

(१) **दिवः दुहितरः** प्रकाश का हमारे जीवनों में प्रपूरण करनेवाली **विभातीः**-चमकती हुई **देवीः** दिव्यगुणों को जन्म देनेवाली उषाओ! **अस्मासु** हमारे में **प्रजावन्तम्**=प्रकृष्ट सन्तानोंवाले **रयिम्**-धन को **यच्छत**=प्राप्त कराओ। उषाकाल में जागरित होकर अपने कर्त्तव्यों में लगते हुए हम उत्तम सन्तानों व धनों को प्राप्त करें। (२) **वः**=आपसे दिये जानेवाले **स्योनाद्**-सुख के निमित्त **आप्रतिबुध्यमानाः**-सदा जागरित होते हुए हम **सुवीर्यस्य**=उत्तम शक्ति के **पतयः** स्वामी **स्याम** हों। यह उषाकाल का जागरण हमें शक्तिशाली बनाए।

भावार्थ—हम उषाकाल में प्रबुद्ध होकर अपने कर्तव्यकर्मों में तत्पर हों। इससे हमें उत्तम सन्तान, धन व सुवीर्य प्राप्त होगा।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—उषाः॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

यज्ञकेतु का यशस्वी जीवन

तद्वो॑ दिवो दुहितरो विभा॒तीरुप॑ ब्रुव उषसो य॒ज्ञके॑तुः।
व॒यं स्या॑म य॒शसो॒ जने॑षु॒ तद् द्यौश्च॑ ध॒त्तां पृ॑थि॒वी च॑ दे॒वी॥ ११॥

(१) **यज्ञकेतुः** यज्ञ के ज्ञानवाला मैं-यज्ञों के महत्त्व को समझनेवाला मैं हे **दिवः दुहितरः**-प्रकाश की प्रपूरक **विभातीः**-चमकती हुई **उषसः**-उषाओ! **वः तत्**-आपके उस महत्त्व को मैं **ब्रुवः**-कहता हूँ। (२) उषाओं के महत्त्व को समझते हुए हम उषाओं में जागनेवाले बनें। और **वयम्**-हम **जनेषु**=लोगों में **यशसः स्याम**=यशस्वी हों। उत्कृष्ट जीवनवाले बनकर हम यशस्वी क्यों न होंगे! **तद्**=उस हमारे यश को **द्यौः च**=मस्तिष्करूप द्युलोक **च**=और **देवी पृथिवी**-यह (दिव गतौ) गतिमय पृथिवीरूप शरीर **धत्ताम्**-धारण करें। हमारा मस्तिष्क ज्ञानदीप्त होकर तथा हमारा शरीर दृढ़ होकर हमारे जीवन को यशस्वी बनाएँ।

भावार्थ—उषाकालों में जागकर हम यज्ञशील बनें। हमारा शरीर व मस्तिष्क हमारे जीवन को यशस्वी बनाएँ।

अगले सूक्त में भी उषा का ही वर्णन है—

[५२] द्विपञ्चाशं सूक्तम्

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—उषाः ॥ छन्दः—निचृद्गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

'सूनरी जनी' उषा

प्रति ष्या सूनरी जनी व्युच्छन्ती परि स्वसुः। दिवो अदर्शि दुहिता ॥ १ ॥

(१) **स्या** वह **दिवः दुहिता** प्रकाश का हमारे जीवनों में प्रपूरण करनेवाली उषा **प्रति अदर्शि** प्रतिदिन उदय होती हुई दिखती है। उषा निकलती है, हमें प्रबुद्ध करके हमारे जीवनों को प्रकाश से भर देती है। (२) **सूनरी**-यह हमें उत्तमता से मार्ग पर आगे और आगे ले चलती है। **जनी** यह हमारे जीवनों में शक्तियों का विकास करती है और **स्वसुः परि** स्वसृ (बहिन) के स्थानापन्न रात्रि की समाप्ति पर **व्युच्छन्ती**-अन्धकार को दूर करती है। यह उषा हमारे जीवन के अन्धकार को भी इसी प्रकार दूर भगाती है।

भावार्थ—उषा (क) हमें उत्तम मार्ग पर ले चलती है, (ख) हमारे जीवन में गुणों व शक्तियों का विकास करती है और (ग) प्रकाश का हमारे में प्रपूरण करनेवाली है।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—उषाः ॥ छन्दः—निचृद्गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

'अरुषी-ऋतावरी' उषा

अश्वेव चित्रारुषी माता गवामृतावरी। सखाभूदश्विनोरुषाः ॥ २ ॥

(१) **अश्वा इव**-(अश् व्याप्तौ) जैसे यह उषा कर्मों में व्याप्त होनेवाली है, उसी प्रकार **चित्रा** ज्ञान को देनेवाली है। **अरुषी** आरोचमान है, **गवां माता** प्रकाश की किरणों का निर्माण करनेवाली है, **ऋतावरी** यह ऋतवाली है यज्ञोंवाली है। हमें प्रातः प्रबुद्ध होकर कर्त्तव्यकर्मों में लग जाना चाहिए। ज्ञानप्राप्ति के लिए यत्नशील होना चाहिए। हम इस उषा जागरण से अपने जीवन को आरोचमान तेजस्वी बनाएँ। स्वाध्याय द्वारा अपने ज्ञानप्रकाश को बढ़ाते हुए हम यज्ञशील हों। (२) प्रातः प्राणसाधना का उषाकाल **अश्विनोः** प्राणापान का **सखा अभूत्**-मित्र होता है, अर्थात् इस उषाकाल में प्राणसाधना चलती है। प्रातः प्रबुद्ध होकर, स्नानादि शुद्धि करके, हम सूर्याभिमुख बैठकर प्रतिदिन प्राणापान का अभ्यास करें।

भावार्थ—प्रातः प्रबुद्ध होकर अपने कर्त्तव्यकर्मों में हम लगें, स्वाध्याय करें और यज्ञ में प्रवृत्त हों। प्राणसाधना करें।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—उषाः ॥ छन्दः—निचृद्गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

'प्राण, ज्ञान व वसु' प्रदा उषा

उत सखास्यश्विनोरुत माता गवामसि। उतोषो वस्व ईशिषे ॥ ३ ॥

(१) हे **उषः**-उषा! तू **उत**-निश्चय से **अश्विनोः सखा असि**-प्राणापान की मित्र है। प्रातः प्रबुद्ध होकर हमें प्राणायाम द्वारा प्राणों को वश में करने का यत्न करना चाहिए। **उत** और तू **गवाम्**-ज्ञानरश्मियों की **माता असि**-माता है। यह उषा प्राणसाधना द्वारा हमें ऊर्ध्वरेतस् बनाती है। यह रेतस् ज्ञानाग्नि को दीप्त करता है। इस प्रकार स्वाध्याय से हमारी ज्ञानरश्मियाँ फैलती हैं। (२) **उत** और हे उषः! तू **वस्वः**-सब वसुओं के **ईशिषे**-ऐश्वर्यवाली है। शरीर में निवास के लिए जो भी आवश्यक तत्त्व हैं, उन्हें तू प्राप्त करानेवाली है।

भावार्थ—उषा प्राणों को, ज्ञान को व वसुओं को प्राप्त कराती है।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—उषाः ॥ छन्दः—निचृद्गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

'यावयद्द्वेषा' उषा

यावयद् द्वेषसं त्वा चिकित्वित्सूनृतावरि। प्रति स्तोमैरभुत्स्महि ॥ ४ ॥

(१) हे **चिकित्वत्**-ज्ञान को प्राप्त करानेवाली, **सूनृतावरि**-प्रिय सत्यवाणियोंवाली उषा! **त्वाम्** तुझे **स्तोमैः**=स्तुतियों द्वारा **प्रति अभुत्स्महि**=प्रतिदिन प्रबुद्ध करते हैं। इस उषाकाल में हम स्वाध्याय द्वारा ज्ञान को बढ़ाते हैं (चिकित्वत्) शान्तचित्त होकर प्रिय सत्यवाणियों को बोलने का ही व्रत लेते हैं (सूनृतावरि) तथा प्रभु स्तवन करते हैं (स्तोमैः)। (२) उस उषाकाल का हम स्तवन करते हैं, जो कि **यावयद् द्वेषसम्**=हमारे से सब द्वेषों को दूर करनेवाला है। उषा के शान्त वातावरण में हम द्वेष आदि बुरी वासनाओं से आक्रान्त नहीं होते।

भावार्थ—उषाकाल ज्ञान, प्रियसत्यवाणी, निर्द्वेष व प्रभुस्तवन के लिए है।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—उषाः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

इन्द्रियों का निर्माण—ज्ञानरश्मियाँ व तेज

प्रति भद्रा अदृक्षत गवां सर्गा न रश्मयः। ओषा अप्रा उरु ज्रयः ॥ ५ ॥

(१) इन उषाकालों में **भद्राः**-कल्याणकर **गवां सर्गाः न** इन्द्रियों के निर्माण की तरह **रश्मयः** ज्ञानरश्मियाँ **प्रति अदृक्षत**-प्रतिदिन दृष्टिगोचर होती हैं। उषाकाल के जागरण से इन्द्रियों का निर्माण उत्तम होता है, इन्द्रियों की शक्ति बढ़ती है और हमारी ज्ञानरश्मियों का विकास होता है। (२) **उषः** यह उषावेला **उरु ज्रयः**-विशाल तेज को **आ अप्राः**-हमारे जीवन में समन्तात् भरती है। इस समय सोये हुए पुरुषों के तेज को सूर्य हर लेता है 'उद्यन सूर्य इव सुप्तानां द्विषतां वर्च आददे'।

भावार्थ—उषाकाल का जागरण (क) इन्द्रियों का उत्तम निर्माण करता है, (ख) ज्ञानरश्मियों को प्राप्त कराता है और (ग) हमारे में तेजस्विता को भरता है।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—उषाः ॥ छन्दः—निचृद्गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

स्वधा का रक्षण

आपप्रुषी विभावरि व्यावर्ज्योतिषा तमः। उषो अनु स्वधामव ॥ ६ ॥

(६) **विभावरि**=ज्ञान के प्रकाशवाली उषः! तू **आपप्रुषी**-हमारे जीवनों में तेज का पूरण करती हुई **ज्योतिषा**-ज्ञान के प्रकाश से **तमः**-अज्ञानान्धकार को **व्यावत्**-दूर करनेवाली हो। (२) हे **उषः** उषे! तू **अनु**-तेजस्विता व ज्योति को प्राप्त कराने के बाद **स्वधाम्**-आत्मधारणशक्ति को **अव**-हमारे में सुरक्षित कर।

भावार्थ—उषाकाल का जागरण हमें तेजस्विता व ज्ञान से पूरित करके आत्मधारण शक्ति से युक्त करता है।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—उषाः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

'द्यां अन्तरिक्षम्'

आ द्यां तनोषि रश्मिभिरान्तरिक्षमुरु प्रियम्। उषः शुक्रेण शोचिषा ॥ ७ ॥

(१) **उषः**-हे उषे! तू **द्याम्**-हमारे मस्तिष्करूप द्युलोक को **रश्मिभिः**-ज्ञानरश्मियों से **आ तनोषि** समन्तात् आतत (व्याप्त) करती है। (२) तथा **उरु**-विशाल **प्रियम्**-प्रीतियुक्त, प्रसादमय

अन्तरिक्षम् हृदयान्तरिक्ष को **शुक्रेण शोचिसा**-चमकती हुई पवित्रता से शुचिता से आतत करता है।

भावार्थ—उषाकाल का जागरण यदि हमारे मस्तिष्करूप द्युलोक को ज्ञानरश्मियों से दीप्त करता है, तो हमारे तन को यह चमकती हुई पवित्रता से चमका देता है।

उषाकाल की समाप्ति पर ज्ञान सूर्य का उदय होता है। सो अगला सूक्त सविता का है—

[५३] त्रिपञ्चाशं सूक्तम्

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—सविता ॥ छन्दः—निचृज्जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

'असुर प्रचेता' प्रभु

तद्देवस्य॑ सवि॒तुर्वार्यं॑ म॒हद् वृ॑णी॒महे॒ असु॑रस्य॒ प्रचे॑तसः।
छ॒र्दिर्येन॑ दा॒शुषे॒ यच्छ॑ति॒ त्मना॒ तन्नो॑ म॒हाँ उद॑या॒न्दे॒वो अ॒क्तुभिः॑॥ १ ॥

(१) **देवस्य** प्रकाशमय **सवितुः** प्रेरक प्रभु के **तद्**-उस **वार्यम्**-वरणीय **महत्**-महनीय तेज को **वृणीमहे**=वरते हैं 'तत् सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि'। उस प्रभु के तेज को वरते हैं, जो कि **असुरस्य प्रचेतसः**=(असून् राति) प्राणशक्ति का संचार करनेवाले हैं और प्रकृष्ट चेतनावाले हैं। प्रभु शक्ति व ज्ञान के पुञ्ज हैं। हम भी इनके तेज का वरण करते हैं। इसी तेज को धारण करने के लिए यत्नशील होते हैं। (२) **येन**-जिस तेज से वे प्रभु **दाशुषे**-दाश्वान् के लिए-आत्मार्पण करनेवाले के लिए, **छर्दिः**-शरण को **यच्छति**-देते हैं, **महान् देवः**-वे महादेव **नः** हमारे लिए **त्मना** स्वयं **अक्तुभिः** अपनी प्रकाश की किरणों के साथ **तत्** उस तेज को **उदयान्**-दें।

भावार्थ—प्रभु 'असुर हैं, प्रचेता' हैं। हमारे लिए प्रभु प्रकाश की किरणों के साथ हमें तेजस्विता प्रदान करें जो तेजस्विता सब रक्षणात्मक कार्यों में विनियुक्त हो।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—सविता ॥ छन्दः—विराड्जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

'तेजोमय' प्रभु

दि॒वो ध॒र्ता भुव॑नस्य प्र॒जाप॑तिः पि॒शङ्गं॑ द्रा॒पिं प्रति॑ मुञ्चते क॒विः।
वि॒च॒क्ष॒णः प्र॒थय॑न्ना॒पृ॒णन्नु॒र्वजी॑जनत्सवि॒ता सु॒म्नमु॒क्थ्य॑म्॥ २ ॥

(१) **दिवः धर्ता**-प्रकाश को धारण करनेवाले, **भुवनस्य प्रजापतिः** सारे ब्रह्माण्ड की प्रजाओं के रक्षक **कविः**-वह क्रान्तदर्शी प्रभु **पिशंगं द्रापिम्**-तेजोमय हिरण्मय कवच को **प्रतिमुञ्चते** धारण करते हैं। तेजोमय प्रकाशमय रूप में ही प्रतीत होते हैं। (२) **विचक्षणः** वे विशेषरूप से सब के **सविता**-प्रेरक प्रभु सर्वत्र अपने तेज को **प्रथयन्**-विस्तृत करते हुए और **आपृणन्** आपूरित करते हुए **उरु**-विशाल **उक्थ्यम्**-स्तुत्य **सुम्नम्**-सुख को **अजीजनत्**-उत्पन्न करते हैं।

भावार्थ—प्रभु तेजोमय हैं। यदि मैं प्रभु का धारण करूँगा, तो वे मुझे विशाल स्तुत्य आनन्द को प्राप्त कराएँगे।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—सविता ॥ छन्दः—निचृज्जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

'निवेशयन्-प्रसुवन्' प्रभु

आप्रा रजांसि दिव्यानि पार्थिवा श्लोकं देवः कृणुते स्वाय धर्मणे।
प्र बाहू अस्राक्सविता सवीमनि निवेशयन्प्रसुवन्नक्तुभिर्जगत्॥ ३॥

(१) **देवः**=वे प्रकाशमय प्रभु **दिव्यानि**-द्युलोकस्थ तथा **पार्थिवा** इस पृथिवी से संम्बद्ध **रजांसि**=लोक (क्षेत्र) **आप्राः**=(आ अप्राः) आपूरित किये हुए हैं। इनको व्याप्त करनेवाले वे प्रभु **स्वाय धर्मणे** अपनी धर्म प्रजा के लिये **श्लोकं कृणुते** यश को करते हैं, अर्थात् अपनी धारणशक्ति के कारण यशस्वी हो रहे हैं। उस विष्णु (व्यापक प्रभु) की महिमा यही है कि वे इस अनन्त से प्रतीयमान ब्रह्माण्ड को भी अपने एकदेश में धारण करके रह रहे हैं 'पादो ऽस्य विश्वा भूतानि'। (२) वे **सविता**-सकल जगदुत्पादक सबके प्रेरक प्रभु **सवीमनि**=इस उत्पन्न जगत् में सर्वत्र **बाहू**=अपनी भुजाओं को **प्र अस्राक्**=(प्रसारयति) फैलाते हैं। अपनी भुजाओं से इस सारे ब्रह्माण्ड का धारण करते हैं। वे प्रभु **अक्तुभिः** अपने प्रकाश की किरणों से **जगत्**-सारे ब्रह्माण्ड को **निवेशयन्**-अपने अपने स्थान पर स्थापित कर रहे हैं और **प्रसुवन्**-सब प्राणियों को प्रेरित कर रहे हैं। प्रभु सविता हैं। प्रकृति के दृष्टिकोण से सब जगत् के उत्पादक हैं और जीव के दृष्टिकोण से सबके प्रेरक हैं। प्रभु की एक भुजा यदि सब पिण्डों को अपने अपने स्थान में निवेशित करती है, तो दूसरी भुजा सब प्राणियों को कर्त्तव्य का निर्देश करती है।

भावार्थ—प्रभु सब प्राकृतिक पिण्डों का अपने अपने स्थान में धारण करते हुए (निवेशयन्), उनमें निवास करनेवाले प्राणियों को अपने अपने कर्त्तव्यों की प्रेरणा दे रहे हैं (प्रसुवन्)।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—सविता ॥ छन्दः—स्वराड्जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

महो अज्मस्य राजति

अदाभ्यो भुवनानि प्रचाकशद् व्रतानि देवः सविताभि रक्षते।
प्रास्राग्बाहू भुवनस्य प्रजाभ्यो धृतव्रतो महो अज्मस्य राजति॥ ४॥

(१) **अदाभ्यः**=वे प्रभु किसी से हिंसित होनेवाले नहीं हैं। **भुवनानि प्रचाकशत्**-वे सब भुवनों को प्रकाशित करते हुए हैं। वे **देवः**=प्रकाशमय **सविता**-प्रेरक प्रभु **व्रतानि अभिरक्षते**-सब पुण्यकर्मों का रक्षण करते हैं 'अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च'। (२) इस **भुवनस्य प्रजाभ्यः**-ब्रह्माण्ड की प्रजाओं के लिए **बाहू**-अपनी भुजाओं को **प्रास्राक्**-वे प्रभु फैलाते हैं। गतमन्त्र के अनुसार एक बाहु से यदि ब्रह्माण्ड का धारण करते हैं, तो दूसरी बाहु से सब प्रजाओं को कर्त्तव्यों का निर्देश करते हैं। **धृतव्रतः**=सब व्रतों का धारण करनेवाले वे प्रभु **महः अज्मस्य**-इस महान् ब्रह्माण्ड का **राजति**=शासन करते हैं 'इन्द्रो विश्वस्य राजति' (अज गतौ से 'अज्म', सृ गतौ से 'संसार')।

भावार्थ—प्रभु ही लोकों को प्रकाशित करते हैं प्राणियों को प्रेरणा देते हैं। वे ही सारे ब्रह्माण्ड के शासक हैं।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—सविता ॥ छन्दः—जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

'सर्वव्यापक-सर्वरक्षक' प्रभु

त्रिरन्तरिक्षं सविता महित्वना त्री रजांसि परिभूस्त्रीणि रोचना।
तिस्रो दिवः पृथिवीस्तिस्र इन्वति त्रिभिर्व्रतैरभि नो रक्षति त्मना॥ ५॥

(१) **सविता** वह सर्वोत्पादक प्रभु **महित्वना** अपनी महिमा से **त्रिः अन्तरिक्षम्** 'वायु विद्युत् वरुण' नामवाले त्रिभेद अन्तरिक्ष को **परिभूः** व्याप्त करता है। अन्तरिक्ष का निचला प्रदेश वह है, जहाँ वायु बहती है, मध्य प्रदेश में विद्युत् चमकती है, ऊपरला प्रदेश जलवाष्पों का स्थान है। ये सविता **त्री रजांसि** पृथिवी, अन्तरिक्ष व द्युलोक रूप तीनों लोकों को व्याप्त कर रहे हैं। इन लोकों की **त्रीणि रोचना** तीनों दीप्तियों को, 'अग्नि, विद्युत् व सूर्य को' भी वे प्रभु ही व्याप्त करनेवाले हैं। (२) ये प्रभु **तिस्त्रः दिवः** द्युलोक के तीनों विभागों को 'इन्द्र, प्रजापति, सत्य नामक तीनों द्युलोक के प्रदेशों को **इन्वति**-व्याप्त करते हैं। (३) **तिस्त्रः पृथिवीः** पृथिवी के तीन प्रदेशों को भी वे प्रभु व्याप्त किये हुए हैं। पृथिवी के उपरले प्रदेश में प्राणी विचरते हैं, ३४ फीट नीचे जलवाला प्रदेश मध्यम है, उसके नीचे स्वर्ण आदि धातुओं का प्रदेश आता है, यही पृथिवी का केन्द्र प्रदेश है। इन सब को प्रभु व्याप्त किये हुए हैं। (४) ये प्रभु **त्मना** स्वयं **त्रिभिः व्रतैः** निर्माण धारण व प्रलय रूप मुख्य कर्मों से अथवा 'सर्दी, गर्मी व वर्षा' रूप ऋतुओं को यथा समय प्राप्त कराने से **नः अभिरक्षति** हमारा सम्यक् रक्षण करते हैं।

भावार्थ—प्रभु सर्वत्र व्याप्त हैं। प्रभु ही अपने व्रतों द्वारा सब का रक्षण कर रहे हैं।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—सविता॥ छन्दः—निचृज्जगती॥ स्वरः—निषादः॥

'बृहत्सुम्न' प्रभु

बृहत्सुम्नः प्रसवीता निवेशनो जगतः स्थातुरुभयस्य यो वशी।
स नो देवः सविता शर्म यच्छत्वस्मे क्षयाय त्रिवरूथमंहसः॥ ६॥

(१) **बृहत्सुम्नः** विशाल सुखों को देनेवाला, **प्रसवीता** सर्वोत्पादक, **निवेशनः** सब को आधार देनेवाला, **जगतः स्थातुः** जंगम स्थावर **उभयस्य** दोनों का **यः वशी** जो वश में करनेवाला है। **सः** वह **सविता देवः** प्रेरक प्रकाशमय प्रभु **नः** हमारे लिए **शर्म** सुख को **यच्छतु** दे। (२) वे प्रभु **अस्मे** हमारे लिये **क्षयाय** उत्तम निवास के लिए (क्षि निवासे) **अंहसः** पाप से **त्रिवरूथम्** तीन रक्षकों को रक्षा के लिये प्राप्त कराएँ। हमें काम से, क्रोध से व लोभ से वे प्रभु बचाएँ। अथवा शरीर सम्बन्ध के पापों से बचाएँ। अथवा मनु के अनुसार मन, वाणी व शरीर के दोषों से रक्षित करें।

भावार्थ—प्रभु हमें निष्पाप बनाएँ और सुखी करें।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—सविता॥ छन्दः—निचृज्जगती॥ स्वरः—निषादः॥

'हमारे घरों को उत्तम बनानेवाले' प्रभु

आगन्देव ऋतुभिर्वर्धतु क्षयं दधातु नः सविता सुप्रजामिषम्।
स नः क्षपाभिरहभिश्च जिन्वतु प्रजावन्तं रयिमस्मे समिन्वतु॥ ७॥

(१) **देवः आगन्**-वे प्रकाशमय प्रभु हमें प्राप्त हों। **ऋतुभिः** सर्दी, गर्मी, वर्षा आदि ऋतुओं से **वर्धतु** हमारा वर्धन करें। **नः** हमारे **क्षयम्** गृहों को **दधातु** धारण करें। वे **सविता** प्रेरक प्रभु **सुप्रजाम्** उत्तम सन्तानों को व **इषम्** उत्तम अन्नों को हमारे लिए प्राप्त कराएँ। प्रभु की उपासना में व प्रभु की प्रेरणा के अनुसार चलते हुए हम अपने घरों को उत्तम बना पाएँ। (२) **सः** वे प्रभु **नः** हमारे लिए **क्षपाभिः च अहभिः** रात दिन **जिन्वतु** उत्तम धनों के देनेवाले हों। वे प्रभु **प्रजावन्तम्** उत्तम प्रजाओं व सन्तानोंवाले **रयिम्** धन को **अस्मे** हमारे लिए **समिन्वतु**-सम्यक् व्याप्त कराएँ। (व्याप्नोतु-प्रापयतु सा०)।

भावार्थ—हमें प्रभु प्राप्त हों-हमारा निरन्तर वर्धन हो। हमारा घर उत्तम बने। हमें उत्तम सन्तान, अन्न व धन प्राप्त हों। जिस घर में प्रभु का उपासन होगा, वह अवश्य उत्तम बनेगा।

अगले सूक्त में भी सविता का ही आराधन है—

[५४] चतुःपञ्चाशं सूक्तम्

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—सविता ॥ छन्दः—भुरिक्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

'सदा स्मरणीय' प्रभु

अभूद्देवः सविता वन्द्यो नु न इदानीमह्न उपवाच्यो नृभिः।
वि यो रत्ना भजति मानवेभ्यः श्रेष्ठं नो अत्र द्रविणं यथा दधत् ॥ १ ॥

(१) **देवः**=प्रकाशमय **सविता**-प्रेरक प्रभु **नु**-अब **नः**=हमारे लिए **वन्द्यः**-अभिवादनीय व स्तुत्य **अभूत्** होते हैं। **अह्नः**-दिन के **इदानीम्**=इस समय में-जिस भी जीवनयज्ञ के सवन में हमारी स्थिति है, उस समय **नृभिः**=उन्नतिपथ पर चलनेवाले मनुष्यों से **उपवाच्यः**-वे प्रभु नामस्मरण के योग्य हैं। जीवन का दिन भी 'प्रातः, मध्याह्न, सायं' इन तीन भागों में बटा हुआ है। हम इस दिन के जिस भी समय में हों, अर्थात् बाल्य, युवा व वृद्ध जिस भी अवस्था में हों, सदा उस प्रभु के नाम का जप करते हैं। (२) **यः**-जो प्रभु **मानवेभ्यः**=विचारशील पुरुषों के लिए **रत्ना** रमणीय धनों को **विभजति**-प्राप्त कराते हैं, वे प्रभु **अत्र**=यहाँ इस जीवन में **नः**-हमारे लिए **श्रेष्ठं द्रविणम्**-उत्तम धनों **यथा**=ठीक रूप में **दधत्**-धारण करें। प्रभु हमें यथायोग्य धनों को प्राप्त कराएँ।

भावार्थ—हम सदा प्रभुस्मरण-पूर्वक कार्यों में प्रवृत्त रहें। प्रभुकृपा से हमें उत्तम रत्न प्राप्त हों।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—सविता ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

सुन्दर जीवन

देवेभ्यो हि प्रथमं यज्ञियेभ्योऽमृतत्वं सुवसि भागमुत्तमम्।
आदिद्दामानं सवितर्व्यूर्णुषेऽनूचीना जीविता मानुषेभ्यः॥ २ ॥

(१) हे **सवितः**=सर्वोत्पादक, सर्वैश्वर्यवाले प्रभो! आप **हि**=निश्चय से **यज्ञियेभ्यः देवेभ्यः**-यज्ञ आदि उत्तम कर्मों में प्रवृत्त रहनेवाले देवों के लिए **अमृतत्वम्**=अमृतत्व को-नीरोगता को **सुवसि**=प्राप्त कराते हैं। आप इनके लिए **उत्तमं भागम्**=उत्कृष्ट भजनीय धन को प्राप्त कराते हैं। (२) हे सवितः! **आत् इत्**=आप शीघ्र ही **दामानम्**=दान की वृत्तिवाले पुरुष को **व्यूर्णुषे**=प्रकाशमय जीवनवाला करते हैं। आप **मानुषेभ्यः**=विचारशील पुरुषों के लिए **अनूचीना**=(अनु अञ्च) अनुक्रम से चलनेवाले **जीविता**-जीवनों को प्रकाशित करते हैं, अर्थात् इनके जीवन को बड़ा व्यवस्थित व नियमित बनाते हैं।

भावार्थ—यज्ञादि कर्मों में लगे रहने पर नीरोगता व धन प्राप्त होता है। दानशील पुरुष का जीवन प्रकाशमय बनता है। विचारशील पुरुष का जीवन बड़ा व्यवस्थित होता है।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—सविता ॥ छन्दः—स्वराट्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

पापों से दूर

अचित्ती यच्चकृमा दैव्ये जने दीनैर्दक्षैः प्रभूती पूरुषत्वता।
देवेषु च सवितर्मानुषेषु च त्वं नो अत्र सुवतादनागसः॥ ३ ॥

(१) हे **सवितः** सर्वप्रेरक प्रभो! **अचित्ती** अज्ञानवश **यत्** जो **दैव्ये जने** देव की ओर गतिवाले लोगों के विषय में आपके उपासक भक्तों के विषय में **चकृमा** हम अपराध कर बैठें, **त्वम्** आप **अत्र** इस विषय में **नः** हमें **अनागसः**-निष्पाप **सुवतात्** करिए। आपकी प्रेरणा से हमारी प्रवृत्ति इन पापों से दूर हो। (२) **दीनैः**-दीन पुरुषों के साथ **प्रभूती** प्रकृष्ट ऐश्वर्य के कारण जो अपराध कर बैठें, उससे आप हमें दूर करिए। **दक्षैः** दक्ष (कुशल) पुरुषों के साथ भी **पुरुषत्वता** अपने पौरुष के घमण्ड के कारण जो अपराध कर बैठें, उससे आप हमें बचाइये। (३) **च** तथा **देवेषु**-पृथिवी, जल, तेज, वायु आदि देवों के विषय में तथा **मानुषेषु** मनुष्यों के विषय में हम जो अपराध करें, उससे आप हमें बचने की प्रेरणा दीजिए।

भावार्थ—अज्ञानवश, ऐश्वर्यमद में या पौरुष के मद में होनेवाले पापों से प्रभु हमें बचाएँ।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—सविता॥ छन्दः—स्वराट्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

'विश्व धारक' प्रभु

न प्रमिये सवितुर्दैव्यस्य तद्यथा विश्वं भुवनं धारयिष्यति।
यत्पृथिव्या वरिमन्ना स्वङ्गुरिर्वर्ष्मन्दिवः सुवति सत्यमस्य तत्॥ ४॥

(१) **दैव्यस्य** (स्वार्थे ष्यञ्) **सवितुः** उस प्रकाशमय प्रेरक प्रभु का **न प्रमिये** यह व्रत हिंसित नहीं होता कि **तद्यथा** सो जैसे वे प्रभु **विश्वं भुवनम्** सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को **धारयिष्यति** धारण करेंगे। प्रभु धारणात्मक कर्म ही करते हैं। प्रभु का प्रलयरूप कर्म भी रात्रि की तरह धारण के लिए ही है। रात्रि जैसे बलवर्धन के लिए आवश्यक है, इसी प्रकार प्रलय भी। (२) प्रभु की यह बात भी हिंसित नहीं हो सकती **यत्** कि वे प्रभु **पृथिव्याः** पृथिवी के **वरिमन्** इस विस्तार में **आ**-सर्वत्र **स्वंगुरिः** (सु अगि गतौ) उत्तम गतिवाले हैं, प्रभु की एक एक क्रिया सौन्दर्य को लिये हुए है। उस प्रभु का तो छेदन भेदन व मारण भी हमारी अमरता के लिए है 'यस्य छाया अमृतं यस्य मृत्युः'। **दिवः वर्ष्मन्** द्युलोक के इस उरुत्व में विस्तार में प्रभु जो कुछ करते हैं, **अस्य** इन प्रभु का **तत्**-वह कार्य **सत्यम्** सत्य ही है। सत्यस्वरूप प्रभु के सब कार्य सत्य ही होते हैं।

भावार्थ—प्रभु के सब कार्य हमारे धारण के लिए ही हैं।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—सविता॥ छन्दः—स्वराट्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

'अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम्'

इन्द्रज्येष्ठान्बृहद्भ्यः पर्वतेभ्यः क्षयाँ एभ्यः सुवसि पस्त्यावतः।
यथायथा पतयन्तो वियेमिर एवैव तस्थुः सवितः सवाय ते॥ ५॥

(१) **बृहद्भ्यः** (बृहि वृद्धौ) वृद्धि के मार्ग पर चलनेवाले **पर्वतेभ्यः** अपना पूरण करनेवाले **एभ्यः**-इन लोगों के लिए, हे **सवितः** सर्वोत्पादक प्रभो! **इन्द्रज्येष्ठान्** (इन्द्रः ज्येष्ठः येषु) प्रभु ही जिनमें ज्येष्ठ हैं, अर्थात् सदा प्रभु के स्मरणवाले **पस्त्यावतः** उत्तम गृहों (कमरों) वाले **क्षयान्** निवास स्थानों को **सुवसि**=आप प्राप्त कराते हैं। (२) इन घरों में रहते हुए वे लोग **यथा यथा**-जैसे जैसे **पतयन्तः** आपकी ओर गति करते हुए ये **वियेमिरे** यम नियम से युक्त जीवनवाले होते हैं, **एव एव**-उस उस प्रकार **ते**-आपके **सवाय** ऐश्वर्य के लिए **तस्थुः** स्थित होते हैं। ये प्रभुभक्त संयत जीवनवाले होते हुए आपकी ओर आते हैं और आपके ऐश्वर्य को प्राप्त करते हैं।

भावार्थ—हमें प्रभु की उपासनावाले गृह प्राप्त हों ऐसे घरों में ही हमारा जन्म हो। वहाँ प्रभु की ओर चलते हुए जीवनवाले बनकर हम प्रभु के ऐश्वर्य को प्राप्त करें।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—सविता॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

यज्ञशीलता व विश्व की अनुकूलता

ये ते त्रिरहन्त्सवितः सवासो दिवेदिवे सौभगमासुवन्ति।
इन्द्रो द्यावापृथिवी सिन्धुरद्भिरादित्यैर्नो अदितिः शर्म यंसत्॥ ६॥

(१) हे **सवितः**-प्रेरक प्रभो! **ये**=जो **अहन्** दिन में **त्रिः** तीन बार **सवासः**-यज्ञ हैं प्रातः सवन, माध्यन्दिन सवन व सायन्तन सवन, **ते**=वे **दिवेदिवे**=प्रतिदिन **सौभगम्**=उत्तम सौभाग्य को **आसुवन्ति**-प्राप्त कराते हैं। हम प्रतिदिन प्रातः, मध्याह्न व सायं प्रभु का स्मरण करते हुए, अर्थात् सदा प्रभु का स्मरण करते हुए सौभाग्यशील हों। जीवन-दिन का, प्रातः सवन प्रथम २४ वर्ष का है, माध्यन्दिन सवन अगले ४४ वर्ष का और सायन्तन सवन अन्तिम ४८ वर्ष का। इस प्रकार हम आजीवन प्रभु की उपासना के साथ कर्म करें। (२) **इन्द्रः**=वे प्रभु, **द्यावापृथिवी**-ये द्युलोक व पृथिवी लोक, **अद्भिः**=जलों के साथ **सिन्धुः**-ये नदियाँ तथा **आदित्यैः**-सब सूर्यादि देवों के साथ **अदितिः** यह प्रकृति **नः** हमारे लिए **शर्म यंसत्**=सुख दे। यज्ञात्मक जीवन होने पर यह सारा ब्रह्माण्ड सुख ही सुख देनेवाला होता है।

भावार्थ—हम यज्ञशील बनकर विश्व की अनुकूलता प्राप्त करें।

इस प्रकार यज्ञशील जीवन होने पर सब दिव्यगुणों का विकास होगा, सब देवों की अनुकूलता होगी, सो अगला सूक्त 'विश्वे देवाः' देवता का है—

[५५] पञ्चपञ्चाशं सूक्तम्

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—विश्वे देवाः॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

वसुओं के रक्षक प्रभु

को वस्त्राता वसवः को वरूता द्यावाभूमी अदिते त्रासीथां नः।
सहीयसो वरुण मित्र मर्तात्को वोऽध्वरे वरिवो धाति देवाः॥ १॥

(१) हे **वसवः** अपने निवास को उत्तम बनानेवाले लोगो! **कः** वह अनिर्वचनीय प्रभु ही **वः**-आपके **त्राता** रक्षक हैं। **कः** वे आनन्दमय प्रभु ही **वरूता**=तुम्हारे सब अशुभों का निवारण करनेवाले हैं। हे **अदिते**-अखण्डनीय **द्यावाभूमी**=द्युलोक व पृथिवीलोक! आप **नः**=हमारा **त्रासीथाम्**-रक्षण करिए। सारा ब्रह्माण्ड हमारे उत्तम निवास के लिए अनुकूल हो। (२) हे **देवाः**-देववृत्ति के पुरुषो! **कः**-वे प्रभु ही **अध्वरे**-इस जीवन यज्ञ में **वः**-आपके लिए **वरिवः**=ऐश्वर्य को **धाति**=धारण करते हैं। हे **वरुण**-सब अशुभों का निवारण करनेवाले **मित्र** सब प्रभीतियों (मृत्यु व पापों) से बचानेवाले प्रभो! **सहीयसः मर्तात्**=हमारा अभिभव करनेवाले मनुष्य से आप हमें रक्षित करिए।

भावार्थ—हम अपने निवास को उत्तम बनाएँ। प्रभु हमारा रक्षण करेंगे।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—विश्वे देवाः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

ब्रह्मचर्य में व गृहस्थ में

प्र ये धामा॑नि पू॒र्व्याण्यर्चा॒न्वि यदु॒च्छान्वि॑यो॒तारो॒ अमू॑राः।
वि॒धा॒तारो॒ वि ते द॑धु॒रज॑स्रा ऋ॒तधी॑तयो रुरुचन्त द॒स्माः॥ २॥

(१) **ये** जो लोग **पूर्व्याणि**-पालन व पूरण करनेवालों में उत्तम **धामानि** तेजों का **प्र अर्चान्**=प्रकर्षेण अर्चन करते हैं, अथवा पूर्व आश्रम में (ब्रह्मचर्याश्रम में) सम्पादनीय वीर्यरूप तेज का अर्चन करते हैं और **यत्** जब इस तेज के अर्चन द्वारा, ज्ञानाग्नि को दीप्त करके, **वि उच्छान्** अन्धकार को दूर करते हैं। **वियोतारः**-जो अज्ञानान्धकार को दूर करके बुराइयों को अपने से पृथक् करनेवाले हैं। ये लोग **अमूराः**-अमूढ़ हैं समझदार हैं। संसार में चलने का तरीका यही है कि पूर्व्य धाम-वीर्य का समादर करें, अज्ञानान्धकार को दूर करें और बुराइयों से अपने को बचाएँ यही ब्रह्मचारी का कर्त्तव्य है। (२) अब गृहस्थ में आकर **विधातारः** हम विशेषरूप से धारण करनेवाले बनें। **ते**-वे धारण करनेवाले लोग **अजस्राः** कार्यों को बीच में ही न छोड़ते हुए (जसु मोक्षणे) **विदधुः**-विशेषरूप से कार्यों को करते हैं। ये गृहस्थ **ऋत धीतयः** सत्यकर्मा होते हुए असत्य कर्मों से दूर हटते हुए **दस्माः**-औरों के दुःखों को दूर करनेवाले होकर अथवा दर्शनीय जीवनवाले होकर **रुरुचन्त**=संसार में चमकते हैं।

भावार्थ—ब्रह्मचर्य में हम तेज का धारण करें, अविद्यान्धकार को दूर करें और बुराइयों से अपने को अलग करें। गृहस्थ में धारणात्मक कर्मों में प्रवृत्त हों, निरन्तर क्रियाशील रहें, सत्यकर्मा व दर्शनीय जीवनवाले हों।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—विश्वे देवाः ॥ छन्दः—भुरिक्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

(घर को उत्तम बनाना) गृह देवता की उपासना

प्र प॒स्त्या३॑मदि॑तिं॒ सिन्धु॑म॒र्कैः स्व॒स्तिमी॑ळे स॒ख्याय॑ दे॒वीम्।
उ॒भे यथा॑ नो॒ अह॑नी नि॒पात॑ उ॒षासा॒नक्ता॑ करता॒मद॑ब्धे॥ ३॥

(१) **पस्त्यां देवीम्**-गृह का उत्तम निर्माण करनेवाली देवी को **सख्याय**-मित्रता के लिए मैं **ईडे**-स्तुत करता हूँ। घर को उत्तम बनाने के नियमों का मैं पालन करता हूँ। **अदितिम्** (अ दिति-खण्डन) स्वास्थ्य की देवी का मैं आराधन करता हूँ। **सिन्धुम्**-(स्यन्दते) प्रवाहमय इन रेतःकणों का मैं स्तवन करता हूँ। रेतःकणों के गुणों का ध्यान करके मैं इनके रक्षण के लिए यत्नशील होता हूँ। **अर्कैः**-मन्त्रों द्वारा मैं **स्वस्तिम्**-कल्याण की देवी का पूजन करता हूँ। ये स्तुति मन्त्र मुझे कल्याण के मार्ग से भटकने नहीं देते। (२) इन सब का मैं आराधन करता हूँ **यथा** जिससे **उभे**=दोनों दिन रात **नः** हमें **निपातः**-नितरां रक्षित करते हैं। **अदब्धे**-अहिंसित होते हुए **उषासानक्ता** दिन-रात हमारे लिए शुभों को ही **करताम्**-करनेवाले हों। दिन रात का अहिंसित होना यही है कि हम समय को व्यर्थ में व्ययित न करके उनका सदुपयोग ही करें। (३) मन्त्र से मुख्य गृहस्थ धर्म यही है कि हम गृह को उत्तम बनाएँ। यही गृह देवता की उपासना है। इसके लिए स्वास्थ्य को ठीक रखना आवश्यक है। यही अदिति का उपासन है। स्वास्थ्य के लिए रेतःकणों का रक्षण आवश्यक है। यही सिन्धु की उपासना है। ऐसा होने पर ही कल्याण होता है। यही स्वस्ति का उपासन हो जाता है।

भावार्थ—हम घर को अच्छा बनाएँ। स्वस्थ रहें। रेतःकणों का रक्षण करें। प्रभु स्मरणपूर्वक

कल्याण के मार्ग पर चलें। इस प्रकार प्रभु दिन-रात हमारा कल्याण ही करेंगे।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—विश्वे देवाः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

सुमार्ग

व्य॑र्य॒मा वरु॑णश्चेति॒ पन्था॑मि॒षस्पति॑: सुवि॒तं गा॒तुम॒ग्निः।
इन्द्रा॑विष्णू नृ॒वदु॑ षु स्तवा॑ना॒ शर्म॑ नो यन्त॒मम॑वद्वरू॑थम् ॥ ४ ॥

(१) **अर्यमा**-'अर्यमेति तमाहुर्यो ददाति' देने की वृत्ति-अलोभ की वृत्ति **पन्थाम्**-मार्ग को **विचेति** हमें बतलाती है। **वरुणः**-द्वेष-निवारण की देवी व व्रतबन्धन की देवी मार्ग को बतलाती है। **इषस्पतिः** वह सब प्रेरणाओं का स्वामी प्रभु **सुवितं गातुम्**=शुभगमन-शुभ आचरणवाले मार्ग को बतलाता है। **अग्निः**=वह अग्रणी प्रभु हमें सुवित गातु का उपदेश करता है। वस्तुतः मार्ग यही है कि (क) हम देनेवाले बनें, (ख) व्रतबन्धन में अपने को बाँधे, द्वेष को दूर करें, (ग) प्रभुप्रेरणा को सुनें, (घ) अग्रगति की भावनावाले हों। (२) **इन्द्राविष्णू** 'इन्द्र' शक्ति का प्रतीक है, 'विष्णु' व्यापकता का। ये इन्द्र और विष्णु-शक्ति व व्यापकता की देवियाँ **स्तवाना**-स्तुति की जाती हुई **उ षु**-निश्चय से अच्छी प्रकार **नः**-हमारे लिए **नृवत् शर्म**-प्रशस्त मनुष्योंवाले घर को 'यथानः सर्व इज्जनः संगत्या सुमना असत्' तथा **अमवत्**-शक्ति से युक्त **वरूथम्**=(Wealth) धन को **यन्तम्** दें। वस्तुतः घर वही अच्छा बनता है, जहाँ शक्ति व उदारता हो जहाँ मनुष्यों का स्वभाव नम्र हो, शरीर में शक्ति हो और धन हो।

भावार्थ—हम सुमार्ग पर चलें और घरों को अच्छा बनाएँ।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—विश्वे देवाः ॥ छन्दः—भुरिक्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

स्वस्थ निष्पापजीवन

आ पर्व॑तस्य म॒रुता॒मवां॑सि दे॒वस्य॑ त्रा॒तुर॑व्रि भग॑स्य।
पात्पति॒र्जन्या॒दंह॑सो नो मि॒त्रो मि॒त्रिया॑दु॒त न॑ उरुष्येत् ॥ ५ ॥

(१) मैं **पर्वतस्य**-शरीरस्थ इस मेरु-पर्वत के (रीढ़ की हड्डी के), **मरुताम्**=प्राणों के, **त्रातुः देवस्य**-उस रक्षक प्रभु के **भगस्य**-ऐश्वर्य की देवी के **अवांसि**=रक्षणों का **आ अव्रि**-सर्वथा वरण करता हूँ। मेरुदण्ड को सदा सीधा रखना स्वास्थ्य के लिए नितान्त आवश्यक है। प्राणसाधना मन की निर्मलता का साधन बनती है। रक्षक प्रभु का स्मरण हमें शक्ति सम्पन्न व आत्मविश्वासवाला बनाता है। ऐश्वर्य संसारयात्रा की पूर्ति का साधन बनता है। एवं ये सब वस्तुएँ मिलकर हमारा पूर्ण रक्षण करती हैं। (२) **पतिः**-(यादसांपतिः अप्पतिः-वरुण) वह रक्षक वरुण **नः**=हमें **जन्यात्**=लोगों के विषय में हो जानेवाले **अहसः**-पाप से **पात्**-रक्षित करे। हम इस प्रकार व्रतों के बन्धन में अपने को बाँधें और द्वेष से अपने को दूर करें कि हम लोगों के लिए कष्ट का कारण न बनें। **उत**-और **मित्रः**-वह पापों से बचानेवाला प्रभु **मित्रियात्**=मित्रों के विषय में हो जानेवाले पाप से **नः**-हमें **उरुष्येत्**=बचाए।

भावार्थ—हम रीढ़ की हड्डी को सीधा रखें, प्राणायाम करें, प्रभुस्मरण करें, ऐश्वर्य का सम्पादन करें, लोगों व मित्रों के विषय में पाप करने से बचें।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—विश्वे देवाः ॥ छन्दः—स्वराट्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

प्रभुस्मरण

नू रोदसी अहिना बुध्न्येन स्तुवीत देवी अप्येभिरिष्टैः।
समुद्रं न संचरणे सनिष्यवो घर्मस्वरसो नद्यो३ अप व्रन्॥ ६॥

(१) **नु** अब **अहिना बुध्न्येन**-अहीन बुध्नवाले अहीन आधारभूत प्रभु की प्राप्ति के दृष्टिकोण से **रोदसी**- द्यावापृथिवी **स्तुवीत**-हमारे से स्तुत हों। हम इन द्यावापृथिवी का स्तवन करें। इनके स्तवन में हम इनके उस अहीन आधारभूत प्रभु की महिमा को भी देखनेवाले बनेंगे। प्रभु ही तो इनको आधार दे रहे हैं, इस अनन्त से प्रतीयमान रोदसी के धारण करनेवाले वे प्रभु कितने ही महान् होंगे? (२) **अप्येभिः इष्टैः**-प्राप्त करने योग्य इष्ट पदार्थों के हेतु से **देवी** यह सब व्यवहारों व गतियों को करनेवाली स्वास्थ्य की देवी (अ-दिति) हमारे से आराधित होती है। स्वास्थ्य ही सब इष्ट पुरुष का मूल है 'धर्मार्थकाममोक्षाणामारोग्यं मूलमुत्तमम्'। (३) **सनिष्यवः** धनप्राप्ति की कामना करना **न**-जैसे **संचरणे**-मार्गों पर चलने के अवसर में **स-मुद्रम्** उस आनन्दमय प्रभु का स्मरण करना इसी प्रकार **घर्मस्वरसः** दीप्त- स्तुति के शब्दोंवाले (धर्मः दीप्त, स्वृ शब्दे) पुरुष ही **नद्यः अपव्रन्**-इन ज्ञान-नदियों के प्रवाहों को खोल डालते हैं। प्रभुस्तवन से ही धनार्थी धन प्राप्त करते हैं और ज्ञानार्थी ज्ञान नदियों के प्रवाहों में स्नान करते हैं। वैदिक साहित्य में ज्ञान को देनेवाला आचार्य भी 'समुद्र' है 'तपो प्रतिष्ठत्तप्यमानः समुद्रे'। ज्ञान का प्रवाह भी 'सरस्वती' नदी का प्रवाह है, इसमें स्नान करके विद्यार्थी 'स्नातक' बनता है।

भावार्थ—रोदसी (द्यावापृथिवी) का स्मरण, इनके आधारभूत 'अहिर्बुध्न्य' प्रभु का स्मरण कराता है। प्रभुस्मरण से प्राप्त स्वास्थ्य सब पुरुषार्थों का आधार बनता है। प्रभुस्मरण से धनार्थी धन लाभ करता है और ज्ञानार्थी ज्ञान को प्राप्त करता है।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—विश्वे देवाः ॥ छन्दः—स्वराट्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

सात्त्विक अन्न व दिव्य जीवन

देवैर्नो देव्यदितिर्नि पातु देवस्त्राता त्रायतामप्रयुच्छन्।
नहि मित्रस्य वरुणस्य धासिमर्हामसि प्रमियं सान्वग्नेः॥ ७॥

(१) **देवी**-सब व्यवहारों व गतियों को सिद्ध करनेवाली **अदितिः**-स्वास्थ्य की देवी **नः** हमें **निपातु** नितरां रक्षित करे। **त्राता देवः**-वह रक्षक प्रभु **अप्रयुच्छन्**-सदा अप्रमत्त होता हुआ **त्रायताम्** हमारा रक्षण करे, अर्थात् स्वास्थ्य का व प्रभुस्मरण का हम सदा ध्यान करें, इनमें प्रमाद न करें। (२) हम **मित्रस्य**-मित्र के **वरुणस्य**-वरुण के तथा **अग्नेः** अग्नि के **सानु** समुच्छ्रित सर्वोन्नत **धासिम्** आहार को **प्रमियम्**-हिंसित करने के लिए **नहि अर्हामसि**-नहीं योग्य हैं, अर्थात् हम सात्त्विक अन्न का ही प्रयोग करें, जिससे कि हम 'मित्र, वरुण व अग्नि' बनें, सब के साथ स्नेहवाले, निर्द्वेष व अग्रगतिवाले।

भावार्थ—हम स्वास्थ्यप्राप्ति व प्रभुस्मरण में अप्रमत्त हों। सात्त्विक अन्न का सेवन करते हुए 'सब के साथ स्नेह करनेवाले, निर्द्वेष व प्रगतिशील' बनें।

ऋषिः —वामदेवः ॥ देवता —विश्वे देवाः ॥ छन्दः —विराड्गायत्री ॥ स्वरः —षड्जः ॥

वसव्य+सौभग

अ॒ग्निरी॑शे वस॒व्य॑स्या॒ग्निर्म॒हः सौभ॑गस्य। तान्य॒स्मभ्य॑ं रासते ॥ ८ ॥

(१) **अग्निः** सम्पूर्ण संसार को गति देनेवाले प्रभु **वसव्यस्य**=सब धनसमूहों के **ईशे**-ईश हैं प्रभु सब धनों के स्वामी हैं। **अग्निः**-वे अग्रणी प्रभु ही **महः सौभगस्य**=महान् सौभाग्य के ईश हैं। (२) **तानि** उन वसव्यों व सौभगों को **अस्मभ्यम्**-हम उपासकों के लिए **रासते** वे देते हैं कि सच्ची उपासना यही है कि हम सब के मित्र व निर्द्वेष बनकर उन्नतिपथ पर आगे बढ़नेवाले बनें। जब हम इस प्रकार प्रगतिशील होंगे तो धनसमूहों व सौभगों को अवश्य प्राप्त करेंगे।

भावार्थ—हम अग्नि के उपासक बनें, अर्थात् अपने अन्दर **अग्नित्व** प्रगतिशीलता को धारण करें। इसी से हमें धन व सौभाग्य प्राप्त होंगे।

ऋषिः वामदेवः ॥ देवता —विश्वे देवाः ॥ छन्दः —विराड्गायत्री ॥ स्वरः —षड्जः ॥

'मघोनी-सूनृता-वाजिनीवती' उषा

उषो॑ म॒घो॒न्या व॑ह॒ सूनृ॑ते॒ वार्या॑ पु॒रु। अ॒स्मभ्य॑ं वाजिनीवति ॥ ९ ॥

(१) हे **उषः** उषा की देवी! तू **अस्मभ्यम्** हमारे लिए **पुरुवार्या**-पालक व पूरक वरणीय धनों को **आवह** प्राप्त करा। हम उषा में प्रबुद्ध होकर स्वकार्य तत्पर होते हुए वरणीय धनों को प्राप्त करनेवाले बनें। (२) हे उषः! तू (क) **मघोनि**-सब ऐश्वर्योंवाली है अथवा (मघः मखः यज्ञ) सब यज्ञोंवाली है। हम ऐश्वर्यों को प्राप्त करें और यज्ञों में उनका विनियोग करें। (ख) **सूनृते** हे उषः! तू प्रिय सत्यवाणीवाली है। तेरे में प्रबुद्ध होते हुए हम सदा प्रिय सत्यवाणी को ही बोलें। (ग) **वाजिनीवति**-तू प्रशस्त अन्नोंवाली है। उषा के उपासक हम सदा सात्त्विक अन्नों का ही सेवन करें।

भावार्थ—हम उषाकाल में जाएँ। यज्ञों में प्रवृत्त हों, प्रिय सत्यवाणी को ही बोलें और सात्त्विक अन्न का सेवन करें। यह उषा हमें सब वरणीय धनों को प्राप्त कराएगी।

ऋषिः —वामदेवः ॥ देवता —विश्वे देवाः ॥ छन्दः —गायत्री ॥ स्वरः —षड्जः ॥

धन+धन का स्वामी (प्रकृति+परमेश्वर)

तत्सु नः॑ सवि॒ता भगो॒ वरु॑णो मि॒त्रो अ॑र्य॒मा। इन्द्रो॑ नो॒ राध॒सा ग॑मत् ॥ १० ॥

(१) उषा **नः** हमें **तत्**-उस धन को दे, जिस **सुराधसा**-उत्कृष्ट ऐश्वर्य के साथ **सविता**-वह प्रेरक प्रभु **आगमत्** हमें प्राप्त हो। जिससे **भगः**=वह ऐश्वर्यों का स्वामी प्रभु हमारे जीवन यज्ञ में उपस्थित हो। ऐसा न हो कि ऐश्वर्यों को प्राप्त करके ऐश्वर्यों के स्वामी प्रभु को हम भूल जाएँ। उस प्रभु की प्रेरणा को हम सदा सुननेवाले ही बने रहें। (२) उस ऐश्वर्य के साथ **वरुणः**=वरुण **मित्रः** मित्र **अर्यमा** सर्वप्रदाता **इन्द्रः**-ऐश्वर्यशाली प्रभु भी हमें प्राप्त हो। इन वाक्यों से प्रभु का स्मरण करते हुए हम भी निर्द्वेष (वरुण) सब के प्रति स्नेहवाले (मित्र) त्याग व दान की वृत्तिवाले (अर्यमा) जितेन्द्रिय (इन्द्र) बनें।

भावार्थ—हम धनों को प्राप्त करें। साथ ही धनों के स्वामी प्रभु को न भूलकर 'निर्द्वेष, स्नेही, दाता व जितेन्द्रिय' बनें।

ऐसा होने पर अर्थात् धन के साथ धन स्वामी को न भूलने पर हमारे द्यावापृथिवी, मस्तिष्क

व शरीर बड़े उत्तम बनेंगे। इन 'द्यावापृथिवी' का वर्णन अगले सूक्त में है—

[५६] षट्पञ्चाशं सूक्तम्

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—द्यावापृथिव्यौ॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

'शुचयद्भिरर्कैः, पप्रथानेभिरेवैः'

मही द्यावापृथिवी इह ज्येष्ठे रुचा भवतां शुचयद्भिरर्कैः।
यत्सीं वरिष्ठे बृहती विमिन्वन्नुवद्धोक्षा पप्रथानेभिरेवैः॥ १॥

(१) **इह** इस हमारे जीवन यज्ञ में **मही द्यावापृथिवी**-ये महनीय अत्यन्त महत्त्वपूर्ण मस्तिष्क व शरीर रूप द्यावापृथिवी **रुचा**-दीप्ति से **ज्येष्ठे**-अत्यन्त प्रशस्त **भवताम्** हों। मस्तिष्क ज्ञानदीप्ति से तथा शरीर तेजस्विता की दीप्ति से दीप्त हो। (२) **यत्**-अब **सीम्**-निश्चय से **रुवत् उक्षा**-प्रभु-स्तवन करता हुआ और प्रभु-स्तवन के द्वारा शरीर व मस्तिष्क को सोम (वीर्य) से सिक्त करता हुआ (प्रभु स्तवन से ही तो सोम का रक्षण होता है) यह पुरुष **शुचयद्भिः अर्कैः** जीवन को पवित्र बनानेवाले मन्त्रों से तथा **पप्रथानेभिः एवैः** विस्तार को प्राप्त होती हुई गतियों से-उदार कर्मों से इनको **वरिष्ठे**-उरुतर (विशाल) व **बृहती** प्रवृद्ध शक्तिवाला **विमिन्वन्** बनाता है। मस्तिष्क को 'शुचयद्भिः अर्कैः' पवित्र ज्ञानप्रद मन्त्रों से उरुतर (विशाल) बनाता है तथा उदार कर्मों से शरीर को प्रवृद्ध शक्तिवाला। ऐसा करने पर हमारे द्यावापृथिवी महनीय व ज्येष्ठ बनते हैं, चमक उठते हैं।

भावार्थ—हम सोमरक्षण के द्वारा मस्तिष्क को ज्ञानदीप्त बनाएँ तथा शरीर को तेजस्विता से चमका दें। हम पवित्र ज्ञान की वाणियों व उदार कर्मों को अपनानेवाले हों।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—द्यावापृथिव्यौ॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

ऋतावरी अद्रुहा

देवी देवेभिर्यजते यजत्रैरमिनती तस्थतुरुक्षमाणे।
ऋतावरी अद्रुहा देवपुत्रे यज्ञस्य नेत्री शुचयद्भिरर्कैः॥ २॥

(१) गतमन्त्र में वर्णित द्यावापृथिवी (मस्तिष्क व शरीर) **देवेभिः**-दिव्यगुणों से **देवी**-प्रकाशमय होते हुए **यजत्रैः** यष्टव्य (यज पूजायाम्) पूजनीय बातों से **यजते**-आदरणीय होते हैं मस्तिष्क अपनी ज्ञानप्राप्ति के कारण तथा शरीर तेजस्विता के कारण। **अमिनती**-हमारा हिंसन न करते हुए ये **उक्षमाणे**-परस्पर सिक्त होते हुए **तस्थतुः** स्थिरता को प्राप्त होते हैं। वीर्यसेचन ही शरीररूप पृथिवी को दृढ़ और मस्तिष्करूप द्युलोक को ज्ञानदीप्त करता है। (२) ये द्यावापृथिवी **शुचयद्भिः अर्कैः**-हमारे जीवनों को पवित्र करनेवाले इन मन्त्रों से (ज्ञान-वचनों से) **ऋतावरी** ऋतवाले होते हैं-यज्ञादि उत्तम कर्मों में प्रवृत्त होते हैं। **अद्रुहा**-परस्पर द्रोहरहित होते हैं शरीर मस्तिष्क का व मस्तिष्क शरीर का ध्यान करता है। ये दोनों **देवपुत्रे**-दिव्यगुणों को जन्म देनेवाले होते हैं-देव इनके पुत्र होते हैं। ये **यज्ञस्य नेत्री**-जीवनयज्ञ का उत्तम प्रणयन करते हैं।

भावार्थ—हमारे मस्तिष्क व शरीर परस्पर मिलकर उन्नत होते हुए हमारे जीवन यज्ञ का सुन्दर प्रणयन करते हैं।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—द्यावापृथिव्यौ ॥ छन्दः—भुरिक्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

स्वपाः

स इत्स्वपा भुवनेष्वास य इमे द्यावापृथिवी जजान।
उर्वी गभीरे रजसी सुमेके अवंशे धीरः शच्या समैरत्॥ ३॥

(१) गतमन्त्र के अनुसार **यः**-जो **इमे**-इन **द्यावापृथिवी**-मस्तिष्क व शरीर को **जजान**-विकसित शक्तिवाला करता है **सः इत्**=वह ही **भुवनेषु**-इन लोकों में **स्वपाः आस**-उत्तम कर्मोंवाला होता है। केवल शरीर का स्वास्थ्य हमें उत्तम कर्मों में समर्थ नहीं करता और केवल मस्तिष्क का ज्ञान भी। स्वास्थ्य व ज्ञान का समन्वय-इनका परस्पर अद्रोह ही हमें 'स्वपाः' बनाता है। (२) **धीरः** एक धीर पुरुष **शच्या**-शक्ति व प्रज्ञान द्वारा इन द्यावापृथिवी को **अ-वंशे** उत्पत्तिरहित अथवा निराधार होते हुए उस सर्वाधार प्रभु में (जो वंशरहित है, उस प्रभु में) **समैरत्**-प्रेरित करता है। धीर पुरुष शरीर व मस्तिष्क को प्रभु की ओर ले चलता है। वस्तुतः इसीलिए इसके ये मस्तिष्क व शरीर **उर्वी**-विशाल **गभीरे**-गांभीर्य को लिये हुए **रजसी**=रञ्जनात्मक प्रसन्नता को उत्पन्न करनेवाले व **सुमेके**=उत्तम निर्माणवाले होते हैं (सु-मेक-make)।

भावार्थ—हम द्यावापृथिवी को-मस्तिष्क व शरीर को विकसित शक्तिवाला करके उत्तम कर्मोंवाले बनें। इन्हें हम शक्ति व प्रज्ञानयुक्त कर प्रभु की ओर प्रेरित करनेवाले हों।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—द्यावापृथिव्यौ ॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

पत्नी की अनुकूलता

नू रोदसी बृहद्भिर्नो वरूथैः पत्नीवद्भिरिषयन्ती सजोषाः।
उरूची विश्वे यजते नि पातं धिया स्याम रथ्यः सदासाः॥ ४॥

(१) **नु** अब **रोदसी**-ये द्यावापृथिवी मस्तिष्क व शरीर **नः**-हमारे लिए **बृहद्भिः वरूथैः** वृद्धि के कारणभूत धनों के साथ **सजोषाः**-समानरूप से प्रीतिपूर्वक सेवन करनेवाले हों। हमारा मस्तिष्क हमें ज्ञानधन प्राप्त कराए तो शरीर शक्तिधन को। **पत्नीवद्भिः** उत्तम पत्नी दोनों धनों के साथ **इषयन्ती** हमारे लिए ये द्यावापृथिवी उत्तम अन्नों को चाहनेवाले हों। घरों में पत्नी की अनुकूलता हो और प्रशस्त अन्न की कमी न हो। (२) हमारे ये द्यावापृथिवी **उरूची**-विशाल गतिवाले हों मस्तिष्क भी उदार और शरीर भी उदार। **विश्वे**-ये सारे अर्थात् पूर्ण (whole) हों-इनमें कमी न हो। **यजते**-ये यज्ञादि कर्मों में प्रवृत्त होनेवाले होते हुए **निपातम्**-निश्चय से हमारा रक्षण करें। (२) हम **धिया**-बुद्धिपूर्वक कर्मों द्वारा (धी=बुद्धि, कर्म) **रथ्यः**=उत्तम शरीर-रथवाले व **सदा सा**ः=सदा उस प्रभु का सम्भजन करनेवाले हों।

भावार्थ—हमें उत्तम धन व अन्न प्राप्त हों। पत्नी की अनुकूलता से हमारे मस्तिष्क व शरीर दोनों ठीक हों। बुद्धिपूर्वक कर्मों को करते हुए हम उत्तम शरीर-रथवाले, सदा प्रभु का सम्भजन करनेवाले हों।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—द्यावापृथिव्यौ ॥ छन्दः—निचृद्गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

'द्रवी-शुची'

प्र वां महि द्यवी अभ्युपस्तुतिं भरामहे। शुची उप प्रशस्तये॥ ५॥

(१) हे **द्यवी**-द्योतमान-ज्ञान व शक्ति से चमकते हुए द्यावापृथिवी (मस्तिष्क व शरीर)

वाम् आपकी **महि उपस्तुतिम्** महनीय स्तुति को **अभि प्रभरामहे** प्रातः सायं धारण करते हैं। प्रातः सायं दोनों समय मस्तिष्क व शरीर को उत्तम बनाने का ध्यान करते हैं। (२) **शुची** पवित्र मस्तिष्क व शरीर को **प्रशस्तये**-प्रशस्त जीवन के लिए **उप (गच्छामः)** समीपता से प्राप्त होते हैं। मस्तिष्क व शरीर दोनों पवित्र हों, तो सब कर्म प्रशस्त ही होते हैं।

भावार्थ—हमारे मस्तिष्क व शरीर 'द्यवी शुची'-दीप्त व पवित्र हों।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—द्यावापृथिव्यौ॥ छन्दः—विराड्गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

ऋतमय जीवन

पुनाने तन्वा मिथः स्वेन दक्षेण राजथः। ऊह्याथे सनादृतम्॥ ६॥

(१) ये द्यावापृथिवी मस्तिष्क व शरीर **मिथः** परस्पर **तन्वा** शक्ति के विस्तार के साथ **पुनाने** एक दूसरे को पवित्र करते हुए (शरीर स्वस्थ हो तो मस्तिष्क स्वस्थ लगता है। मस्तिष्क स्वस्थ हो तो शरीर स्वस्थ होता है) **स्वेन** अपने **दक्षेण**-बल से **राजथः** दीप्त होते हैं। मस्तिष्क ज्ञान से चमकता है, तो शरीर शक्ति से दीप्त है। (२) ये मस्तिष्क और शरीर **सनाद्** सदा से **ऋतम्** यज्ञ का जो भी ठीक है, उसका **ऊह्याथे** वहन करते हैं। मस्तिष्क व शरीर के ठीक होने से जीवन ऋतमय बनता है।

भावार्थ—मस्तिष्क व शरीर एक दूसरे की शक्ति का वर्धन करते हुए जीवन को ऋतमय बनाते हैं।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—द्यावापृथिव्यौ॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

जीवन-यज्ञ का रक्षण

मही मित्रस्य साधथस्तरन्ती पिप्रती ऋतम्। परि यज्ञं नि षेदथुः॥ ७॥

(१) **मही** ये महनीय महत्त्वपूर्ण द्यावापृथिवी मस्तिष्क व शरीर **मित्रस्य** अपने मित्र के जो भी व्यक्ति मस्तिष्क व शरीर की उन्नति के लिए कटिबद्ध होता है, उसके **ऋतम्** इस जीवन यज्ञ को **साधथः** सिद्ध करते हैं। **तरन्ती** ये इस जीवन यज्ञ में आनेवाले सब विघ्नों को तैर जाते हैं और **पिप्रती** इस जीवन यज्ञ का सम्यक् पूरण करते हैं। (२) ये द्यावापृथिवी उस **यज्ञं परि निषेदथुः** यज्ञ को (परितः) सब ओर से आश्रय करते हैं सर्वतोभावेन जीवन यज्ञ का रक्षण करते हैं।

भावार्थ—इस जीवन यज्ञ को उत्तम बनाने के लिए 'महायन्त्र प्रधान संस्कृति' घातक ही है, कृषि प्रधान संस्कृति ही जीवन को उत्तम बना सकती है। सो उसका चित्रण अगले सूक्त में करते हैं—

[५७] सप्तपञ्चाशं सूक्तम्

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—क्षेत्रपतिः॥ छन्दः—अनुष्टुप्॥ स्वरः—गान्धारः॥

क्षेत्रपति प्रभु

क्षेत्रस्य पतिना वयं हितेनेव जयामसि। गामश्वं पोषयित्न्वा स नो मृळातीदृशे॥ १॥

(१) **क्षेत्रस्य पतिना** सब क्षेत्रों के स्वामी उस प्रभु के साथ **वयम्** हम **हितेन इव** जैसे मित्र के साथ, उसी प्रकार **गाम्** गौओं को, **अश्वम्** अश्वों को और **आ पोषयित्नु** समन्तात् पोषण करनेवाले धन को **जयामसि** जीतते हैं। दसवें मण्डल में कहेंगे कि 'तत गावः' उस कृषि

प्रधान जीवन में गौवें हैं। इसी प्रकार कृषि-प्रधान जीवन में घोड़ों व आवश्यक धनों की कमी नहीं रहती। यह आवश्यक है कि हम प्रभु के स्वामित्व को भूल न जाएँ। अपने को ही मालिक मान गर्वीले न हो जाएँ। (२) **सः**=वे प्रभु **नः**-हमें **ईदृशे**-ऐसे धनों के होने पर **मृडाति**-सुखी करते हैं। जब हमारा जीवन कृषि-प्रधान होता है, तो सब जीवन के आवश्यक धन प्राप्त होते हैं और जीवन स्वर्गमय बना रहता है।

भावार्थ—हम 'सीरा युञ्जन्ति कवयः' कवि बनकर कृषि प्रधान जीवन बिताएँ। वहाँ गौवों, घोड़ों व आवश्यक धनों को प्राप्त करके सुखी जीवनवाले हों। अपने क्षेत्र का पति प्रभु को ही जानें।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—क्षेत्रपतिः॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

दूध, घी, माधुर्य, प्रकाश व ऋत

क्षेत्रस्य पते मधुमन्तमूर्मिं धेनुरिव पयो अस्मासु धुक्ष्व।
मधुश्चुतं घृतमिव सुपूतमृतस्य नः पतयो मृळयन्तु ॥ २॥

(१) हे **क्षेत्रस्य पते** सब क्षेत्रों के स्वामिन् प्रभो! **अस्मासु**=हमारे में **मधुमन्तम्**-अत्यन्त मायुर्ध को लिये हुए **ऊर्मिम्**-(Light) प्रकाश को उसी प्रकार **धुक्ष्व**=प्रपूरित करिए, **इव** जैसे कि **धेनुः** गौ **पयः**-दूध को हमारे में पूरित करे। कृषि-प्रधान जीवन में प्रभु गौवों के द्वारा दूध को प्राप्त कराके हमें सात्त्विक बुद्धिवाला बनाएँगे। इसी सात्त्विक बुद्धि से हमारा जीवन माधुर्य व प्रकाश से परिपूर्ण होगा। (२) **मधुश्चुतम्**-माधुर्य को टपकानेवाले **सुपूतम्** उत्तम पवित्र **घृतं इव** घृत की तरह प्रभु हमें माधुर्ययुक्त प्रकाश को भी प्राप्त कराएँ। कृषि प्रधान जीवन में जैसे पवित्र दूध था, उसी प्रकार यह अति पवित्र घृत है। इनके परिणामस्वरूप वहाँ माधुर्य व प्रकाश है। (२) इस कृषि प्रधान जीवन में **ऋतस्य पतयः** यज्ञों के रक्षक देव **नः** हमें **मृडयन्तु**-सुखी करें। यहाँ हमारा जीवन यज्ञात्मक बना रहे और अनृत से हम दूर रहें। कृषि के साथ अज्ञान कहीं न आ जाए। यह अज्ञान इस ऋतमय कृषि को 'अनृत' ही बना डालेगा।

भावार्थ—कृषि प्रधान जीवन में प्रभु हमें उत्तम दूध, पवित्र घृत, माधुर्य व प्रकाश को प्राप्त कराएँ। प्रकाश से परिपूर्ण यह जीवन ऋतमय बना रहे। (अज्ञान तो इसे अनृत बना देगा। उस समय मनुष्य गेहूँ की जगह तम्बाकू ही पैदा करने लगेगा)।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—क्षेत्रपतिः॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

माधुर्य ही माधुर्य

मधुमतीरोषधीर्द्याव आपो मधुमन्नो भवत्वन्तरिक्षम्।
क्षेत्रस्य पतिर्मधुमान्नो अस्त्वरिष्यन्तो अन्वेनं चरेम॥ ३॥

(१) इस कृषि प्रधान जीवन में **ओषधीः मधुमतीः**-ओषधियाँ माधुर्यवाली हों। **द्यावः**-द्युलोक व वहाँ से बरसनेवाले **आपः**-जल माधुर्यवाले हों। द्युलोकस्थ सूर्य ने ही तो हमारे क्षेत्रस्थ अन्नों को परिपक्व करना है। वायु देवता का निवास स्थान यह **अन्तरिक्षम्** अन्तरिक्ष **नः** हमारे लिए **मधुमत् भवतु** माधुर्यवाला हो। इसी वायु का नत्रजन (गैस) ही तो हमारे खेतों को उपजाऊ बनाएगा। (२) **क्षेत्रस्य पतिः**-सब क्षेत्रों का स्वामी प्रभु **नः**-हमारे लिए **मधुमान् अस्तु** माधुर्यवाला हो-प्रभु की अनुकूलता से ही यह मही शस्यशालिनी होती है। **अरिष्यन्तः** अहिंसित होते हुए हम **एनं अनुचरेम**-प्रभु की अनुकूलता में गतिवाले हों। प्रभु स्मरण ही हमें

वासनाओं से हिंसित होने से बचाएगा।

भावार्थ—ओषधियाँ, द्युलोक, जल, अन्तरिक्ष और इनके स्वामी वे प्रभु सब हमारे लिए माधुर्य प्रदान करनेवाले हों।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—शुनः॥ छन्दः—अनुष्टुप्॥ स्वरः—गान्धारः॥

सब सुखकर हो

शुनं वाहाः शुनं नरः शुनं कृषतु लाङ्गलम्। शुनं वरत्रा बध्यन्तां शुनमष्ट्रामुदिङ्गय॥ ४॥

(१) इस कृषि में **वाहाः** हल को चलानेवाले बैल **शुनम्** सुख से अपना कार्य करें। **नरः** उन बैलों को हाँकनेवाले पुरुष भी **शुनम्** सुख से अपना कार्य करें। **लांगलम्** हल भी **शुनम्** सुख सुविधा से **कृणतु** भूमि को जोते। (२) **वरत्राः** रज्जुएँ भी **शुनम्** सुखकर होकर **बध्यन्ताम्** बाँधी जाएँ। तथा हे पुरुष! **अष्ट्राम्** इस प्रतोद (चाबुक) को **शुनम्** सुखकर रूप में ही **उद् इंगय** ऊपर उठा। क्रूरता से इसका प्रयोग करने का अवसर ही न आए।

भावार्थ—बैल, मनुष्य, हल, रस्सियाँ और चाबुक सब सुखकर हों। इनका व्यवहार व प्रयोग इस रूप में हो कि सुखवृद्धि ही हो-उसमें कमी न आये।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—शुंनासीरौ॥ छन्दः—पुरउष्णिक्॥ स्वरः—ऋषभः॥

शुनासीरौ

शुनासीराविमां वाचं जुषेथां यद्दिवि चक्रथुः पयः। तेनेमामुप सिञ्चतम्॥ ५॥

(१) 'शुनो वायुः शु एति अन्तरिक्षे, सीरः आदित्यः सरणात्' नि० ९।४० के अनुसार **शुनासीरौ** वायु और सूर्य **इमां वाचं जुषेथाम्** हमारी इस वाणी का प्रीतिपूर्वक सेवन करें, **यत्** कि **दिवि** द्युलोक में ये **पयः चक्रथुः**-जल को करें और **तेन** उस जल से **इमाम्** इस भूमि को **उपसिञ्चतम्** सींचें। (२) सूर्य से ही जल वाष्पीभूत होकर द्युलोक में पहुँचता है और उससे बने हुए पर्जन्यों को वायुएँ ही उस उस स्थान पर प्राप्त कराती हैं। इन दोनों के द्वारा जल से सींची गयी यह पृथिवी जिस अन्न को पैदा करती है, वह सर्वाधिक गुणकारी होता है।

भावार्थ—वायु व सूर्य द्युलोक में मेघों को जन्म देकर पृथिवी को सींचें और हमें मधुर अन्न प्राप्त कराएँ।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—सीता॥ छन्दः—अनुष्टुप्॥ स्वरः—गान्धारः॥

सीता

अर्वाची सुभगे भव सीते वन्दामहे त्वा। यथा नः सुभगाससि यथा नः सुफलाससि॥ ६॥

(१) हे **सीते** भूमिकर्षिके (द०) हल की फाली! तू **अर्वाची भव**-(अर्वाक् अञ्चति) भूमि में पर्याप्त नीचे जानेवाली हो। कुछ गहरी ही भूमि खुदेगी तो उसकी उपजाऊ शक्ति बढ़ेगी सूर्य की किरणों का अधिक भूभाग तक सम्पर्क होगा, यह सम्पर्क उसे उपजाऊ बनाएगा। हे **सुभगे** उत्तम ऐश्वर्य की कारणभूत **सीते त्वा वन्दामहे**-तेरा हम स्तवन गुणवर्णन करते हैं। इस स्तवन से तेरे महत्त्व को समझकर हम तेरा ठीक प्रयोग करते हैं। (२) यह हम इसलिए करते हैं कि **यथा** जिससे तू **नः**=हमारे लिए **सुभगा** उत्तम ऐश्वर्य को देनेवाली **असमि** होती है, **यथा** जिससे **नः** हमारे लिये **सुफला** उत्तम फलोंवाली **असमि**-होती है।

भावार्थ—हम सीता (लांगल पद्धति) के महत्त्व को समझकर गहराई तक भूमि को जोतें जिससे उत्तम कृषि होकर हमारा ऐश्वर्य बढ़े।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—सीता ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

इन्द्रः-पूषा

इन्द्रः सीतां नि गृह्णातु तां पूषानु यच्छतु। सा नः पयस्वती दुहामुत्तरामुत्तरां समाम् ॥ ७ ॥

(१) **इन्द्रः**-राष्ट्र का शासक राजा **सीताम्**=इस लांगल पद्धति को-कृषि कार्य को **निगृह्णातु**-निग्रह में रखे उन अन्नों को उपजाने का नियम करे, जो कि मानव के लिए हितकर हैं। **पूषा** समाज शरीर का पोषण करनेवाला वैश्य **ताम्**=उस सीता को **अनुयच्छतु**=राजाज्ञा के अनुसार काबू करे। राजा व्यवस्था करे और वैश्य उस व्यवस्था के अनुसार कृषि कराएँ। (२) **सा**=वह सीता **नः**-हमारे लिए **पयस्वती**=आप्यायन के हेतुभूत अन्नों के देनेवाली होती हुई **उत्तरां उत्तरां समाम्**-अगले अगले वर्षों में **दुहाम्**-उत्तम अन्नों का दोहन करनेवाली हो।

भावार्थ—कृषि पर भी राजा का नियन्त्रण हो, वैश्य उसे अनुकूलता से कराएँ।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—शुंनासीरौ ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

सभी सुखकर हों

शुनं नः फाला वि कृषन्तु भूमिं शुनं कीनाशा अभि यन्तु वाहैः।
शुनं पर्जन्यो मधुना पयोभिः शुनासीरा शुनमस्मासु धत्तम् ॥ ८ ॥

(१) **फालाः**=लोहफलक (हल के अग्रभाग में लगी फाली) **नः**=हमारे लिए **शुनम्**-सुखकर रूप में **भूमिम्**-भूमि को **विकृणन्तु**=खोदें। **कीनाशाः**-कृषक **वाहैः**-बैलों के साथ **शुनम्**-सुखकर रूप में **अभियन्तु**=खेतों में आगे-पीछे गतिवाले हों। (ग) **पर्जन्यः**-बादल भी **मधुना पयोभिः**-मधुर जलों के हेतु से **शुनम्**=सुखकर होकर बरसे **शुनासीरा**=वायु और आदित्य **अस्मासु**-हमारे में **शुनम्**-सुख को **धत्तम्**-धारण करें। इस कृषि कार्य में भाग लेनेवाले 'लोहफलक, कृषक, बैल, बादल, वायु और सूर्य' सभी सुखकर हों।

भावार्थ—कृषिकार्य में भाग लेनेवाले सभी तत्त्व व प्राणी हमारे लिए सुखकर हों।

इन सब से उत्तम अन्नों को प्राप्त करके हमारा जीवन सुखी होता है। हमें गौवों व घृत की भी प्राप्ति होती है। इनका उल्लेख अगले सूक्त में है। वेदवाणी ही गौ है। उससे प्राप्त होनेवाला ज्ञान ही घृत है—

[५८] अष्टपञ्चाशं सूक्तम्

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—अग्निः सूर्यो वाऽपो वा गावो वा घृतं वा ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥
स्वरः—धैवतः ॥

'वाक् चैव मधुराश्लक्ष्णा प्रयोज्या धर्मप्रिच्छता'

समुद्रादूर्मिर्मधुमाँ उदारदुपांशुना सममृतत्वमानट्।
घृतस्य नाम गुह्यं यदस्ति जिह्वा देवानाममृतस्य नाभिः ॥ १ ॥

(१) वैदिक साहित्य में प्रभु तो समुद्र हैं ही (स+मुद्) सदा आनन्दमय हैं। आचार्य भी ज्ञान का समुद्र है। **समुद्रात्**-सृष्टि के प्रारम्भ में प्रभु से, तदनन्तर गुरु-शिष्य परम्परा से **मधुमान्**-अत्यन्त माधुर्य को लिये हुए **ऊर्मिः**-ज्ञान का प्रकाश **उदारत्**-उत्कर्षेण प्राप्त होता है। ज्ञान हमारे जीवन में माधुर्य को उत्पन्न करता है। **उप अंशुना**=प्रभु की उपासना से व आचार्य के चरणों में बैठने से प्राप्त ज्ञान किरणों से मनुष्य **अमृतत्वम्**=अमृतत्व को **समानट्**=सम्यक् प्राप्त करता है। (२)

घृतस्य ज्ञानदीप्ति के परिणामस्वरूप **नाम** विनय **यत्** जब **गुह्यम्** हृदय गुहा में होनेवाली **अस्ति** है, तो उस समय **देवानाम्** देवों की **जिह्वा** वाणी ज्ञान को देनेवाली वाणी **अमृतस्य नाभिः** अमृत का केन्द्र प्रतीत होती है। ज्ञान को देती हुई देवों की वाणी अमृतवर्षण करती हुई मालूम देती है।

भावार्थ—आचार्य से प्राप्त होनेवाला ज्ञान हमें मधुर बनाता है और अन्ततः मोक्ष को प्राप्त कराता है। इस ज्ञान से विनीत हृदयवाले विद्वान् जिह्वा से ज्ञानामृत का वर्षण करते प्रतीत होते हैं।

ऋषिः —वामदेवः ॥ देवता — अग्निः सूर्यो वाऽपो वा गावो वा घृतं वा ॥ छन्दः — त्रिष्टुप् ॥
स्वरः — धैवतः ॥

शिक्षण-व्यवस्था

वयं नाम प्र ब्रवामा घृतस्यास्मिन्यज्ञे धारयामा नमोभिः।
उप ब्रह्मा शृणवच्छस्यमानं चतुःशृङ्गोऽवमीद्गौर एतत् ॥ २ ॥

(१) **वयम्** हम **घृतस्य** ज्ञानदीप्ति के **नाम** यश का **प्रब्रवाम** कथन करते हैं ज्ञान की महिमा का ध्यान करते हुए हम ज्ञान को धारण करनेवाले बनते हैं। **अस्मिन् यज्ञे** इस जीवन यज्ञ में **नमोभिः** नम्रताओं से **धारयाम** हम ज्ञान का धारण करते हैं नम्रता से ही ज्ञान प्राप्त होता है 'तद्विद्धि प्रणिपातेन'। (२) **शस्यमानम्** हमारे से उच्चारण किये जाते हुए इस ज्ञान को **ब्रह्मा** चतुर्वेदवित् आचार्य **उपशृणवत्** समीपता से सुनते हैं। इन **चतुःशृंगः** चार वेदवाणीरूप शृंगोंवाले **गौरः** शुद्ध जीवनवाले आचार्य ने ही तो **एतत्** इस ज्ञान का **अवमीत्** उद्गिरण किया था। आचार्य ने अपनी वाणी से इस ज्ञान को दिया था। अब आचार्य उसे विद्यार्थी से सुन रहे हैं।

भावार्थ—ज्ञान की महिमा को जानते हुए हम नम्रता से इस ज्ञान का धारण करें। चतुर्वेदवित् आचार्य हमें ज्ञान दें और हमारे से उसे सुनें।

ऋषिः —वामदेवः ॥ देवता — अग्निः सूर्यो वाऽपो वा गावो वा घृतं वा ॥ छन्दः — भुरिक्पङ्क्तिः ॥
स्वरः — पञ्चमः ॥

ज्ञानयज्ञ

चत्वारि शृङ्गा त्रयो अस्य पादा द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य।
त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महो देवो मर्त्यां आ विवेश ॥ ३ ॥

(१) **अस्य** इस ब्रह्मयज्ञ के **चत्वारि शृंगाः** चार वेद ही चार शृंग हैं। **त्रयः पादाः** तीन सवन ही इसके तीन पाद हैं। आचार्यकुल में बीतनेवाली तीन रात्रियाँ ही इसके तीन पाद हैं 'तिस्रो रात्रीर्यदवात्सीर्गृहे मे' (कठोपनिषत्)। **द्वे शीर्षे** प्रकृति विद्या (अविद्या) और आत्मविद्या (विद्या) ही इसके दो सिर हैं। **अस्य** इसके **सप्त हस्तासः** गायत्री आदि सात छन्द ही सात हाथ हैं। (२) **त्रिधा बद्धः** 'ऋग्, यजु, साम' 'ज्ञान, कर्म, उपासना' के रूप से तीन प्रकार से बँधा हुआ **वृषभः** यह सुखों का वर्षक ज्ञानवृषभ **रोरवीति** गर्जना करता है। इस ज्ञानवृषभ पर आरूढ़ हुआ हुआ **महो देवः** महान् देव **मर्त्यान् आ विवेश** मनुष्यों में प्रवेश करता है। ज्ञान ही तो प्रभुप्राप्ति का साधन है। यह सुखवर्षक होने से 'वृषभ' है। आनन्दित करनेवाला आनन्दी है। इसके होने पर, ईश्वर हमें क्यों न प्राप्त होंगे। सब ज्ञानों के अधिष्ठाता प्रभु ही तो हैं।

भावार्थ—ज्ञानवृषभ के चार वेद ही चार सींग हैं और इस वृषभ को अपनाने से इस पर आरूढ़ देवों के देव महादेव परमात्मा को हम प्राप्त करते हैं।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—अग्निः सूर्यो वाऽपो वा गावो वा घृतं वा ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥
स्वरः—गान्धारः ॥

इन्द्र, सूर्य व वेन

त्रिधा हितं पणिभिर्गुह्यमानं गवि देवासो घृतमन्वविन्दन्।
इन्द्र एकं सूर्य एकं जजान वेनादेकं स्वधया निष्टतक्षुः ॥ ४ ॥

(१) **पणिभिः**=स्तुति की वृत्तिवाले पुरुषों से **त्रिधा**=तीन प्रकार से, माता, पिता व आचार्य के सम्पर्क में आकर 'त्रिभिरेत्य सन्धिम्' (कठोपनिषत्) **हितम्**=जो अपने में स्थापित किया गया है, **गवि**=ज्ञान की इन वाणियों रूप गौ में **गुह्यमानम्**=छिपा कर जो रखा गया है, उस **घृतम्**=ज्ञानदीप्ति को **देवासः**=देववृत्ति के पुरुष **अन्वविन्दन्**=अनुक्रम से प्राप्त करते हैं। (२) **इन्द्रः**=जितेन्द्रिय पुरुष ही **एकम्**=ऋग्, अर्थात् विज्ञानरूप ज्ञान के एक अंश को **जजान**=अपने में प्रादुर्भूत करता है। **सूर्यः**=(सरणात्) नित्य कर्मों में लगे रहनेवाला गृहस्थ-पुरुष ही **एकम्**=यजुः रूप कर्मों के ज्ञान को **जजान**=अपने में विकसित करता है। और **वेनात्**=प्रभुप्राप्ति की प्रबल कामनावाले आत्मरति पुरुष से **एकम्**=सामरूप उपासनात्मक ज्ञान को **स्वधया**=आत्मधारण के हेतु से **निष्टतक्षुः**=सम्पादित करते हैं।

भावार्थ—'इन्द्र' जितेन्द्रिय ब्रह्मचारी विज्ञान को प्राप्त करता है। निरन्तर क्रियाशील गृहस्थ यज्ञों का ज्ञान प्राप्त करता है और आत्मरति वनस्थ प्रभु की उपासना का ज्ञान प्राप्त करके आत्मा के धारण में प्रवृत्त होता है।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—अग्निः सूर्यो वाऽपो वा गावो वा घृतं वा ॥ छन्दः—निचृदुष्णिक् ॥
स्वरः—ऋषभः ॥

ज्ञानधाराओं में

एता अर्षन्ति हृद्यात्समुद्राच्छतव्रजा रिपुणा नावचक्षे।
घृतस्य धारा अभि चाकशीमि हिरण्ययो वेतसो मध्य आसाम् ॥ ५ ॥

(१) **हृद्यात्**=हृदयदेश में रहनेवाले **समुद्रात्**=सदा आनन्दमय प्रभु से **एताः**=ये **शतव्रजाः**=शतवर्षपर्यन्त चलनेवाली व अनन्त गतियोंवाली (विविध विषयों का ज्ञान देनेवाली) ज्ञानधाराएँ **अर्षन्ति**=हमें प्राप्त होती हैं। ये **रिपुणा**=वासनात्मक शत्रु से **अवचक्षे न**=देखने के लिये नहीं होतीं। इनके होने पर वासनात्मक शत्रु का आक्रमण नहीं होता। (२) एक उपासक कहता है कि मैं **घृतस्य**=इस ज्ञानदीप्ति की **धाराः**=धाराओं को **अभिचाकशीमि**=मैं अपने चारों ओर देखता हूँ। ज्ञानसमुद्र में ही स्नान करता हूँ और देखता हूँ कि **हिरण्ययः**=वह ज्योतिर्मय **वेतसः**=अग्नि (वी गतौ श्वेतस, अग् गतौ अग्नि) नामक प्रभु ही **आसाम्**=इनके **मध्ये**=मध्य में हैं 'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति'।

भावार्थ—हृदयस्थ प्रभु से ज्ञानधाराओं के प्राप्त होने पर वासना का आक्रमण नहीं होता। हम अपने को इन ज्ञानधाराओं में घिरा हुआ पाते हैं और देखते हैं कि इन सबका मुख्य प्रतिपाद्य विषय प्रभु ही हैं।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—अग्निः सूर्यो वाऽपो वा गावो वा घृतं वा॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्॥
स्वरः—गान्धरः॥

श्रद्धा व मनन से

सम्यक्स्त्रवन्ति सरितो न धेना अन्तर्हृदा मनसा पूयमानाः।
एते अर्षन्त्यूर्मयो घृतस्य मृगाइव क्षिपणोरीषमाणाः ॥ ६ ॥

(१) **अन्तर्हृदा**=हृदय के अन्तस्तल से-पूर्ण श्रद्धा से तथा **मनसा**=मनन से-विचार से **पूयमानाः**=पवित्र की जाती हुई **धेनाः**=वेदवाणियाँ **सरितः न**=नदियों के समान **सम्यक्स्त्रवन्ति**=हमारे जीवन में सम्यक् प्रवाहित होती हैं। श्रद्धा व मनन से ही तो ज्ञान प्राप्त होता है। (२) हमारे जीवनों में **एते**=ये **घृतस्य ऊर्मयः**=ज्ञानदीप्ति की रश्मियाँ **अर्षन्ति**=प्राप्त होती हैं। इस प्रकार शीघ्रता से प्राप्त होती हैं, **इव**=जैसे कि **क्षिपणोः**=व्याध से (अस्त्रों का प्रक्षेप करनेवाले शिकारी से) **ईषमाणाः**=भय के कारण भागते हुए **मृगाः**=मृग कक्षदेश को प्राप्त होते हैं।

भावार्थ—श्रद्धा व मनन से हमारे में ज्ञानवाणियों का प्रवाह चलता है। उस समय ये ज्ञानवाणियाँ हमें शीघ्रता से प्राप्त होती हैं।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—अग्निः सूर्यो वाऽपो वा गावो वा घृतं वा॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्॥
स्वरः—गान्धारः॥

आशातीत उन्नति

सिन्धोरिव प्राध्वने शूघनासो वातप्रमियः पतयन्ति यह्वाः।
घृतस्य धारा अरुषो न वाजी काष्ठा भिन्दन्नूर्मिभिः पिन्वमानः॥ ७॥

(१) **इव**=जैसे **सिन्धोः**=नदी से जल **प्राध्वने**=(प्रवणवति देशे सा०) निम्न देश में **शूघनासः**=शीघ्र गमनवाले होते हैं, इसी प्रकार ज्ञान के समुद्र आचार्य से भी **वातप्रतिमः**=वायुवत् प्रकृष्ट वेगवाली **यह्वाः**=महान् **घृतस्य धाराः**=ज्ञान की धाराएँ भी विनीततावाले विद्यार्थियों की ओर **पतयन्ति**=शीघ्र गतिवाली होती हैं। ये ज्ञान की धाराएँ उन्हें वायुवत् सततगामी, सदा क्रियाशील बनाती हैं और जीवन में उन्हें महान् बनाती हैं। (२) **ऊर्मिभिः पिन्वमानः**=इन ज्ञानरश्मियों से बढ़ता हुआ यह विद्यार्थी **काष्ठाः भिन्दन्**=सब सीमाओं का विदारण करता हुआ आगे बढ़ता है, **न**=जैसे कि **अरुषः**=आरोचमान **वाजी**=बलवान् घोड़ा बन्धनों को तोड़कर आगे बढ़ता है। आजकल की भाषा में प्रयोग करते हैं कि 'रिकार्ड को बीट' कर गया। यही भाव 'काष्ठाः भिन्दन्' का है। यह सब उन्नतियों की सीमाओं को लाँघ जाता है।

भावार्थ—विनीत होकर ज्ञान को प्राप्त करते हैं। ज्ञान को प्राप्त करके हम सतत क्रियाशील बनते हैं। आशातीत उन्नति को प्राप्त करते हैं।

नोट—'आशा' शब्द का अर्थ दिशा भी होता है। मन्त्र में दिशा का पर्याय 'काष्ठा' शब्द प्रयुक्त हुआ है।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—अग्निः सूर्यो वाऽपो वा गावो वा घृतं वा॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥
स्वरः—धैवतः॥

ज्ञानी की कर्त्तव्यपरायणता

अभि प्रवन्त समनेव योषाः कल्याण्य१ः स्मयमानासो अग्निम्।
घृतस्य धाराः समिधो नसन्त ता जुषाणो हर्यति जातवेदाः॥ ८॥

(१) **समना**=समान मनवाली **योषाः**=स्त्रियाँ **कल्याण्यः**=कल्याण को करनेवाली **स्मयमानासः**=मुस्कराती हुईं **इव**=जैसे पति को प्राप्त होती हैं, इसी प्रकार ये कल्याणी **घृतस्य धाराः**=ज्ञानदीप्ति की धाराएँ **अग्निम्**=इस प्रगतिशील विद्यार्थी को **अभिप्रवन्त**=आभिमुख्येन प्राप्त होती हैं। (२) इस विद्यार्थी को **समिधः**=‘इयं समित् पृथिवी द्यौर्द्वितीयो चान्तरिक्षं समिधा पृणाति’ ‘पृथिवी, अन्तरिक्ष व द्युलोक की ज्ञानरूप तीन समिधाएँ’ **नसन्त**=व्याप्त करती हैं। **ताः**=इन समिधाओं को-ज्ञानदीप्तियों को **जुषाणः**=प्रीतिपूर्वक सेवन करता हुआ **जातवेदाः**=विकसित ज्ञानवाला व्यक्ति **हर्यति**=(हर्य गतिकान्त्योः) इच्छापूर्वक-दिल से कर्त्तव्यकर्मों में प्रवृत्त होता है।

भावार्थ—ज्ञान को प्राप्त करके यह ज्ञानी पुरुष इच्छापूर्वक कर्त्तव्यकर्मों में प्रवृत्त होता है, इन कर्त्तव्यों को करने में ही आनन्द लेता है।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—अग्निः सूर्यो वाऽपो वा गावो वा घृतं वा॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥
स्वरः—धैवतः॥

वेदवाणी द्वारा ‘यज्ञशील सोमी’ पुरुष का वरण

कन्याइव वहतुमेतवा उ अञ्ज्यञ्जाना अभि चाकशीमि।
यत्र सोमः सूयते यत्र यज्ञो घृतस्य धारा अभि तत्पवन्ते॥ ९॥

(१) **कन्याः**=कन्याएँ जैसे **वहतुम्**=पति को **एतवा**=प्राप्त होने के लिए **उ**=निश्चय से **अञ्जि**=आभरणों को **अञ्जानाः**=अलंकृत करती हुई होती हैं, इसी प्रकार मैं इन **घृतस्य धाराः**=ज्ञानधाराओं को पतिरूप इस युवक को प्राप्त होने के लिये अलंकृत होता हुआ **अभि चाकशीमि**=देखता हूँ। (२) ये **घृतस्य धाराः**=ज्ञान की धाराएँ **तत् अभि पवन्ते**=उसकी ओर प्राप्त होती हैं, **यत्र**=जहाँ **सोमः**=सोम (वीर्यशक्ति) **सूयते**=सम्पादित होता है और **यत्र यज्ञः**=जहाँ यज्ञादि उत्तम कर्म होते हैं। सुरक्षित सोम ही तो ज्ञानाग्नि का ईंधन बनता है और यज्ञादि कर्मों में लगे रहना सोमरक्षण का साधन बनता है। इस यज्ञशील सोमरक्षक पुरुष को ही ये घृतधाराएँ पति के रूप में बहती हैं। ये पति होते हैं, वेदवाणी इनकी पत्नी ‘परीमे गामनेषत’।

भावार्थ—हम सोम का रक्षण करें और यज्ञादि कर्मों में प्रवृत्त हों। ऐसा होने पर वेदवाणी हमें पतिरूप से वरेगी।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—अग्निः सूर्यो वाऽपो वा गावो वा घृतं वा॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥
स्वरः—धैवतः॥

देवसम्पर्क व ज्ञानवृद्धि

अभ्यर्षत सुष्टुतिं गव्यमाजिमस्मासु भद्रा द्रविणानि धत्त।
इमं यज्ञं नयत देवता नो घृतस्य धारा मधुमत्पवन्ते॥ १०॥

(१) **सुष्टुतिम्**=उत्तम स्तवन की **अभि**=ओर **अर्षत**=गतिवाले होओ-स्तवन में प्रवृत्त होओ। **गव्यम्**=(गावः इन्द्रियाणि) इन इन्द्रियों सम्बन्धी **आजिम्**=संग्राम को प्राप्त होओ-इन्हें विषय-वासनाओं से पराजित मत होने दो। इस प्रकार **अस्मासु**=हमारे में **भद्रा द्रविणानि**=कल्याणकर धनों को **धत्त**=धारण करो। (२) इसलिए **इमम्**=इस **नः यज्ञम्**=हमारे जीवनयज्ञ को **देवता नयत**=देवों के प्रति प्राप्त कराओ। हमारा जीवन-यज्ञ मातृरूप देव को प्राप्त करे-इससे हमें चरित्र का शिक्षण मिले। पुनः पितृदेव को प्राप्त करके सदाचार को हम सीखें। आचार्य देवों के सान्निध्य से हम ज्ञानपरिपूर्ण हों। अतिथि देवों के सान्निध्य से जीवनयात्रा में निरन्तर आगे और आगे

बढ़ें। परमात्म देव को प्राप्त कर शान्ति लाभ करें। इस प्रकार जीवन-यज्ञ में देवों का सम्पर्क होने पर **घृतस्य धाराः**=ज्ञानदीप्ति के प्रवाह **मधुमत्**=अत्यन्त माधुर्य के साथ हमें **पवन्ते**=प्राप्त होते हैं।

भावार्थ—उत्तम स्तुति व अध्यात्म-संग्राम (विषयों से इन्द्रियों को पृथक् करने के संग्राम) द्वारा हम कल्याण कर धनों को प्राप्त करें। देवों के सम्पर्क में आकर ज्ञान को निरन्तर बढ़ाएँ।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—अग्निः सूर्यो वाऽपो वा गावो वा घृतं वा॥ छन्दः—स्वराट्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—गान्धारः॥

ज्ञान किसे प्राप्त होता है?

धामन्ते विश्वं भुवनमधि श्रितमन्तः समुद्रे हृद्य१न्तरायुषि।
अपामनीके समिथे य आभृतस्तमश्याम मधुमन्तं त ऊर्मिम्॥ ११॥

(१) हे प्रभो! **ते धामनि**=आपके तेज में **विश्वं भुवनम्**=सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड **अधिश्रितम्**=आश्रित हुआ-हुआ है। हम **ते**=आपके **मधुमन्तम्**=माधुर्यवाले-जीवन को मधुर बनानेवाले **ऊर्मिम्**=ज्ञानप्रकाश को **अश्याम**=प्राप्त करें। (२) **तम्**=उस ज्ञान के प्रकाश को प्राप्त करें, **यः**=जो कि **समुद्रे हृदि अन्तः**=(स-मुद्) प्रसन्नतावाले हृदय के अन्दर **आभृतः**=धारण किया गया है। **आयुषिः**=गतिशील जीवन में जो धारण किया गया है। **अपाम्**=शरीरस्थ रेत:कणों के **अनीके**=बल में जो धारण किया गया है, रेत:कणों के रक्षण के होने पर जो प्राप्त होता है, इन रेत:कणों ने ही तो ज्ञानाग्नि का ईंधन बनना होता है। **समिथे**=संग्राम में जो धारण किया गया है। अध्यात्म-संग्राम में काम-क्रोध आदि पर विजय प्राप्त करके जिसे पाया जाता है।

भावार्थ—प्रभु ही सर्वाधार हैं। हमें प्रभु का वह ज्ञान प्राप्त हो, जो कि प्रसन्न हृदयवाले पुरुष को, गतिशील जीवनवाले को, सोमरक्षक व अध्यात्म-संग्राम विजेता को प्राप्त होता है।

इस ज्ञान को प्राप्त करनेवाला व्यक्ति 'बुध' बनता है। यह ज्ञान की वाणियों में स्थिर होने से 'गविष्ठिर' कहलाता है। पञ्चम मण्डल का प्रारम्भ इन ऋषियों के सूक्त से ही होता है। ये आत्रेय हैं ज्ञान के कारण 'काम-क्रोध-लोभ' इन तीनों से ऊपर उठे हुए हैं। ये अपने जीवन मात्र को निरन्तर आगे बढ़ाते हुए 'अग्नि' होते हैं। अग्नि ही इस प्रथम सूक्त का देवता है।

इति चतुर्थं मण्डलम्॥